अन्वयार्थ—श्रीकृष्ण भगवान् बोले कि हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म बीत चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ। हे अर्जुन ! तू नहीं जानता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—"श्रीकृष्णजी ईश्वर और सर्वज्ञ नहीं, किंतु मनुष्य के समान जन्म लेनेवाले अल्पज्ञ और परिच्छिन्न जीव हैं," ऐसा जो अज्ञानी पुरुषों को अनुमान और संदेह हो रहा था जिसके कारण अर्जुन को भी उनका उक्त कथन समझ में नहीं आया था। इस संदेह और भ्रम को दूर करने के निमित्त भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! तेरे और मेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, पर तू हे शत्रुओं के सतानेवाले (अर्जुन) ! अविद्या-उपाधि करके परिच्छिन्न और अल्पज्ञ है, इसलिए तू इन सब जन्मों को नहीं जानता; और मैं अपनी माया-उपाधि करके नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य स्वभाव हूँ, जिससे उन सबको जानता हूँ ॥ ५ ॥ *

संबंध—और यदि यह कहा जाय कि जब मैं अपरिच्छिन्न और सर्वज्ञ ईश्वर हूँ, तो फिर यह जन्म कैसे ? तो—

---

* इस श्लोक से दो बातें स्पष्ट होती हैं—(१) यह जीव अविनाशी तो है, परंतु प्रारब्ध कर्मों से बारम्बार चोला बदलता है। पुराना चोला छोड़कर जब नया लेता है, तो पुराने को भूल जाता है, कारण यह है कि जीवात्मा पर अज्ञान अथवा अविद्या का परदा पड़ा होता है, जिससे उसे पहला चोला वा जन्म प्रायः भूला रहता है। (२) परंतु ईश्वर न केवल अविनाशी और सर्वज्ञ ही है बल्कि अपनी माया से अवतार लेता अर्थात् चोला धारण करता है, जिससे वह अपने और दूसरों के सारे (अगले-पिछले) जन्मों को जानता है, क्योंकि वहाँ अविद्या का परदा नहीं है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अजः, अपि, सन्, अव्यय-आत्मा	अजन्मा और अविनाशी आत्मा होते हुए भी	प्रकृतिं, स्वां, अधिष्ठाय	अपनी प्रकृति को आश्रय करके
भूतानां. ईश्वरः, अपि, सन्	भूतों का ईश्वर होता हुआ भी	सम्भवामि, आत्म-मायया	अपनी माया से उत्पन्न होता हूँ

अन्वयार्थ—अजन्मा, अविनाशी आत्मा और भूतों का ईश्वर *

---

* वास्तव में ईश्वर-जीव में कोई भेद नहीं, दोनों निज स्वरूप से अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव हैं। परंतु उपाधि-भेद से उनमें यह अंतर है कि ईश्वर मायोपाधि करके स्वतंत्र, नित्य, मुक्त, सर्वज्ञ, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। जीव अविद्या की उपाधि करके परतंत्र, बद्ध, अल्पज्ञ, कर्माधीन, असत्यकाम और असत्यसंकल्प है। यह वेद-शास्त्र का निर्णीत सिद्धांत है, इसलिए जीव तो प्रारब्ध-भोग के वश में आकर देहादि का ग्रहण और त्याग करता है, और ईश्वर अपने पूर्व कर्मों के अधीन होकर नहीं बल्कि अपनी इच्छा से अपनी प्रकृति को अपने वश में रखते हुए कोई विशेष कार्य करने के लिए अथवा भक्तों और धर्म की रक्षा करने के लिए मनुष्य-लोक में अवतार लेता है। अर्थात् इसका जन्म (देह धारण करना) साधारण पुरुषों का सा नहीं होता (कि जो अपने प्रारब्ध कर्मों से बँधे हुए, कामना के जाल में फँसे हुए अपने कर्मों के फल भोगने के लिए उत्पन्न होते हैं) बल्कि अपनी इच्छा के अनुसार प्रकृति के भंडार में से सब मसालह और शक्तियाँ लेकर होता है। (इसका विस्तारपूर्वक वर्णन प्रस्तावना में देखो)

होते हुए भी मैं अपनी प्रकृति को आश्रय करके अपनी माया * से उत्पन्न होता हूँ ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! वास्तव में यद्यपि मैं जन्मरहित और नाशरहित स्वभाव हूँ, और सब स्थावर-जंगम भूतों का ईश्वर (मालिक) भी हूँ, परंतु मायोपाधि से मैं ईश्वर अपनी प्रकृति (जो त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया है, जिसके वश में सब जगत् वर्त रहा है, और जिससे मोहित हुआ जीव अपने आपको वासुदेव

---

* माया ईश्वर की उस आश्चर्यरूप शक्ति को कहते हैं कि जो अपने मालिक (ईश्वर) के आश्रय होकर सारी सृष्टि को रचती और मोहती है, और उसी को कई स्थान पर त्रिगुणात्मिक प्रकृति कहा गया है।

श्रीरामानुज के अनुसार माया शब्द के अर्थ यहाँ ज्ञान के हैं। जैसे—"मायावयुनं ज्ञानमिति ज्ञानपर्यायोत्र माया शब्दः।"=माया, वयुन, ज्ञान, ये एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं। अर्थात् माया उस ज्ञान विशेष का नाम है कि जो किसी वस्तु के बनाने से पहले दिमाग़ (मस्तिष्क) में चित्र (design) के आकार खींचा जाता है। श्रीकृष्ण ने अपनी स्वतंत्रता से अपने सत्यसंकल्प द्वारा आप ही अपने दिमाग़ में अपने जन्म-कर्म का चित्र (नक़्शा) खींचकर तदनुरूप जन्म लिया है, इसलिए "आत्ममायया" कहा है।

तात्पर्य यह है कि प्रथम चैतन्य शक्ति बहुत नीचे काम करती है और फिर चढ़ते-चढ़ते ऊपर-ऊपर चली जाती है। स्थूल से लेकर सूक्ष्म प्रकृति तक जब चैतन्य शक्ति सारा मार्ग तै कर लेती है, तब सारे लोकों, सब शक्तियों और मोक्षपद का पुरुष को पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है। जो महात्मा शरीर के होते हुए ही इस अवस्था में पहुँच जाते हैं, वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। पातंजल दर्शन में लिखा है कि ईश्वर भी एक पुरुष है कि जिसका अन्य पुरुषों से यह भेद है कि वह नित्य शुद्ध-मुक्त स्वभाव है, न वह कभी कर्मबद्ध हुआ, न है, और न होगा। और अन्य पुरुष अभी कर्मबद्ध हैं,

स्वरूप नहीं जानता बल्कि जन्म-मरणरूप संसार में भ्रमता रहता है, उस) को आश्रय करके, अर्थात् उसके अधीन होकर नहीं

पर भविष्यत् में ज्ञान पाकर मुक्त होंगे । जो जीवन्मुक्त हैं, वे पहले बद्ध थे, अब मुक्त हैं । जब ये शरीर को छोड़ते हैं, तो इनके व्यष्टि प्राण ईश्वर के समष्टि प्राणों में लीन हो जाते हैं, और वे फिर स्वतः सत्यकाम सत्यसंकल्प हो जाते हैं । अर्थात् वे तब सर्वशक्तिमान् हो जाते हैं, जो चाहते हैं करते हैं । इस अवस्था को प्राप्त होकर यदि वे अपने निज स्वरूप (सच्चिदानंद परब्रह्म) में लीन होना चाहते हैं, तो उसी में लीन हुए शुद्ध ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं; और यदि धर्म वा धार्मिक पुरुषों की रक्षार्थ अथवा परोपकारार्थ पुनः देह धारण करना चाहते हैं, तो झट अपने सत्यसंकल्प से अपनी माया द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक शरीर को रच लेते हैं । वे अवतार कहलाते हैं । अर्थात् वे पुरुष ही ईश्वररूप होकर पुनः सत्य-काम और सत्यसंकल्प से कोई विशेष कर्म पूरा करने के लिए इस मनुष्य-लोक में अवतार लेते (देह धारण करते) हैं । इनका अवतार (जन्म) मायामात्र होता है, किसी कर्म के बंधन वा भ्रम के कारण नहीं, और न उन पुरुषों के समान ही होता है कि जो अभी कर्मबद्ध हैं और प्रारब्ध के अधीन हुए तथा कामरूप जाल में फँसकर अपने कर्मफल भोगने के लिए उत्पन्न होते हैं ।

इसलिए श्रुति में आया है कि "अजायमानो बहुधा विजायते ।"

अर्थात् उत्पन्न न होकर भी अनेक रूप से प्रकट होते हैं । यही विषय स्मृति शास्त्र में ऐसे आया है—

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥"

अर्थ—श्रीकृष्ण साक्षात् आत्माओं के आत्मा अर्थात् परमात्मास्वरूप हैं । जगत् के हित के लिए माया को आश्रय करके ये देहवान् की तरह दीखते हैं ।

पुराणों में आया है कि भगवान् का ऐसा शरीर धारण प्रायः दो

किंतु उसे अपने वश में करके उत्पन्न हुए देहवान् के सदृश प्रकट होता हूँ; और वह भी कर्माधीन वा परतंत्र रूप से नहीं, बल्कि अपनी माया से और अपनी ही इच्छा से प्रकट होता हूँ ॥ ६ ॥*

प्रकार से होता है—एक अचानक किसी रूप में प्रकट होना जैसा कि नृसिंहावतार का, दूसरा—क्रमोन्नत किसी शरीर के द्वारा भगवत्-कला का आंशिक या पूर्ण विकास, जैसा कि महाभारत के वनपर्व के १२वें अध्याय में श्रीकृष्णचंद्रजी ने कहा है—

"नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम् ।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी ॥"

अर्थ—हे वीर अर्जुन ! तुम पूर्व जन्म में नर थे और मैं नारायण था। अब इस जन्म में श्रीकृष्णरूप से मेरा जन्म और अर्जुनरूप से तुम्हारा जन्म हुआ है।

फिर मोक्षधर्म में भगवान् ने नारद के प्रति कहा कि—

"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद !
सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥"

अर्थ—हे नारद ! जिस मेरे शरीर को तू अपने नेत्रों से देखता है, वह मेरा शरीर मेरी माया से रचा हुआ है। पर मुझ सर्वभूत गुणों से युक्त को तू नहीं देख सकता।

* प्रसिद्ध महाशय तिलकजी उक्त श्लोक ६ पर ऐसे व्याख्या करते हैं—"इस श्लोक के अध्यात्मज्ञान में कापिल सांख्य और वेदांत दोनों ही मतों का मेल कर दिया गया है। सांख्य-मतवालों का कथन है कि प्रकृति आप ही स्वयं सृष्टि निर्माण करती है; परंतु वेदांती लोग प्रकृति को परमेश्वर का ही एक स्वरूप समझकर यह मानते हैं कि प्रकृति में परमेश्वर के अधिष्ठित होने पर प्रकृति से व्यक्त सृष्टि निर्मित होती है। अपने अव्यक्त स्वरूप से सारे जगत् को निर्माण करने की परमेश्वर की इस अचिंत्य शक्ति को ही गीता में 'माया' कहा है। और इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ऐसा वर्णन है—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं

संबंध—फिर मेरा वह जन्म (देह-धारण) कब होता है ? उसे भगवान् अब कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

यदा[२], यदा[२], हि[१], धर्मस्य[४], ग्लानिः[५], भवति[६], भारत[३]	निः[१]संदेह जब[२]-जब[२] हे अर्जुन[३] ! धर्म[४] की ग्लानि[५] होती[६] है	अभ्युत्थानं[२], अधर्मस्य[१]	अधर्म[१] की वृद्धि[२]
		तदा[१], आत्मानं[३], सृजामि[४], अहं[२]	तब[१] मैं[२] अपने[३] आपको रचता[४] हूँ

अन्वयार्थ—-निःसंदेह जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब, हे अर्जुन ! मैं अपने आपको रच लेता हूँ ॥७॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! वैसे तो मेरे जन्म लेने में काल का कोई नियम ही नहीं, पर हाँ, जिस समय धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म बढ़ता है, अर्थात् जिस समय लोग अपना कर्त्तव्य-पालन करना छोड़ बैठते हैं (किंतु दिन-रात अनर्थ करने पर तत्पर रहते हैं), जिससे अधर्म की वृद्धि होती जाती है; ठीक उस समय मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ, अर्थात् तब मैं अपने आपको अपनी माया से एक देह में निःसंदेह रच लेता हूँ ॥ ७ ॥ *

तु महेश्वरम् ।' अर्थात् प्रकृति ही माया है, और उस माया का अधिपति परमेश्वर है (श्वे० ४, १०), और 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्'= इससे माया का अधिपति सृष्टि उत्पन्न करता है (श्वे० ४, ९) ।....... अब भगवान् इस बात का खुलासा करते हैं कि वह (परमेश्वर) ऐसा कब और किसलिए करता है ।"

* यही सिद्धांत महाभारत (३, १८९, २८-२९ और ३१) में ऐसे वर्णित है—

संबंध—"यह अवतार क्यों लेता हूँ ?" इसे भगवान् अब कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

परित्राणाय[2], साधूनां[1]	साधुओं[1] (भलों) की रक्षा[2] के लिए	धर्म[1]-संस्थापने[2]-अर्थाय[3]	धर्म[1] की स्थापना[2] के[3] लिए
विनाशाय[3], च[1], दुष्कृतां[2]	और[1] [2]दुःष्टों के नाश[3] के लिए	सम्भवामि[2], युगे[1], युगे[1]	युग[1] युग[1] में मैं प्रकट[2] होता हूँ

"दैत्या हिंसानुरक्ताश्च अवध्याः सुरसत्तमैः ।
राक्षसाश्चापि लोकेऽस्मिन्यदोत्पत्स्यन्ति दारुणाः ॥ २८ ॥
तदाऽहं संप्रसूयामि गृहेषु शुभकर्मणाम् ।
प्रविष्टो मानुषं देहं सर्वं प्रशमयाम्यहम् ॥ २९ ॥"

अर्थ—जब भयानक और हिंसक दैत्य और राक्षस इस पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं, जिन्हें प्रधान देवता भी नहीं मार सकते, तब मैं धर्मात्माओं के कुल में जन्म लेता हूँ और मनुष्य-शरीर धारण करके शांति स्थापित करता हूँ ।

"कर्मकाले पुनर्देहमविचिन्त्यं सृजाम्यहम् ।
आविश्य मानुषं देहं मर्यादाबन्धकारणात् ॥ ३१ ॥"

अर्थ—जब समय आता है, मैं आप ही जन्म लेता हूँ और धर्म व नीति की रक्षा के लिए मैं मनुष्य-शरीर को धारण करता हूँ ।

श्रीभागवत (९, २४, ५६) में यह विषय इस प्रकार वर्णित है—

"यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः ।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः ॥"

अर्थ—जब-जब धर्म का नाश और पाप की वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् ईश्वर वा हरि आप अवतार लेते हैं ।

अन्वयार्थ—साधुओं की रक्षा के लिए और दुष्टों के नाश के लिए मैं युग-युग में धर्म की स्थापनार्थ प्रकट होता हूँ ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! मेरा अवतार लेना कोई निरर्थक नहीं, किंतु जो साधु स्वभाव, भले पुरुष वा धर्मात्मा हैं, उनकी तो रक्षा के लिए और जो दुराचारी (दुष्टात्मा) हैं उनके नाश के लिए प्रति युग में मैं केवल धर्म * को भले प्रकार स्थापन करने के लिए अपनी ही माया से आप अवतार लेता हूँ, अर्थात् देह धारण करता हूँ ॥ ८ ॥

संबंध—भगवान् कृष्णचंद्र के इन दिव्य मायारूपों और कर्मों को जाननेवाले पुरुष की अंतिम गति को भगवान् अब वर्णन करते हैं—

---

* इन दोनों (७, ८) श्लोकों में "धर्म" शब्द का अर्थ केवल वैदिक वा पारलौकिक धर्म ही नहीं, किंतु चारों वर्णों के धर्म, न्याय और नीति-धर्म भी इसमें समावेश होते हैं। श्लोक का तात्पर्य यह है कि जगत् में जब अन्याय, अनीति, दुष्टता और अँधाधुंधी मच जाने से साधु लोगों को कष्ट होने लगता है, और जब दुष्टों का दबदबा बढ़ जाता है, तब अपने निर्माण किये हुए जगत् की सुस्थिति को स्थिर रखकर उसके कल्याणनिमित्त तेजस्वी और पराक्रमी पुरुष के रूप से (गी० १०, ४१) अवतार लेकर भगवान् समाज की बिगड़ी हुई व्यवस्था को फिर ठीक कर दिया करते हैं। इस रीति से अवतार लेकर भगवान् जो काम करते हैं, उसी को "लोकसंग्रह" भी कहते हैं। (श्रीतिलक महाराज)

आजकल भी जो दुष्टता की वृद्धि हो रही है, और अपनी नीच वा केवल लौकिक कामनाओं के लिए साधु लोगों को दुःख दिया जा रहा है, जिससे दुष्टों का दबदबा बढ़ रहा है, इससे भी स्पष्ट होता है कि या तो ईश्वर का अवतार हो गया है, या होनेवाला है। और इसीलिए थियासोफ़िकल सुसाइटी वा अन्य मत-मतांतरों के लोग अवतार के आगमन का शोर मचाते सुनाई दे रहे हैं। (टीकाकार)

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

जन्म^{3}, कर्म^{5}, च^{4}, मे^{1}, दिव्यं^{2}	मेरे^{1} दिव्य^{2} जन्म^{3} और^{4} कर्म^{5} को
एवं^{2}, यः^{1}, वेत्ति^{4}, तत्त्वतः^{3}	जो^{1} इस^{2} प्रकार तत्त्व^{3} से जानता^{4} है
त्यक्त्वा^{2}, देहं^{1}, पुनः^{3}, जन्म^{4}, न^{5}, एति^{6}, मां^{8}, एति^{9}, सः^{7}, अर्जुन^{10}	देह^{1} को त्याग^{2} कर फिर^{3} जन्म^{4} को नहीं^{5} प्राप्त^{6} होता, वह^{7} मुझको^{8} प्राप्त^{9} होता है, हे अर्जुन^{10} !

अन्वयार्थ—मेरे ऐसे दिव्य * जन्म और कर्म को जो तत्त्व से जानता है, वह देह को त्याग कर, हे अर्जुन ! फिर जन्म को नहीं पाता, (बल्कि) मुझको ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! ऐसे मेरे दिव्य (अलौकिक व असाधारण या स्वेच्छाकृत) जन्म को और (भक्तों की रक्षादि परानुग्रहमात्र) कर्म को जो पुरुष तत्त्व से अर्थात् यथार्थ वा ठीक-ठीक जानता है; अर्थात् जो यह जानता है कि "भगवान् स्वरूप से तो मुक्त स्वरूप वा शुद्ध ब्रह्म हैं, मायोपाधि से सृष्टि के कर्त्ता-हर्त्ता और धर्त्ता हैं, माया के मालिक होते हुए फिर माया से ही अवतार लेकर धर्म-संस्थापन करते हैं।" वह शरीर को छोड़कर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझको ही प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि जिसको मेरे स्वरूप का, मेरे नाना दिव्य रूपों में

---

* दिव्य (अलौकिक वा असाधारण) जन्म-कर्म इसलिए हैं कि अभी और सारी मनुष्य जाति उस अवस्था को नहीं पहुँची जिसे जीवन्मुक्ति की वा ईश्वररूपी अवस्था कह सकें। और ऐसे जन्म-कर्म उस पुरुष के होते हैं जो ईश्वररूप हो चुका है, अथवा ईश्वरावस्था में स्थित है, मनुष्यावस्था अथवा जीव की अवस्था में वे नहीं होते।

प्रकट होने का तथा धर्म-संस्थापनार्थ मेरे दिव्य कर्मों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, वह तत्त्ववेत्ता होने से मरकर पुनः वापस नहीं लौटता बल्कि मुझ ईश्वर को ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

संबंध*-- (१) केवल मेरे दिव्य जन्म-कर्म को यथार्थ जाननेवाला पुरुष तो मुझको प्राप्त होता है, पर जो मेरे तद्रूप होते हैं, अर्थात् मेरा स्वरूप ही हो जाते हैं, उनके विषय में भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) केवल मेरे दिव्य जन्म-कर्म को यथार्थ जाननेवाला पुरुष ही नहीं किंतु अन्य प्रकार से भी जो मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए हैं, उनका भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (३) जगत् के उद्धार में प्रवृत्त अन्य मुक्त पुरुष भी हैं जो मेरा ही स्वरूप हो चुके हैं। इस आशय को भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (४) मेरे दिव्य जन्म-कर्म को जाननेवाले पुरुष जिस रीति से मुझ सच्चिदानंदस्वरूप को (अर्थात् मोक्ष को) प्राप्त होते हैं, उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (५) यह नई बात नहीं है, क्योंकि पहले भी ऐसे बहुत से मुक्त हुए मेरे भाव को प्राप्त हो चुके हैं, इस भाव को भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

---

* पाँचों संबंध भिन्न-भिन्न विचार से यहाँ ठीक बैठ सकते हैं, इसलिए पाँचों ही यहाँ दे दिये गये हैं।

वीत[१]-राग[२]-भय[३]-क्रोधा[४]ः	दूर[१] हुए राग[२], भय[३], क्रोध[४]वाले, अर्थात् राग[२], भय[३] और क्रोध[४] से शून्य[१]
मत्[१]-मया[२]ः, मां[३], उपाश्रिता[४]ः	मुझ[१] से भरे[२] हुए और मेरे[३] आश्रित[४] हुए
बहवः[१], ज्ञान[२]-तपसा[३],※ पूता[४]ः	बहुत[१] ज्ञान[२]-तप[३] से शुद्ध[४] हुए
मत्-भावं[२], आगता[३]ः	मेरे[१] भाव[२] का पहुँचे[३] हुए

अन्वयार्थ---राग, भय और क्रोध से शून्य, मुझसे भरे हुए, मेरा ही आश्रय लिये हुए, और ज्ञानरूप तप से शुद्ध हुए बहुत से पुरुष मेरे भाव † को प्राप्त हुए हैं ॥ १० ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! मेरे दिव्य जन्म-कर्म को पूरा-पूरा जाननेवाले तो मुझे, अर्थात् मेरे समीप वा मेरे लोक को ही प्राप्त होते हैं, परंतु बहुत से पुरुष जो राग-भय-क्रोध से शून्य हैं, अर्थात् जिनको न किसी में मोह है, न किसी से भय है और न किसी पर क्रोध है, जो मुझसे भरे हुए हैं, अर्थात् मेरी प्रीति, निश्चय वा ध्यान में मग्न व लीन हैं, जो मेरा ही आश्रय लिये हुए हैं, अर्थात् जो बात-बात में सर्वप्रकार से अपनी वृत्ति को मेरे ही आश्रय वा अर्पण किये रहते हैं, और जो ज्ञानरूप तप अर्थात् ज्ञानाग्नि से शुद्ध पवित्र हो चुके हैं; वे न केवल मुझे, अर्थात्

※ ज्ञानतपसा=ज्ञान के तप से वा ज्ञानाग्नि से (श्रीशंकराचार्य)। ज्ञान और तप से (आर्य-समाज के पं० राजाराम)।

† मेरे भाव=मोक्ष (श्रीशंकराचार्य)। मेरे सायुज्य (श्रीधर)। मुझमें प्रेम वा मेरा साक्षात्कार (बलदेव)। मेरे वास्तव स्वरूप को (टीकाकार)।

मेरे समीप वा विष्णुलोक को ही प्राप्त होते हैं किंतु मेरे वास्तविक स्वरूप को भी प्राप्त हो जाते हैं ॥ १० ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! केवल मेरे दिव्य जन्म-कर्म को जाननेवाला ही नहीं मुझे प्राप्त होता किंतु और बहुत से पुरुष जो राग-भय-क्रोध से शून्य, मुझसे भरे हुए, मेरे आश्रित और ज्ञानरूप तप से शुद्ध हुए होते हैं, वे भी मुझे वा मेरे भाव को प्राप्त होते हैं। अथवा बहुत से और भी हैं जो उक्त रीति से मेरा स्वरूप हुए जगत् के उद्धार में मेरे समान तत्पर हैं ॥ १० ॥

तीसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! जो लोग मेरे दिव्य जन्म-कर्म को जानकर मेरी ही ओर आते हैं, उनमें से फिर बहुत से पुरुष ऐसे होते हैं कि जो राग-भय-क्रोध से शून्य हुए, मेरे ही प्रेम वा ध्यान में पूर्ण युक्त होकर, मेरे ही आश्रय सब कुछ छोड़कर और मेरे ज्ञानरूप तप से (आत्मज्ञान और तप से) सर्वप्रकार से पूर्ण शुद्ध होते हुए मेरे वास्तव स्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं। अर्थात् सालोक्य मुक्ति को पाकर बहुत से पुरुष सारूप्य व सायुज्य मुक्ति पाते हुए अंत में कैवल्य मुक्ति को पा लेते हैं ॥ १० ॥ *

---

* विचित्र ढंग से श्रीतिलक महाराज ने उक्त श्लोक ९, १० पर ऐसे व्याख्या की है—"भगवान् के दिव्य जन्म को समझने के लिए यह जानना पड़ता है कि अव्यक्त परमेश्वर माया से सगुण कैसे होता है; और इसके जान लेने से अध्यात्मज्ञान हो जाता है, एवं दिव्य कर्म को जान लेने पर कर्म करके भी अलिप्त रहने का, अर्थात् निष्कामकर्म के तत्त्व का, ज्ञान हो जाता है। सारांश, परमेश्वर के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म को पूरा-पूरा जान लें, तो अध्यात्मज्ञान और कर्मयोग दोनों की पूरी-पूरी पहचान हो जाती है; और मोक्ष की प्राप्ति के लिए इसकी आवश्यकता होने के कारण ऐसे मनुष्य को अंत में भगवत्-प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती। अर्थात् भगवान् के दिव्य जन्म और दिव्य कर्म जान लेने में सब कुछ आ

संबंध—(१) जब राग-भय-क्रोध से रहित और भगवत्-परायण पुरुष को ही भगवान् के स्वरूप की प्राप्ति होती है, अन्य को नहीं, तो इसमें भगवान् का अपने भक्तों में राग और अभक्तों में द्वेष कहा जा सकता है। इस दोष की निवृत्ति के निमित्त भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) जो पुरुष राग-भय-क्रोध से शून्य भगवत्-परायण और ज्ञानाग्नि से शुद्ध हैं, उन्हें तो भगवान् के स्वरूप की ही प्राप्ति होती है। पर जो ऐसे नहीं हैं और नाना प्रकार की लिप्सा वा कामना से भगवत्-भजन करते हैं, उन्हें किस फल की प्राप्ति होती है? इस विषय में भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (३) अब उक्त ज्ञानवानों की अपेक्षा निचले दर्जे के उपासकों का फल आदि भगवान् वर्णन करते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥

ये[1], यथा[2], मां[3], प्रपद्यन्ते[4]	जो[1] जैसा[2] मुझे[3] प्राप्त[4] होते हैं	मम[4], वर्त्म[5], अनुवर्त्तन्ते[6], मनुष्याः[2], पार्थ[1], सर्वशः[3]	हे अर्जुन[1]! मनुष्य[2] सर्व[3] प्रकार से मेरे[4] मार्ग[5] पर चलते[6] हैं
तान्[1], तथा[2], एव[3], भजामि[5], अहं[4]	उनको[1] वैसा[2] ही[3] मैं[4] भजता[5] हूँ		

अन्वयार्थ—जो जैसा मुझे प्राप्त होते हैं, उनको वैसा ही मैं

गया; फिर अध्यात्मज्ञान अथवा निष्काम कर्मयोग दोनों का अलग-अलग अध्ययन नहीं करना पड़ता। अतएव वक्तव्य यह है कि भगवान् के जन्म और कृत्य का विचार करो, एवं उसके तत्त्व को परखकर वर्ताव करो; भगवत्-प्राप्ति होने के लिए दूसरा कोई साधन अपेक्षित नहीं है। भगवान् की यही सच्ची उपासना है। अब इसकी अपेक्षा नीचे के दर्जे की उपासनाओं के फल और उपयोग बतलाते हैं।"

भजता (सेवता) हूँ । हे अर्जुन ! सर्वप्रकार से मनुष्य मेरे मार्ग* पर चलते हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो मेरे परायण और ज्ञानाग्नि से शुद्ध हुए हैं, वे तो मेरे आत्मभाव को ही प्राप्त होते और सीधे मेरी ओर ही आ रहे होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है। पर जो अन्य अज्ञानी जन वा कामात्मा पुरुष हैं, वे यद्यपि सीधे मेरी ओर नहीं आते और न मरने के पीछे मेरे आत्मस्वरूप को ही प्राप्त होते हैं, तथापि सर्व व्यापारों में स्थित होने से मैं ही चूँकि उनकी कामनाओं, फलों, संकल्पों और मनों में स्थित हुआ होता हूँ, इसलिए वे सब पुरुष सर्वप्रकार से (येन केन उपाय से) सीधे

---

* "मेरे मार्ग" से दो अर्थ निकलते हैं—(१) वह मार्ग जो मेरी ओर आ रहा हो, अर्थात् जिस मार्ग से पुरुष भगवान् तक पहुँच सके। (२) वह मार्ग जो मुझसे बनाया गया वा रचा गया हो, अर्थात् जो मार्ग भगवान् से अपने स्वरूप के साक्षात्कार-निमित्त सबके लिए निर्माण किया गया हो। यहाँ प्रथम अर्थ ठीक बैठते हैं। परंतु दूसरे अर्थ भी नितांत अयुक्त नहीं होते हैं, क्योंकि जो मार्ग भगवान् तक पहुँचनेवाला होता है, वह भगवान् का ही रचा हुआ कहलाता है। कर्मयोग, ध्यानयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इत्यादि अपने मार्ग भगवान् ने गीता में कहे हैं। तीसरे अध्याय में भगवान् ने यद्यपि निष्कामकर्म की अधिक प्रशंसा की है, परंतु वैदिक (सकाम यज्ञादि) कर्मों का नितांत निषेध वा खंडन नहीं किया, क्योंकि सकामकर्म (वैदिक यज्ञादि) करते-करते ही पुरुष निष्कामकर्म करने के योग्य होता है, इसलिए निष्कामकर्म के योग्य बनानेवाला होने के कारण सकामकर्म (वैदिक यज्ञादि) भी भगवान् का मार्ग कहा जा सकता है। इसीलिए सर्वप्रकार के मार्गों को भगवान् ने अपना ही मार्ग कहा है, और उन पर चलनेवालों को अपनी ही ओर आनेवाला कहा है।

या टेढ़े मेरे मार्ग पर ही चल रहे होते हैं, अर्थात् मेरी ओर ही आ रहे होते हैं। इसीलिए जो जैसे मुझे प्राप्त होते हैं, अर्थात् जिस भावना, कामना वा इच्छा से, अथवा जिस अर्थ के लिए या जिस भाव से जो मेरे पास आते अर्थात् मेरा स्मरण वा ध्यान करते हैं, उनको वैसे ही मैं भजता हूँ, अर्थात् उनको वैसे ही फलों से मैं सेवता वा प्राप्त होता हूँ। तात्पर्य यह है कि जो जिस अभिप्राय से भगवान् की शरण लेता है, भगवान् उस पर वैसा ही अनुग्रह करते हैं। दुःखी के दुःख को दूर करते हैं; अर्थी के अर्थ को पूरा करते हैं; मुमुक्षु को ज्ञान, ज्ञानी को मोक्ष और जगत् का उद्धार करने की इच्छावाले को जगत् के उद्धार का सामर्थ्य देते हैं। इस प्रकार ज्ञानी तो ज्ञान से, कर्मी कर्म से और प्रेमी प्रेम से सब उनके ही मार्ग पर चलते हैं; क्योंकि ये सब उन्हीं के मार्ग हैं ॥ ११॥

संबंध—जब सब फल मुझ प्रभु से ही सब लोगों को प्राप्त होते हैं, और येन केन-रीति से सबको मेरे ही मार्ग पर चलना होता है, तो फिर सब लोग सीधे मेरी ही उपासना क्यों नहीं करते ? क्यों इधर-उधर टक्करें मारते हैं ? क्यों छोटे-छोटे देवी-देवता, शिवलिंग, भूत, प्रेत, मीरां, मदार आदि की उपासना करते हैं ? इसका कारण भगवान् अपने आप अब वर्णन करते हैं—

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त* इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

---

* "यजन्त इह" इस शब्द से स्पष्ट होता है कि देव-पूजा से अभिप्राय यहाँ यज्ञ-कर्म द्वारा ही देवताओं का आराधन है, जो यज्ञ-कर्म किसी न किसी लौकिक फल-निमित्त ही किये जाते हैं, और जिनका फल बहुधा इसी जन्म में यहीं प्रत्येक यज्ञी को प्राप्त हो जाता है। यद्यपि पारलौकिक फल के यज्ञ भी वेदों में वर्णित हैं, परंतु पुरुष की जब तक उदर-पूर्ति

कांक्षन्तः^{3}, कर्मणां^{1}, सिद्धिं^{2}	कर्मों^{1} की सिद्धि^{2} चाहते^{3} हुए	क्षिप्रं^{7}, हि^{1}, मानुषे^{2}, लोके^{3}, सिद्धिः^{6}, भवति^{8}, कर्म^{4}-जा^{5}	क्योंकि^{1} मनुष्य^{2} लोक^{3} में कर्म^{4}-जन्य^{5} सिद्धि^{6} शीघ्र^{7} होती^{8} है
यजन्ते^{3}, इह^{1}, देवताः^{2}	यहाँ^{1} देवताओं^{2} को पूजते^{3} हैं (यजन करते हैं)		

अन्वयार्थ—कर्मों की सिद्धि चाहते हुए यहाँ (लोग) देवताओं को पूजते हैं। क्योंकि मनुष्यलोक में कर्म-जन्य सिद्धि शीघ्र होती है ॥ १२ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन! निःसंदेह मैं सब फलों की प्रतिष्ठा हूँ; परंतु ऐसा होते हुए फिर भी लोग जो मुझे नहीं उपासते, बल्कि इंद्रादि देवताओं को पूजते हैं, उसका कारण यह है कि इस मनुष्यलोक में कर्म से उत्पन्न होनेवाली सिद्धि ज्ञान-जन्य सिद्धि की अपेक्षा बहुत जल्द प्राप्त होती है; और सर्वसाधारण लोग तो कामनाओं के ही जाल में फँसे हुए होते हैं जिससे किसी न किसी कर्म द्वारा वे अपनी-अपनी कामनाओं की ही सिद्धि चाहते हैं। ऐसे कर्मों द्वारा सिद्धि चाहनेवाले पुरुष जिस-जिस कर्म के लिए जो-जो देवता नियत हैं उन-उनको पूजते वा उपासते

इत्यादि कामनाओं की तृप्ति वा निवृत्ति नहीं हो लेती, तब तक पारलौकिक फलों की ओर उसकी वृत्ति नहीं जाती। तब तक पुरुष लौकिक फलों को ही चाहता रहता है। और इन (धन-धान्य, पुत्र-कलत्र, विभूति इत्यादि) लौकिक फलों की प्राप्ति-निमित्त अगणित यज्ञ वेदों में विस्तृत हैं (बल्कि वेद बहुधा इसी प्रकार के यज्ञों से भरपूर हैं), इसलिए पुरुष अपनी प्रत्येक लौकिक कामनाओं के लिए वैदिक यज्ञ करते हैं जिनमें देवताओं का आराधन करना होता है। इसीलिए भगवान् ने यहाँ कहा है कि कर्म-फल के चाहनेवाले यहाँ देवताओं की उपासना करते हैं।

हैं, सीधा मुझ ईश्वर को नहीं भजते, यद्यपि टेढ़ी रीति से वह भी मेरी ही उपासना वा पूजा है, क्योंकि वे देवता भी मेरे ही दूसरे रूप और मेरे ही आश्रय स्थित हैं ॥ १२ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि मैं सब फलों का दाता वा प्रतिष्ठा हूँ, तथापि लोग जो अन्य देवताओं ही की उपासना करते हैं और मुझ अपने आत्मस्वरूप की नहीं, उसका कारण यह है कि कर्म से उत्पन्न होनेवाली सिद्धि ज्ञानजन्य सिद्धि की अपेक्षा शीघ्र प्राप्त होती है, और एक दूसरे को प्रत्यक्ष दिखाई भी देती है। फिर कर्म का संबंध इंद्रियों वा स्थूल शरीर के साथ अधिक होता है, और ज्ञान का संबंध अंतःकरण वा सूक्ष्म शरीर के साथ अधिक होता है, जिससे एक दूसरे के बाह्य कर्म का फल तो सब लोगों को दीख जाता है, परंतु ज्ञान का फल अपने-अपने अंतःकरण में ही भान (अनुभव) होता है, दूसरों को दिखाई नहीं देता। और यह भी स्पष्ट है कि लोग बहुधा स्थूल शरीर में आसक्त अधिक होने से कामनाग्रस्त तो बहुत ही होते हैं, और विचारग्रस्त कोई विरला ही। इसलिए जिस-जिस इंद्रिय के कर्म से उनकी कामना पूर्ण होती है, उसी-उसी इंद्रिय (देव) की वे उपासना करते हैं, अर्थात् नाना प्रकार की ओषधियों वा भोजनों से उसी-उसी इंद्रिय (देवता) की वे पुष्टि करते हैं, दिन-रात इसी स्थूल शरीर के पुष्ट करने में तत्पर रहते हैं, मुझ अपने आत्मस्वरूप का तो ध्यान तक नहीं करते, और न अपने आत्मिक बल को वास्तव रूप से बढ़ाते ही हैं, यद्यपि इंद्रियों की पुष्टि वा पूजा भी टेढ़ी रीति से सब मेरी ही है, क्योंकि सब इंद्रियों वा शरीरों में मैं ही स्थित हूँ, और वे सब मेरे ही आश्रय स्थित हैं, बिना मेरे वे क्षणमात्र भी नहीं ठहर सकतीं ॥ १२ ॥

संबंध—(१) ऊपर जो कहा कि कर्म की सिद्धि के लिए लोग

देवताओं का यज्ञ करते हैं, पर यज्ञ वर्णाश्रम द्वारा हुआ करता है, और वर्णाश्रम सब भगवान् से ही रचे हुए हैं। तो ऐसी दशा में अनुमान हो सकता है कि जैसे भगवान् लोगों के कर्मों के फल-प्रदाता हैं, वैसे उन कर्मों के कर्त्ता भी होंगे, इस अनुमान की निवृत्ति स्वयं भगवान् अब ऐसे करते हैं—

अथवा (२) ऊपर कहा है कि कर्मों की सिद्धि के लिए लोग देवताओं का यज्ञ करते हैं। पर यज्ञ की पूर्ति चारों वर्ण द्वारा ही होती है, जो वर्ण और यज्ञादि कर्म भगवान् से ही लोगों के गुण-कर्मानुसार रचे गये हैं। इस रीति से अपने-अपने वर्णानुसार जो-जो भी कर्म अपने-अपने स्वभाव के वशीभूत होकर लोग करते हैं, उनका गुण-दोष भगवान् में ही माना जायगा (क्योंकि भगवान् ही उन वर्णों और वर्णों के कर्मों के रचनेवाले हैं)। इस आपत्ति वा दोष की निवृत्ति भगवान् अब ऐसे करते हैं—

अथवा (३) उक्त सभी यज्ञादि कर्म वर्णधर्म के अंतर्गत हैं, इसलिए वर्णधर्म-विज्ञान कहते हुए भगवान् उसके साथ अपना संबंध बताते हैं—

अथवा (४) ऊपर जो कहा कि धर्मसंस्थापनार्थ भगवान् अवतार लेते हैं, तो उस संस्थापनार्थ भगवान् और क्या-क्या करते हैं, उसे संक्षेप से भगवान् अब बतलाते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

चातुर्[४]-वर्ण्यं[५], मया[६], सृष्टं[७], गुण[१]-कर्म[२]-विभागशः[३]	गुण[१]-कर्म[२] के विभाग[३] से चारों[४] वर्ण[५] मुझसे[६] रचे[७] गये हैं	तस्य[१], कर्त्तारं[२], अपि[३], मां[४], विद्धि[७], अकर्त्तारं[६], अव्ययं[५]	उसका[१] कर्त्ता[२] होता हुआ भी[३] मुझे[४] अविनाशी[५] अकर्त्ता[६] तू जान[७]

पहला अन्वयार्थ—गुण-कर्म के विभाग से चारों वर्ण मुझसे रचे गये हैं। उसका कर्त्ता होता हुआ भी मुझे तू अविनाशी अकर्त्ता समझ ॥ १३ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—गुण-कर्म के विभागानुसार चारों वर्ण मुझसे रचे गये हैं। उसका तू मुझे कर्त्ता भी और अविनाशी अकर्त्ता भी समझ ॥ १३ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! निःसंदेह गुण-कर्म के विभाग से चारों वर्ण मुझसे रचे गये हैं। अर्थात् जिस मनुष्य में जैसा गुण देखा, उसी के अनुसार उसके कर्म नियत कर दिये गये, और उसका वैसा ही नाम रख दिया गया। जिसमें सत्त्वगुण की प्रधानता देखी, उसके शम, दम आदि कर्म नियत कर दिये गये, और उसका नाम ब्राह्मण रख दिया गया। जिसमें सत्त्वगुण गौण रूप से और रजोगुण प्रधान रूप से देखा, उसके प्रजापालन, पृथिवी-रक्षा और युद्ध करना आदि कर्म नियत कर दिये गये, और उसका नाम क्षत्रिय रख दिया गया। जिसमें रजोगुण गौण रूप से और तमोगुण प्रधान रूप से देखा, उसके खेती, पशुपालन, वाणिज्य, व्यापार आदि कर्म नियत कर दिये गये, और उसका नाम वैश्य रख दिया गया। जिसमें केवल तमोगुण की प्रधानता देखी, उसके लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (इन तीनों वर्णों) की सेवा करने का कर्म नियत कर दिया गया, और उसका नाम शूद्र रख दिया गया। इस प्रकार यद्यपि मैं (ईश्वर) ने ही ये सब वर्ण रचे हैं जिससे मैं इनका कर्त्ता कहलाता हूँ; तथापि तू, हे अर्जुन ! मुझे वास्तव रूप से अविनाशी-अकर्त्ता जान, क्योंकि मायोपाधि करके मैं इनके रचनेवाला होता हूँ, पर वास्तव (सच्चिदानंद) रूप से तो मैं रचता-रचाता कुछ भी नहीं हूँ ॥ १३ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! निःसंदेह मुझसे चारों वर्ण गुण-कर्म के विभाग (तफ़रीक़, भेद) से रचे गये हैं। अर्थात् जिस मनुष्य में जैसे-जैसे गुण, कर्म और स्वभाव देखे, तदनुसार उसका नाम रख दिया गया। जिसमें सत्वगुण की प्रधानता और उसके कारण, उसके सात्त्विक स्वभाव तथा शम, दम आदि कर्म देखे, उसका नाम ब्राह्मण रख दिया गया; जिसमें सत्त्वगुण गौण रूप से रजोगुण प्रधान रूप से और उस कारण उसके सत्त्वमिश्रित राजस स्वभाव तथा प्रजापालन, पृथिवी-रक्षा व युद्ध करना इत्यादि कर्म देखे, उसका नाम क्षत्रिय रख दिया गया; जिसमें रजोगुण गौण रूप से और तमोगुण प्रधान रूप से और उस कारण उसके रजोमिश्रित तामस स्वभाव तथा खेती, पशु-पालन, वाणिज्य, व्यापार आदि कर्म देखे, उसका नाम वैश्य रख दिया गया; जिसमें केवल तमोगुण की प्रधानता और उस कारण उसके तामस स्वभाव तथा उक्त तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) की सेवा करना इत्यादि कर्म देखे, उसका नाम शूद्र रख दिया गया। इस प्रकार यद्यपि मैं (ईश्वर) ने ही ये चारों वर्ण प्राणियों के अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभावानुसार रचे हैं (जिससे मैं इनका कर्त्ता कहलाता हूँ), तथापि वास्तव में मैं इनका कर्त्ता नहीं हूँ। क्योंकि आरंभ * में ये सब प्राणी एक

---

* महाभारत शांतिपर्व (१८८, १०—१३) में इन चार वर्णों के विषय में मुनि भरद्वाज के प्रश्न पर भृगु ऋषि ने ऐसे कहा है कि—"न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्" ॥ १० ॥ वर्णों का कोई भेद नहीं, क्योंकि यह सारा जगत् पहले ब्रह्माजी से ब्राह्मण जाति का ही रचा गया था, फिर कर्मों से वर्णता को प्राप्त हुआ। "कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः

ही अवस्था में थे; इनमें वर्ण इत्यादि का भेद नहीं था; ब्रह्मा से उत्पन्न होने के कारण सब प्राणी पहले ब्राह्मण ही कहलाते थे;

प्रियसाहसाः । त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः" ॥ ११ ॥ जिन द्विजों (ब्राह्मणों) को कामभोग प्यारा हो गया, उग्र स्वभाव और क्रोधी और जो बिना विचारे निर्भयता से कर्म करनेवाले तथा अपने धर्म को छोड़कर रक्तवर्ण हो गये, वे (ब्राह्मण) क्षत्रिय वर्ण को प्राप्त हुए "गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः । स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः" ॥ १२ ॥ जो गोवृत्ति में प्रवृत्त, पीतवर्ण, खेती से निर्वाह करनेवाले और अपने धर्म को त्यागनेवाले हुए, वे द्विज (ब्राह्मण) वैश्य वर्ण को प्राप्त हुए । "हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः । कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः" ॥ १३ ॥ जो (ब्राह्मण) हिंसा व झूठ से अनुरागी, लोभी, सब कर्मों से जीविका करनेवाले, पवित्रता से भ्रष्ट, अर्थात् शौचरहित, और कृष्णवर्ण हो गये, वे (द्विज) शूद्र वर्ण को प्राप्त हुए । इस प्रकार कर्मों की व्यवस्था से द्विज (ब्राह्मण) ही भिन्न-भिन्न वर्णों को प्राप्त हुए । आगे चलकर (अध्याय १८९ में) जब भरद्वाज ने वर्णों की पहचान के लिए उनके भिन्न-भिन्न धर्म सहित उनके लक्षणों के पूछे, तो भृगुजी बोले—कि जो पुरुष जात-कर्मादि संस्कारों से संस्कार किया हुआ, पवित्र, वेदाध्ययन-संपन्न, अपने छे कर्मों (स्नान-संध्या, जप, होम, देव-पूजा, अतिथि-पूजा और बलिवैश्वदेवपूजा) में सावधान, शौचाचार में स्थित, देवता और ब्राह्मणों से बचे हुए अन्नादि पर निर्वाह करनेवाला, गुरु में प्रीतिमान्, नित्य व्रत धारण करनेवाला, और सत्यपरायण है, वह ब्राह्मण कहलाता है । और जिसमें सत्य, दान, अद्रोह, अहिंसा, लज्जा, घृणा, (रहम, दया) और तप देखा जाता है, वह ब्राह्मण कहा जाता है । जो क्षात्र-धर्म-जन्य कर्मों को सेवन करता है, वेदाध्ययन में प्रवृत्त, दान देने और राज्य का कर लेने में आनंद लेता है, वही क्षत्रिय कहा जाता है । जो वाणिज्य, पशुरक्षा, खेती और दान देने में आनंद मानता है, पवित्र और

जब अपने-अपने आचरण (आचार, आहार और व्यवहार) से उन्होंने अपनी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ उत्पन्न कर लीं तब उनके

वेदाध्ययन-संपन्न है, वही वैश्य कहलाता है । जो सदैव सब वस्तुओं के भोजन में प्रीतिमान्, सर्व कर्मों का करनेवाला, अपवित्र, वेद-त्यागी, और आचाररहित है, वही शूद्र कहलाता है । यदि ब्राह्मण के गुण वा लक्षण शूद्र में दिखाई दें और ब्राह्मण में न पाये जायँ, तो ऐसी दशा में शूद्र शूद्र नहीं और ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं होगा, (१८९, १–८) । विष्णु-पुराण के अनुसार वर्णों का चलानेवाला सबसे पहले शौनक हुआ है जैसे—"गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्यप्रवर्तयिताऽभूत्"=गृत्समद का शौनक चारों वर्णों का चलानेवाला हुआ, (विष्णु० ४, ८, १०) । वर्णों के विभाग होने पर भी गुण-कर्म के अनुसार वर्ण का परिवर्तन होता रहा है, जैसे "पृषध्र अपने गुरु की गौ को मारने से शूद्र हो गया" (विष्णु० ४, १, १३) इत्यादि। और शांतिपर्व (१८८ । ८) तथा वनपर्व (३१२ । १०६—१०९; २११, ११, १२) में निचले वर्ण से ऊपर चढ़ना भी स्पष्ट कहा है। "शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः । वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च । आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते । गुणास्ते कथिताः सर्वे किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ।"=हे ब्रह्मन् ! शूद्रयोनि में उत्पन्न होकर भी सद्गुणों का अनुष्ठान करता हुआ पुरुष वैश्यत्व को और ऐसे ही क्षत्रियत्व को लाभ करता है । और सरलता में वर्तमान हुए के ब्राह्मणत्व उत्पन्न हो आता है । तुझे ये सारे गुण कह दिये हैं, अन्य क्या सुनना चाहता है ? और भागवत के कथनानुसार भी ब्राह्मणादि व्यवहार मुख्य गुण कर्म से ही हो सकता है, जैसा कि—"यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् । यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्"=जिसके वर्ण का प्रकाशक जो लक्षण कहा है, वह यदि अन्यत्र भी देखा जाय, तो उसको उसी वर्ण से पुकारना चाहिए, (भागवत० ७, ११, ३५) ।

अब यह समझ में नहीं बैठता कि जब ब्राह्मण नीच स्वभाव ग्रहण करने अथवा निषिद्ध कर्म करने से ब्राह्मणत्व से गिर जाता है, अर्थात् ब्राह्मण

भिन्न-भिन्न गुण, कर्म और स्वभाव हो गये; और उनके निज गुण-कर्म-स्वभावानुसार मैंने उनके भिन्न-भिन्न नाम रख दिये। इस

से क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हो जाता है, तो फिर निचली जाति के पुरुष उत्तम कर्म करने से ऊपर की उत्तम जातिवाले क्यों नहीं हो सकते? जहाँ गिरना है, वहाँ चढ़ना भी है, यह कहीं भी देखने में नहीं आया कि केवल गिरना ही गिरना हो, और चढ़ना न हो, या केवल चढ़ना ही चढ़ना हो, और गिरना न हो। जब ब्राह्मण अपने आचार और धर्म से भ्रष्ट होने से क्षत्रिय, वैश्य वा शूद्र जाति में गिना जा सकता है, तो वैश्य उत्तम आचार और ब्राह्मणों के धर्म-पालन करने से क्यों ब्राह्मण नहीं गिना जा सकता? यदि ऐसा कहा जाय कि ब्राह्मण अपने धर्म-विरुद्ध चलने से ब्राह्मण ही रहता है, (चाहे कैसा ही भ्रष्ट आचार वा धर्म करे, उसके ब्राह्मणत्व में फ़र्क़ नहीं आता), तब तो क्षत्रिय भी उत्तम कर्म करने से ब्राह्मण, और निषिद्ध कर्म करने से वैश्य नहीं हो सकता। ऐसी दशा में तो जो भी ब्राह्मण आज ईसाई-धर्म को ग्रहण कर ले, या मुसलमान हो जाय, तो उसे ब्राह्मण ही कहना चाहिए, और उसे वेद-अध्ययन का अधिकार इत्यादि वैसे ही दिया जाना चाहिए जैसा कि उसको जन्म से था। पर अधिकार तो दूर रहा, उस नवीन मत वा धर्म को ग्रहण करनेवाले ब्राह्मण के साथ आहार, व्यवहार, विवाह इत्यादि करना भी सब ब्राह्मण लोग छोड़ बैठते हैं, जिससे बर्ताव में उस नवीन मतानुयायी (वा धर्मी) को शूद्र से भी अधिक नीच वा अधम समझते हैं। जब किसी नवीन धर्म वा मत के अनुयायी तथा दुष्टाचारी ब्राह्मण के साथ उसके गुणकर्मानुसार शूद्रवत् बर्ताव किया जाता है, तब हमें कोई कारण नहीं दिखाई देता कि उन क्षत्रियों वा वैश्यों के साथ कि जो अत्यंत श्रेष्ठाचरण और धर्म में उन्नति कर रहे हों, उनके उत्तम गुणकर्मानुसार ब्राह्मणवत् बर्ताव क्यों न किया जाय। हाँ, इतना भेद अवश्य है कि जो जन्म और कर्म दोनों से ब्राह्मण है, वह तो सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण कहा जाना चाहिए। जो केवल कर्म से है, जन्म से नहीं, वह कर्म-श्रेष्ठ ब्राह्मण

प्रकार में उनमें गुण-कर्म-स्वभाव का डालनेवाला नहीं हुआ, किंतु उनके अपने स्वकृत गुणकर्मानुसार उनका वर्ण वा नाम नियत कहा जाना चाहिए। और जो केवल जन्म से ब्राह्मण है, और कर्म से नहीं, वह केवल नाम वा चाम का ब्राह्मण अर्थात् अत्यंत निकृष्ट ब्राह्मण ही गिना जाना चाहिए, और जो जन्म से ब्राह्मण होता हुआ भी अपने धर्म-कर्म से नितांत गिर गया है, वह तो नाम का ब्राह्मण भी नहीं बल्कि कुछ और ही वर्णवाला कहा जाना उचित है। इस प्रकार ब्राह्मणादि व्यवहार पूर्वजन्मकृत संस्कार तथा इस जन्म के गुण-कर्म-विभाग से प्रचलित है। (टीकाकार)

भारतधर्म-महामंडल के स्वामी दयानंदजी इस विषय पर अपने उच्च भाव, इस श्लोक की व्याख्या में, इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

“इस श्लोक के प्रथम चरण में वर्णधर्म का रहस्य बताया गया है, क्योंकि चार वर्ण के अनुसार ही ऊपर कथित सकाम-निष्काम यागयज्ञादि लोग करते हैं। वर्णधर्म के तत्त्व-वर्णन में श्लोकोक्त ‘सृष्टं’ पद विशेष विचार करने योग्य है। ‘मया सृष्टं’ अर्थात् मैंने बनाया, इससे यही तात्पर्य निकलता है कि पूर्वजन्मकृत गुणकर्मानुसार ही ब्राह्मणादि जाति बनती है। श्रीभगवान् पतञ्जलि ने भी योगदर्शन में कहा है—‘सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।’ अर्थात् पूर्व कर्म के अनुसार ही ब्राह्मणादि जाति, आयु तथा भोग प्राप्त होते हैं। सत्त्व, रज, तम प्रकृति के ये तीन गुण हैं, इनमें से सत्त्वगुणप्रधान प्राक्तन कर्मवाले ब्राह्मणवर्ण में उत्पन्न होते हैं, और उनमें शम-दमादि सत्त्वगुण के ही कर्म स्वाभाविक रूप से प्रकट होते हैं। रजःसत्त्वप्रधान प्राक्तन कर्मवाले क्षत्रियवर्ण में उत्पन्न होते हैं, और उनमें युद्ध राज्यशासनादि क्षत्रिय के ही कर्म स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जाते हैं। रजस्तमप्रधान प्राक्तन कर्मवाले वैश्यवर्ण में उत्पन्न होते हैं, और उनमें कृषि, वाणिज्यादि वैश्य जाति के ही कर्म स्वाभाविक रूप से प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार तमोगुणप्रधान प्राक्तन कर्मवाले शूद्रवर्ण में उत्पन्न होते हैं और उनमें सेवादि शूद्रजाति के कर्म स्वभावतः प्रकट हो जाते हैं। यही गुणकर्मानुसार चार वर्णों की व्यवस्था का रहस्य

करनेवाला अर्थात् रचनेवाला हुआ, जिससे मैं उन चारों वर्णों का कर्त्ता कहलाया; पर वास्तव में वर्णभेद तथा वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाव के कर्त्ता (वा उत्पन्न करनेवाले) वे लोग स्वयं थे। इसलिए हे अर्जुन! मैं यद्यपि इन चारों वर्णों का कर्त्ता कहलाता हूँ, पर तू मुझे सर्वदा अटल अकर्त्ता ही जान। और फिर गुण-कर्मानुसार जो मैं ये नाम रचता हूँ, वे भी मायोपाधि करके रचता हूँ, और वैसे अपने वास्तविक (सच्चिदानंद) रूप से तो

है। अतः जन्मकर्म दोनों के साथ वर्णधर्म का स्वाभाविक संबंध है, यही सिद्ध हुआ। महाभाष्य में भी लिखा है—

'तपः श्रुतश्च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मणकारणम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥'

अर्थ—तप अर्थात् कर्म, श्रुत अर्थात् ज्ञान और योनि अर्थात् जन्म ये तीन ब्राह्मण के लक्षण हैं। जिसमें कर्म तथा ज्ञान नहीं है, वह केवल जन्ममात्र से ब्राह्मण है, अर्थात् अधूरा ब्राह्मण है। ऐसा ही मनुसंहिता में भी लिखा है—

'यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥'

जिस प्रकार काठ का हाथी और चमड़े का मृग नाममात्र का कहलाता है, ऐसा ही ज्ञानकर्महीन ब्राह्मण, जाति ब्राह्मण मात्र ही है। मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र होने से एक वर्ण का मनुष्य दूसरे वर्ण का कर्म कर सकता है, किंतु गुण के साथ पूर्वजन्म का संबंध रहने से वह एकाएक नहीं बदलता है, और इसलिए जाति साधारणतः नहीं बदल सकती। केवल महर्षि विश्वामित्र आदि की तरह असाधारण तपस्यादि द्वारा गुण का भी परिवर्तन होकर जाति बदल सकती है, किंतु यह सब असाधारण कोटि की वस्तु होने के कारण साधारण सामाजिक जीवन में इसका प्रयोग या आदर्श स्थापन नहीं हो सकता है।"

मैं रचता-रचाता कुछ भी नहीं हूँ। इसलिए भी वास्तव में तू मुझे अविनाशी अकर्त्ता ही निश्चय कर ॥ १३ ॥

तीसरी व्याख्या—हे अर्जुन! लोगों के गुणकर्म के विभागानुसार मुझसे चारों वर्ण रचे गये हैं, अपने आप स्वतः नहीं। अर्थात् जैसा-जैसा पूर्वजन्मकृत स्वभाव मनुष्य में देखा गया, वैसा-वैसा कर्म और वर्ण उसका नियत कर दिया गया। बिना मनुष्य का निज स्वभाव देखे मैंने कोई वर्ण वा कर्म नियत नहीं किया। इस लिए इन वर्णों वा कर्मों के कारण तो मनुष्य आप हैं (जिससे वास्तव में वे स्वयं इन वर्णों के कर्त्ता हैं), परंतु उन भिन्न-भिन्न वर्णों को भिन्न-भिन्न नाम देनेवाला होने से मैं ही इन वर्णों का कर्त्ता कहलाता हूँ। फिर मैं अपने वास्तव स्वरूप से तो यह (वर्ण रचने वा वर्णों को भिन्न-भिन्न नाम देने का) काम भी नहीं करता हूँ, केवल मायोपाधि से ऐसे काम करता हूँ, जिससे बाह्य रूप से तो मैं कर्त्ता कहलाता हूँ, और अपने वास्तविक रूप से अकर्त्ता होता हूँ। इसलिए हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि मैं अपने बाह्य (मायोपाधिक) रूप से तो इन चारों वर्णों का कर्त्ता हूँ, और अपने आभ्यंतर (वास्तविक) रूप से इनका अकर्त्ता भी हूँ॥ १३ ॥

संबंध—(१) "उक्त कर्मों का तू मुझे अकर्त्ता समझ" इस कथन का हेतु और फल भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) "कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता हूँ" इस विरोध का परिहार करते हुए भगवान् उक्त उपदेश (मुझे अकर्त्ता समझ) के अनुसार चलनेवाले का अब फल वर्णन करते हैं—

अथवा (३) उक्त कर्मों का कर्त्ता होकर भी अपने को अकर्त्ता वर्णन किया, इस रहस्य का मर्म भगवान् अब बतलाते हैं—

अथवा (४) अब भगवान् दो श्लोकों में अपना निर्लिप्त स्वरूप दर्शाते हुए कर्त्तव्य निर्देश करने लगे हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

न[१], मां[२], कर्माणि[३], लिम्पन्ति[४]	न[१] मुझे[२] कर्म[३] लिपायमान[४] करते हैं	इति[१], मां[३], यः[२], अभिजानाति[४]	ऐसा[१] जो[२] मुझे[३] जानता[४] है
न[१], मे[२], कर्म[३]-फले[४], स्पृहा[५]	न[१] मुझे[२] कर्म[३]-फल[४] में इच्छा[५] है	कर्मभिः[१], न[२], सः[३], बध्यते[४]	कर्म[१] से नहीं[२] वह[३] बंधायमान[४] होता है

अन्वयार्थ——"न मुझे कर्म लिपायमान करते हैं, और न मुझे कर्म-फल में इच्छा है"; इस प्रकार जो मुझे जानता है, वह कर्मों से बंधायमान नहीं होता ॥ १४ ॥

व्याख्या——हे अर्जुन ! जैसा मेरा जन्म दिव्य है, अज्ञानी पुरुषों के समान कर्मबंधन से नहीं; वैसे मेरे कर्म भी दिव्य हैं, अज्ञानी पुरुषों के समान आसक्त मन से कोई इच्छा लिये हुए नहीं होते, किंतु स्वतः निरासक्त मन से विना फल-कामना के होते हैं, जिससे वे मुझे लिपायमान करने नहीं पाते, और न ऐसी दशा में कर ही सकते हैं। और जैसे मेरे दिव्य जन्म-कर्म को यथार्थ जाननेवाला पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता बल्कि सीधा मेरे को प्राप्त होता है, वैसे ही जो इस प्रकार जानता * है कि "मैं जो सबका अंतरात्मा हूँ, न कुछ कर्म करता हूँ और न किसी कर्म-फल की इच्छा ही रखता हूँ" वह फिर कर्मों से कभी बंधायमान नहीं होता। अथवा दूसरे शब्दों में यह कि——"जो मन, वाणी, शरीर से कर्म होते समय अपने आत्मा अर्थात् अपने आपको

---

* "जानता है" से अभिप्राय यहाँ जानकर तदनुसार बर्ताव में लाना है।

मेरे समान साक्षी, निर्विकार, अकर्त्ता, अभोक्ता और असंगात्मा जानता है, और इच्छारहित रहता है, उसे कर्म नहीं बाँधते, बल्कि शरीर से कर्म करते हुए भी वह मेरे समान निर्लिप्त और मुक्त ही रहता है ।। १४ ।।*

संबंध—उक्त रीति से (अपने आपको अकर्त्ता जानकर) पूर्व मुमुक्षुजनों ने भी कर्म किये हैं । ऐसा शिष्टाचार दर्शाते हुए भगवान् अब तदनुसार आचरण के लिए अर्जुन को उपदेश करते हैं—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

एवं, ज्ञात्वा, कृतं, कर्म, पूर्वैः, अपि, मुमुक्षुभिः	इस प्रकार जान कर पहले मुमुक्षुओं से भी कर्म किया गया है	कुरु, कर्म, एव, तस्मात्, त्वं	इसलिए तू कर्म ही कर
		पूर्वैः, पूर्व तरं, कृतम्	पहले लोगों से बहुत पुराने काल में किया गया

---

* इस श्लोक की अन्य रीति से ऐसे व्याख्या भी हो सकती है कि—"ऊपर श्लोक ९ में जो सिद्धांत निरूपण हुआ कि मेरे 'जन्म' और 'कर्म' (इन दोनों) को तत्त्व से जाननेवाला मुझे प्राप्त होता अथवा मेरा ही हो जाता है । इस सिद्धांत का एक अंग (जन्म) तो ऊपर सविस्तर स्पष्ट किया गया, अब दूसरे अंग (कर्म) के तत्त्व का स्पष्टीकरण इस श्लोक में भगवान् ऐसे करते हैं कि हे अर्जुन ! मुझे न कर्म लिपायमान करते हैं और न कर्म के फल में मेरी इच्छा ही है । ऐसा जो मुझे जानता है, वह भी मेरे अनुसार कर्म-फल की इच्छा न रखता हुआ कर्म करता है, जिससे वह कर्मों से बंधायमान होने नहीं पाता ।

अन्वयार्थ—इस प्रकार जानकर पहले मुमुक्षुओं से भी कर्म किया गया है। इसलिए तू भी कर्म ही कर, (जैसा कि) पहले लोगों से बहुत पुराने समयों में किया गया है ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! "न मैं कर्म करता हूँ, न मुझे कर्म-फल की इच्छा है, और न कर्म मुझे बाँध सकता है; क्योंकि मैं अपने निज स्वरूप से अकर्त्ता हूँ" ऐसे निश्चय से पूर्वकाल के मुमुक्षुओं ने भी कर्म किये हैं। इसलिए तुझे भी उन पूर्व मुमुक्षुओं के समान कर्म ही करना उचित है। इसी में तेरा कल्याण है।

तात्पर्य यह है कि द्वापर में राजा ययाति और यदु आदि हुए, जो मोक्ष की इच्छा रखते थे। त्रेता में जनक आदि राजे हुए, जिन को मुक्ति की तीव्र अभिलाषा थी। उनसे पहले सतयुग में जो राजे हुए, वे भी मुक्ति पाना चाहते थे। उन सबने कर्म नहीं छोड़े। बल्कि कर्म करते हुए मोक्ष पाया। इसका कारण यह है कि वे शारीरिक कर्मों के होते समय अपने आपको किसी कर्म का कर्त्ता वा भोक्ता नहीं समझते थे, और न उन कर्मों के फलों में वे किंचित्-मात्र इच्छा वा आसक्ति ही रखते थे। और यह निर्णीत सिद्धांत है कि "जो पुरुष शरीर से कर्म करते हुए भी अपने निज (आत्म-) स्वरूप से अपने आपको कर्म का कर्त्ता वा भोक्ता चित्त से नहीं मानता वा समझता है, वह कर्म-बंधन में नहीं आने पाता, अर्थात् उसको वह कर्म बंधायमान नहीं कर सकता।" इस प्रकार उक्त निश्चय से कर्म करते हुए पूर्वोक्त मुमुक्षु भी कर्म-बंधन में नहीं फँसे; बल्कि परमपद को प्राप्त हुए थे। और तू भी हे अर्जुन ! मुमुक्षु है। यद्यपि तुझे अब आत्मा का परोऽक्षज्ञान तो हो गया है, पर इतने पर कर्म छोड़ देना तुझे उचित और लाभदायक नहीं, बल्कि पूर्व मुमुक्षुओं के समान कर्म करना ही

उचित और आवश्यक है, क्योंकि इसी में तेरा कल्याण है, इस लिए तू भी उनके समान कर्म कर ॥ १५ ॥

संबंध—कर्म की सर्वप्रकार से आवश्यकता और उपयोगिता दर्शाकर अब भगवान् "कर्म क्या है" और "अकर्म क्या है" इन दोनों के तत्त्व और परस्पर भेद को समझाने लगे हैं। पर समझाने से पूर्व इस तत्त्व का दुर्विज्ञेय दो श्लोकों में कहते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६॥

किं^{2}, कर्म^{1}, किं^{4}, अकर्म^{3}, इति^{5}	कर्म^{1} क्या^{2} है, अकर्म^{3} क्या^{4} है, ऐसा^{5}	तत्^{1}, ते^{2}, कर्म^{3}, प्रवक्ष्यामि^{4}	वह^{1} तुझे^{2} कर्म^{3} बतलाऊँगा^{4}।
कवयः^{2}, अपि^{3}, अत्र^{1}, मोहिताः^{4}	इस^{1} विषय में कवि^{2} लोग भी^{3} धोखा^{4} खा गये (चकरा गये) हैं	यत्^{1}, ज्ञात्वा^{2}, मोक्ष्यसे^{4}, अशुभात्^{3}	जिसको^{1} जान^{2} कर तू अशुभ^{3} (संसार) से छूट^{4} जायगा

अन्वयार्थ—'कर्म क्या है', 'अकर्म क्या है', इस विषय में तो कवि लोग भी चकरा गये हैं। सो मैं तुझे वह कर्म बतलाऊँगा, जिसको जानकर तू अशुभ से छूट जायगा ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! "कर्म क्या वस्तु है" और "अकर्म क्या वस्तु है" अर्थात् किसको कर्म कहते हैं, और किसको अकर्म कहते हैं, यह जो विषय है, इसमें तो कवियों (बड़े-बड़े बुद्धिमानों वा पंडितों) की भी बुद्धि चकरा गई है। अर्थात् कितने लोग कहते हैं कि जिस कर्म के करने की आज्ञा वेद और शास्त्र में है, वह "कर्म" है; और जिसकी आज्ञा नहीं, वह "अकर्म" है। बहुत लोग वेद की ओर ध्यान न देते हुए यह कहते हैं कि धर्म-शास्त्र

में जिस कर्म के करने की आज्ञा है, वह "कर्म" है, और शास्त्रोक्त कर्मों का छोड़ देना ही "अकर्म" है। कोई-कोई यह कहते हैं कि इंद्रियों का जो व्यापार है, अर्थात् इंद्रियाँ जो कुछ करती हैं, वह "कर्म" है, और इंद्रियों के सब व्यापार को बंद करके चुपचाप बैठ जाना "अकर्म" है। और कोई केवल प्रवृत्ति को "कर्म" और निवृत्ति को "अकर्म" कहते हैं। अर्थात् जो पुरुष संन्यास का अर्थ कर्म का संपूर्ण रूप से त्याग समझते हैं, वे गीता के "अकर्म" शब्द का अर्थ संपूर्ण रूप से कर्म का त्याग ले लेते हैं; मीमांसकों को यज्ञ-याग आदि काम्य कर्म इष्ट हैं, इसलिए उन्हें इनके अतिरिक्त और सभी कर्म "विकर्म" वा "अकर्म" जँचते या भान होते हैं। इसके सिवा मीमांसकों के नित्य-नैमित्तिक कर्मभेद भी इसी में शामिल करके धर्मशास्त्री इसी में अपनी ढाई चावल की खिचड़ी पकाना चाहते हैं। इस प्रकार इस कर्म और अकर्म के विषय में बड़े-बड़े पंडितों वा ज्ञानियों में भी मतभेद है, जिससे कर्म-अकर्म का जानना कठिन हो रहा है, और इस विषय में सबको बड़ा धोखा हो रहा है। इसलिए मैं अब तुझे वह कर्म (कर्म का वह लक्षण वा रहस्य) सविस्तर कहता हूँ कि जिसको जानकर तू अशुभ* (बुराइयों वा अशुभ संसार) से छूट जायगा, अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त हो जायगा ॥ १६ ॥

संबंध—(१) क्योंकि कर्म और अकर्म के तत्त्व को यथार्थ न जानकर कर्म-मार्ग में प्रवृत्त होने से उसमें धोखा खा जाने और फिसल जाने का डर रहता है, इसलिए भगवान् अब ऐसा कहते हैं—

---

* "संसार में बाँध देना", यही अशुभ फल कर्म का है। इसलिए यह जन्म-मरणरूप संसार (कर्म का कार्य) ही अशुभ है, और इस अशुभ से छूटना ही जन्म-मरणरूप संसार से छूटना वा मुक्त होना है।

अथवा (२) "कार्य करने का नाम कर्म और कुछ न करने का नाम अकर्म" केवल ऐसे लोकप्रसिद्ध अर्थ को ही मानकर संतुष्ट न होना चाहिए, बल्कि कर्म-अकर्म के रहस्य को ध्यानपूर्वक समझना चाहिए; क्योंकि कर्म की गति (तत्त्व) बहुत गहन है, ऐसा भगवान् अब स्पष्ट कहते हैं—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥ *

कर्मणः^{2}, हि^{1}, अपि^{3}, बोद्धव्यं^{4}	निःसंदेह^{1} कर्म^{2} का (तत्त्व) भी^{3} जानने^{4} योग्य है
बोद्धव्यं^{3}, च^{1}, विकर्मणः^{2}	और^{1} विकर्म^{2} का (तत्त्व) जानने^{3} योग्य है
अकर्मणः^{2}, च^{1}, बोद्धव्यं^{3}	और^{1} अकर्म^{2} का (तत्त्व) जानने^{3} योग्य है
गहना^{3}, कर्मणः^{1}, गतिः^{2}	कर्म^{1} की गति^{2} (मार्ग) गहन^{3} है

अन्वयार्थ—निःसंदेह कर्म का (तत्त्व) भी जानने योग्य है, विकर्म का (तत्त्व) भी जानने योग्य है, और अकर्म का भी (तत्त्व) जानने योग्य है । कर्म की गति गहन है ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! क्योंकि कर्माकर्म के तत्त्व को पूर्णतया जानने के बिना पुरुष कर्म-मार्ग में चलने से प्रायः हानि को प्राप्त

---

* भागवत (११-३-४३) में इस विषय का मंत्र ऐसे है—

"कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥"

अर्थ—कर्म, अकर्म और विकर्म इस प्रकार ये तीन भेद वेद के कहे हैं, लोक के नहीं हैं, अर्थात् लौकिक प्राणियों के बनाये हुए भेद नहीं हैं । वेद की उत्पत्ति ईश्वर से है, इस विषय में ज्ञानी भी भ्रमते वा धोखा खा जाते हैं ।

होता है, इसलिए इस मार्ग में प्रवृत्त होने से पहले तुझे निःसंदेह यह जान लेना चाहिए कि कर्म वास्तव में क्या है, विकर्म क्या है और अकर्म क्या है। और यह भी ध्यान रहे कि कर्म की गति, अथवा कर्म, अकर्म और विकर्म की गति गहन, अर्थात् बड़ी गंभीर, कठिन, टेढ़ी, दुर्विज्ञेय वा दुर्बोध और रहस्य से भरी हुई है, इसलिए भी इस विषय का पहले ठीक-ठीक जान लेना उचित है ॥ १७ ॥*

---

* कर्म, विकर्म और अकर्म के अर्थ श्रीशंकराचार्य तथा अन्य बहुत टीकाकारों ने तो यह लिये हैं कि—"कर्म=शास्त्रोक्त वा निज धर्मानुसार कर्म; विकर्म=शास्त्रविरुद्ध वा निज धर्मविरुद्ध कर्म और अकर्म=कुछ न करना अथवा चुपचाप बैठे रहना।" और थोड़ों ने ऐसे लिये हैं—"कर्म के ही दो भेद कर्म और विकर्म हैं, जिनके अर्थ अच्छा कर्म और बुरा कर्म हैं, और इन दोनों के फलों में भी यही भेद है कि अच्छे का फल अच्छा और बुरे का बुरा। और कुछ न करना अकर्म नहीं किंतु कर्म में लिप्त न होना अकर्म है।" हमारे विचार में यद्यपि पहले अर्थ की अपेक्षा यह दूसरे अर्थ उत्तम और युक्त हैं, तथापि भगवान् के आशय को ये दोनों अर्थ पूर्ण रीति से प्रकट नहीं करते दीखते, क्योंकि यह गीता-शास्त्र कोई शास्त्रोक्त और शास्त्र-निषिद्ध कर्म के भेद दर्शाने के लिए, अथवा एक के प्रचार और दूसरे के खंडन वा निषेध के लिए आरंभ नहीं हुआ, और न इसलिए ही हुआ है कि वह मुमुचु के लिए तो कर्म की आवश्यकता और उपयोगिता दिखलावे और केवल ज्ञानी के लिए निरावश्यकता वा निरुपयोगिता दर्शावे। बल्कि वास्तव में यह शास्त्र इसलिए आरंभ हुआ है कि वह मनुष्यों को कर्म का मर्म बतावे, और कर्म की विधि, आवश्यकता, तथा उपयोगिता स्पष्ट रूप से दर्शावे, जिससे कर्म का करनेवाला (चाहे वह ज्ञानी हो या अज्ञानी) कर्म के बंधन में फँसने न पावे।

जहाँ तक गीता को निष्पक्षता और गंभीर दृष्टि से आद्योपांत पढ़ा

संबंध—(१) उक्त कर्म तथा अकर्म आदि का जानने योग्य तत्त्व वा स्वरूप क्या है, उसे भगवान् अब दृष्टांत रूप से स्पष्ट करते हैं—

गया, हमें उससे यही स्पष्ट हुआ है कि—“भगवान् कर्म को केवल मुमुक्षु के लिए ही नहीं, किंतु सबके लिए आवश्यक वा उचित समझते हैं, और कर्म तथा कर्मत्याग का संबंध शरीर के साथ नहीं किंतु मन के साथ मानते हैं, इसलिए जो कर्म केवल शरीर से तो हो और मन से न हो, उसे भगवान् वास्तव में कर्म नहीं मानते (यद्यपि बाहर से देखने में वह कर्म अवश्य आता है), और न ऐसे कर्म को बंधायमान कर सकनेवाला ही समझते हैं।” और जब पूर्वापर के संबंध को विचार से देखा जाय, तो यही स्पष्ट होता है कि भगवान् की प्रतिज्ञा यहाँ पर यह दर्शाने को नहीं हुई कि—“कौन सा कर्म शास्त्रोक्त है, और कौन सा शास्त्र-निषिद्ध है, और न इसका कोई यहाँ प्रसंग ही चला हुआ है।” बल्कि कर्म का मर्म वा रहस्य समझाने के लिये यों हुई है कि—“मैं तुझे अब वह कर्म बतलाता हूँ अर्थात् कर्म का वह लक्षण वा मर्म बतलाता हूँ कि जिसको जानकर तू संसार से मुक्त हो जायगा।” दूसरे शब्दों में यह कि भगवान् की प्रतिज्ञा केवल यह दर्शाने के लिए हुई है कि—“कौन सा कर्म अर्थात् किस रीति से किया हुआ कर्म मनुष्य के कल्याण वा मोक्ष का हेतु है, और कौन सा कर्म अर्थात् किस रीति से किया हुआ कर्म मनुष्य के बंधन वा हानि का हेतु है।” और गीता में यह स्पष्ट ही है कि बंध तथा मोक्ष का संबंध भगवान् मन के साथ लगाते हैं, जैसा कि उपनिषदों में आया है—

“मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥”

(मैत्र्यु० ६. ३४; अमृतविन्दु. २)

अर्थ—निःसंदेह मन दो प्रकार का कहा जाता है—(१) शुद्ध और

अथवा (२) अब भगवान् कर्म-अकर्म के मर्म को और उसके जाननेवाले की दशा को स्पष्ट करते हैं—

---

(२) अशुद्ध । कामना और संकल्प से युक्त वा आसक्त मन अशुद्ध कहलाता है और कामना वा संकल्प से रहित अथवा निरासक्त मन शुद्ध कहलाता है । इसलिए मन ही मनुष्यों के बंध और मोक्ष का कारण है क्योंकि विषयासक्त मन बंधन की ओर ले जानेवाला और निर्विषय अर्थात् विषयों में निरासक्त मन मुक्ति दिलानेवाला माना गया है । इसलिए मन की अवस्था के कारण ही यह शारीरिक कर्म पुरुष के बंध वा मोक्ष का हेतु होता है । इसीलिए कर्म, विकर्म और अकर्म से भगवान् का आशय मन की उन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के दर्शाने का है कि जिनके कारण यह मनुष्य (१) कर्मासक्त=कर्मी, (२) कर्म से निरासक्त=निष्कर्मी वा अकर्मी, (३) कर्मरहित=आलसी, जड़ व विकर्मी, और (४) कर्मातीत=समाधिस्थ कहलाता है, और भिन्न-भिन्न फल पाता है । इस प्रकार (१) कर्म उसको कहते हैं कि जब शरीर बाहर से चाहे कुछ कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, पर भीतर से मन कामना और कर्तृत्वादि भाव से युक्त होकर नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प शरीर के अंदर उठा रहा हो और कर्म में प्रेर रहा अथवा लगा रहा हो । मन की यह अवस्था कर्मी (कर्मासक्त) कहलाती है, जो मनुष्य के प्रत्येक कर्म से पुण्य वा पापरूप फल उत्पन्न करके उसे बंधायमान करती है । (२) अकर्म उसे कहते हैं, जब शरीर बाहर से तो कर्म कर रहा हो, पर मन के भीतर कर्तृत्वादि भाव कुछ न हो ; अर्थात् भीतर से न कर्म में आसक्ति हो और न कर्मफल की इच्छा । मन की ऐसी अकर्म अवस्था के कारण पुरुष भी निष्कर्मी वा अकर्मी कहलाता है, और ऐसे किसी कर्म से भी वह बंधायमान वा लिपायमान होने नहीं पाता है । इसी अकर्म (निष्कर्म) मार्ग में अर्जुन को भगवान् लगाना चाहते हैं । (३) विकर्म अर्थात् कर्मरहित वह अवस्था है जब घोर आलस्य अथवा सुषुप्ति या मादक द्रव्यों के कारण न शरीर ही कुछ काम कर रहा हो, और

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

न मन ही कोई संकल्प-विकल्प उठा रहा हो, बल्कि दोनों जड़वत्, निश्चेष्ट वा निष्क्रिय स्थित हों । मन की यह अवस्था विकर्मी व कर्महीन है । इसका परिणाम कर्मी अवस्था से भी अत्यंत निकृष्ट निकलता है । यह अवस्था मनुष्य को न केवल जन्म-मरण के बंधन में ही डाले रखती है, किंतु अज्ञान की फाँस में भी फँसाये रखती है । इसमें और अकर्म में इतना भेद है कि विकर्म में शरीर और मन दोनों क्रियारहित होते हैं । और अकर्म में शरीर तो कर्म कर रहा होता है, पर मन कर्तृत्वादि भाव तथा कामना से रहित होने के कारण निष्कर्मी वा अकर्मी होता है । फिर इस विकर्मावस्था में मन और शरीर दोनों जड़ होने के कारण स्वाधीन नहीं, किंतु आलस्य, सुषुप्ति वा मादक द्रव्यों के प्रभाव के अधीन हुए होते हैं ; पर अकर्मावस्था में ये दोनों स्वाधीन होते हैं, जिससे शरीर तो आज्ञानुसार कर्म में प्रवृत्त रहता है, और मन निरभिमान होने के कारण कर्तृत्वादि भाव और कामना के वश में होने नहीं पाता है । (४) कर्मातित वह अवस्था है कि जब निष्काम और अकर्तृस्वभाव से कर्म करते-करते योगारूढ़ अवस्था के प्राप्त होने पर मन अपने स्वरूप के ध्यान में अडोल स्थित अर्थात् इतना तल्लीन वा समाधिस्थ हो जाय कि इंद्रियों के सब कर्म भी स्वतः बंद पड़ जायँ । इस प्रकार जब शरीर और मन आलस्य, सुषुप्ति, अज्ञान वा मादक द्रव्यों के वश में आकर नहीं बल्कि स्वाधीनता से कर्म करते-करते अपने आत्मसाक्षात्कार के तूफ़ान के वश में आकर कर्म छोड़ बैठें, तो उस स्वतः प्राप्त नितांत निष्क्रियावस्था को कर्मातीत कहते हैं । इसमें और विकर्म अवस्था में इतना भेद है कि विकर्मावस्था तो स्वरूप के अज्ञान तथा आलस्यादि से उत्पन्न होती है, और यह (कर्मातित अवस्था) स्वरूप के ज्ञान वा निजानंद के प्रभाव से प्राप्त होती है । यद्यपि ऊपर से ये दोनों अवस्थाएँ एक समान दिखाई

कर्मणि[1], अकर्म[3] यः[2], पश्येत्[4]	कर्म[1] में जो[2] अकर्म[3] देखे[4]	सः[1], बुद्धिमान्[3] मनुष्येषु[2]	वह[1] मनुष्यों[2] में बुद्धिमान्[3] है
अकर्मणि[2], च[1], कर्म[4], यः[3]	और[1] अकर्म[2] में जो[3] कर्म[4] (देखे)	सः[1], युक्तः[2], कृत्स्न[3]-कर्म[4]-कृत्[5]	वह[1] युक्त[2] और समस्त[3] कर्म[4] का करनेवाला[5]

देती हैं, परंतु एक तो अज्ञान का कार्य होने से मनुष्य को आत्मसाक्षात्कार से रहित वा आत्मविमुख रखती है और जन्म-मरणरूप संसार-चक्र में घुमाती-फिराती है, और दूसरी ज्ञान का कार्य होने से जीते जी तो निजानंद में तृप्त कराती है और शरीर छूटने पर परब्रह्म में लीन कराती अर्थात् जन्म-मरणरूप संसार-चक्र से मोक्ष दिलाती है। एक इस पार (संसार में) रखती है, और दूसरी उस पार (संसार से परे) ले जाती है। एक कर्महीन अवस्था (Lawlessness or actionlessness state) है, और दूसरी कर्मातीत अवस्था (State beyond Laws or beyond actions) है। एक (विकर्म) पर धर्मशास्त्र का दंडा खड़क रहा है, दूसरी (कर्मातीत) शास्त्र पर अपना दंडा रखती और उसके ऊपर वर्तती है। इस कर्मातीत पुरुष के विषय में श्रुति स्वयं ऐसा कहती है कि—"ब्रह्मविद्-श्रुतिमूर्ध्नि"=ब्रह्मवेत्ता श्रुति के ऊपर चलता होता है, अर्थात् श्रुति से परे वर्तता होता है, अथवा श्रुति उसके मस्तिष्क से टपकती है, अथवा श्रुति उससे निकलती और उसके अधीन होती है, वह श्रुति के स्वयं अधीन नहीं हुआ होता। और भगवान् भी इसके विषय में ऐसा कहते हैं कि "तस्य कार्यं न विद्यते"=उस आत्मानुभवी पुरुष के लिए कोई कर्त्तव्य बाक़ी नहीं रहता है (३, १७)। और इसी अवस्था को लक्ष्य में रखते हुए भगवान् ने दूसरे अध्याय में अर्जुन को ऐसे उपदेश किया—"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"=हे अर्जुन! त्रैगुण्य-विषयक ये वेद (श्रुतियाँ) हैं, तू इन तीनों गुणों से परे हो (२, ४५)। इन उक्त चारों प्रकार की अवस्था का विवेक कराना भगवान् का यहाँ अभिप्राय व उद्देश्य दिखाई देता है। चतुर्थ अवस्था इन पूर्व की तीन अवस्थाओं का अंतिम फल है;

अन्वयार्थ—जो (भी पुरुष) कर्म में अकर्म, और अकर्म में कर्म देखे, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, और वही युक्त तथा समस्त कर्मकृत् है ॥ १८ ॥

और इन तीनों में से क्रमशः गुज़र कर मनुष्य उस चौथी अवस्था को प्राप्त होता है, इसलिए इन तीनों (कर्म, विकर्म और अकर्म) के ही तत्त्व को यथार्थ समझाने के लिए भगवान् मनुष्यमात्र को उपदेश देते हैं, ताकि बिना इनके तत्त्वबोध किये मनुष्य इनके पहचानने में धोखा न खा जाय, और एक को दूसरे से समझकर भ्रमजाल में न फँसने पाये। वास्तव में कर्म का मार्ग (अथवा कर्म, विकर्म और अकर्म का विषय) अति गंभीर, कठिन वा टेढ़ा या दुर्बोध्य है, इसलिए भी यह विषय अति विचारने योग्य है। और जब बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग इसके समझने में धोखा खा गये या चकरा गये हैं, तो भोलेभाले साधारण मनुष्यों का फिर कहना ही क्या है।

उक्त (कर्म के) विषय में श्रीतिलक महाराज की व्याख्या (जो उन्होंने श्लोक १७, १८ पर इकट्ठी दी है) यद्यपि बहुत अंशों में हमारे सहमत है, तथापि अपने ढंग की निराली है, इसलिए उसे भी यहाँ दे दिया जाता है—“पहले से ही इस बात पर ध्यान दिये रहना चाहिए कि गीता में जिस सात्त्विक दृष्टि से इस प्रश्न (कि कर्म क्या है, अकर्म क्या है तथा विकर्म क्या है) का विचार किया गया है, वह दृष्टि निष्कामकर्म करनेवाले कर्मयोगी की है, काम्य कर्म करनेवाले मीमांसकों की या कर्म छोड़नेवाले संन्यासमार्गियों की नहीं है। गीता की इस दृष्टि को स्वीकार कर लेने पर पहले तो यही कहना पड़ता है कि ‘कर्मशून्यता’ के अर्थ में ‘अकर्म’ इस जगत् में कहीं भी नहीं रह सकता, अथवा कोई भी मनुष्य कभी कर्मशून्य नहीं हो सकता (गीता ३, ५; १८, ११); क्योंकि सोना, उठना-बैठना और जीवित रहना तक किसी से भी छूट नहीं जाता। और यदि कर्मशून्यता होना संभव नहीं है, तो यह निश्चय करना पड़ता है कि अकर्म कहें किसे। इसके लिए गीता का यह उत्तर है कि

(१) पहली व्याख्या--पूर्व श्लोक के फ़ुटनोट में दर्शाया गया है कि कर्म का न करना अकर्म (नैष्कर्म्य) नहीं, किंतु स्वार्थ को

कर्म का मतलब निरी क्रिया न समझकर उससे होनेवाले शुभ-अशुभ आदि परिणामों का विचार करके कर्म का कर्मत्व या अकर्मत्व निश्चित करो। यदि सृष्टि के मानी ही कर्म हैं, तो मनुष्य जब तक सृष्टि में है, तब तक उससे कर्म नहीं छूटते। अतः कर्म और अकर्म का जो विचार करना हो, वह इतनी ही दृष्टि से करना चाहिए कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा। करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता, उसके विषय में कहना चाहिए कि उसका कर्मत्व अर्थात् बंधकत्व नष्ट हो गया; और यदि किसी भी कर्म का बंधकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाय, तो फिर वह कर्म अकर्म ही हुआ। अकर्म का प्रचलित सांसारिक अर्थ कर्मशून्यता ठीक है, परंतु शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर उसका यहाँ मेल नहीं मिलता। क्योंकि हम देखते हैं कि चुपचाप बैठना अर्थात् कर्म न करना भी कई बार कर्म ही हो जाता है। उदाहरणार्थ, अपने माता-पिता को कोई मारता-पीटता हो, तो उसको न रोककर चुप्पी मारे बैठा रहना, उस समय व्यावहारिक दृष्टि से अकर्म अर्थात् कर्मशून्यता हो तो भी, कर्म ही—अधिक क्या कहें, विकर्म—है; और कर्म-विपाक की दृष्टि से उसका अशुभ परिणाम हमें भोगना ही पड़ेगा। अतएव गीता अगले श्लोक १८ में विरोधाभास की रीति से बड़ी ख़ूबी के साथ कहती है कि ज्ञानी वही है जिसने जान लिया कि अकर्म में भी (कभी-कभी तो भयानक) कर्म हो जाता है, और कर्म करके भी वह कर्म-विपाक की दृष्टि से मरा सा, अर्थात् अकर्म, होता है; तथा यही अर्थ अगले श्लोक में भिन्न-भिन्न रीतियों से वर्णित है। कर्म के फल का बंधन न लगने के लिए गीताशास्त्र के अनुसार यही एक सच्चा साधन है कि निःसंग बुद्धि से, अर्थात् फलाशा छोड़कर निष्काम बुद्धि से, कर्म किया जाय। अतः इस साधन का उपयोग कर निःसंग बुद्धि से जो कर्म किया जाय, वही गीता के अनुसार प्रशस्त—सात्त्विक—कर्म है (गीता १८, ९);

त्यागकर स्वभावतः वा परार्थ कर्म करना और उसके कर्तृत्वादि संग-दोष से रहित रहने का नाम अकर्म है। अथवा अंतःकरण

और गीता के मत में वही सच्चा 'अकर्म' है, क्योंकि उसका कर्मत्व अर्थात् कर्म-विपाक की क्रिया के अनुसार बंधकत्व निकल जाता है। मनुष्य जो कुछ कर्म करते हैं (और 'करते हैं' पद में चुपचाप निठल्ले बैठे रहने का भी समावेश करना चाहिए) उनमें से उक्त प्रकार के अर्थात् 'सात्त्विक कर्म', अथवा गीता के अनुसार अकर्म घटा देने से बाक़ी जो कर्म रह जाते हैं, उनके दो भाग हो सकते हैं—एक राजस और दूसरा तामस। इनमें तामस कर्म मोह और अज्ञान से हुआ करते हैं, इसलिए उन्हें विकर्म कहते हैं—फिर यदि कोई कर्म मोह से छोड़ दिया जाय तो भी वह विकर्म ही है, अकर्म नहीं (गीता १८, ७)। अब रह गये राजस कर्म। यह कर्म पहले दर्जे के अर्थात् सात्त्विक नहीं हैं, अथवा ये वे कर्म भी नहीं हैं, जिन्हें गीता सचमुच 'अकर्म' कहती है। गीता इन्हें राजस कर्म कहती है; परंतु यदि कोई चाहे तो ऐसे राजस कर्मों को केवल 'कर्म' भी कह सकता है। तात्पर्य, क्रियात्मक स्वरूप अथवा कोरे धर्म-शास्त्र से कर्म-अकर्म का निश्चय नहीं होता, किंतु कर्म के बंधकत्व से यह निश्चय किया जाता है कि कर्म है या अकर्म। अष्टावक्रगीता संन्यास-मार्ग की है, तथापि उसमें भी कहा है—

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥

अर्थात् मूर्खों की निवृत्ति (अथवा हठ से या मोह के द्वारा कर्म से विमुखता) ही वास्तव में प्रवृत्ति अर्थात् कर्म है, और पंडित लोगों की प्रवृत्ति (अर्थात् निष्काम कर्म) से ही निवृत्ति यानी कर्मत्याग का फल मिलता है (अष्टा० १८, ६१)। गीता के उक्त श्लोक में यही अर्थ विरोधाभासरूपी अलंकार की रीति से बड़ी सुन्दरता से बतलाया गया है। गीता के अकर्म के इस लक्षण को भली भाँति समझे विना गीता के कर्म-अकर्म के विवेचन का मर्म कभी भी समझ में आने का नहीं। अब इसी अर्थ को अगले श्लोकों में अधिक व्यक्त करते हैं।"

की उस अवस्था का नाम अकर्म है कि जिसमें मन तो कर्तृत्वादि भाव से रहित और निष्काम हो, और शरीर कर्म कर रहा हो। इसी प्रकार कर्म केवल शारीरिक चेष्टा का ही नाम नहीं बल्कि बाहर से चेष्टा चाहे हो वा न हो किंतु भीतर से मन का कर्तृत्वादि भाव से युक्त होकर नाना प्रकार की कामना रूप चेष्टा करते रहना कर्म है। अथवा अंतःकरण की वह अवस्था कर्म कहलाती है कि जिस में मन तो कर्तृत्वादि भाव से युक्त होकर नाना प्रकार की संकल्प-विकल्प रूप चेष्टा कर रहा हो, और शरीर चाहे क्रियारहित हो वा क्रियावान् हो। इस भेद को जाननेवाला पुरुष न तो कर्म में कर्तृत्वबुद्धि रखता है, न फल-कामना से युक्त होकर कर्म करता है, और न कर्म को दुःखरूप समझकर नितांत त्याग ही देता है; बल्कि कर्म को अपना कर्त्तव्य समझकर निरासक्त और निष्काम भाव से करता रहता है, जिससे एक ओर तो उससे समस्त कर्म हुए जाते हैं, और दूसरी ओर वे कर्म उसे आसक्त और लिपायमान नहीं करने पाते, बल्कि सर्व कर्म करते हुए भी वह भीतर से सावधान (युक्त) और निर्लिप्त ही रहता है। इस गुह्य रहस्य को समझाने वा स्पष्ट करने के लिए भगवान् ऐसा कहते हैं कि—"हे अर्जुन ! जो पुरुष कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है।" अर्थात् जो किसी को कर्म करते देखकर उसके भीतर की अकर्तृत्वावस्था को भाँप लेता है, अथवा अपने ही शारीरिक कर्म में जो अपने आपको भीतर से अकर्त्ता-अभोक्ता भान करता वा देखता है। और जो किसी को निकम्मा (निष्क्रिय) देखकर उसके भीतर की कर्तृत्वावस्था को भाँप जाता है, अथवा अपने शरीर की ही क्रियारहित अवस्था में जो अपने आपको कर्तृत्वभाव से युक्त वा आसक्त जान लेता वा देख लेता है, ऐसा पुरुष ही संसार में बुद्धिमान् वा विचारवान्

होता है, अन्य नहीं; और ऐसा पुरुष ही कर्मयोग में युक्त तथा समस्त कर्मों का करनेवाला होता है, अथवा ऐसा पुरुष ही सर्व प्रकार के कर्म करता हुआ भी सावधान रहता है ॥ १८ ॥

दूसरी व्याख्या—शारीरिक कर्म का नाम ही कर्म नहीं किंतु शारीरिक कर्म में अपने आपको अर्थात् आत्मा को उस कर्म का कर्त्ता-भोक्ता मानना कर्म है। ऐसे ही शारीरिक कर्म के त्याग का नाम अकर्म नहीं किंतु इंद्रियों से कर्म करते हुए अपने आपको अर्थात् आत्मा को उस कर्म का अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी मानना अकर्म है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! जो पुरुष कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है, अर्थात् जो शारीरिक कर्म में नित्य अपने आप (आत्मा) को साक्षी, अकर्त्ता और अभोक्ता जानता (महसूस करता रहता) है, और किसी आलसी वा अज्ञानी पुरुष को बाहर से निकम्मा (क्रियारहित) देखकर उसके भीतर नाना प्रकार के संकल्प (विकल्पों में) अज्ञानजन्य कर्त्तात्मा का भाव भाँप लेता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, और वही समस्त कर्म शरीर से करता हुआ भी अपने आपमें कृतकृत्य और सावधान रहता है ॥ १८ ॥

तीसरी व्याख्या—देह, इंद्रियाँ, बुद्धि आदि का जो व्यापार है, उसका नाम कर्म है। और इस व्यापार के अभाव का नाम अकर्म है। अथवा इन इंद्रियों, बुद्धि इत्यादि का अधिष्ठान (साक्षी आत्मा) जिसके साक्षित्व में इंद्रियों इत्यादि का व्यापार होता है, उसकी इस कर्म से अज्ञान-जन्य संगता का नाम कर्म है और ज्ञान-जन्य असंगता का नाम अकर्म है। यद्यपि इंद्रियों का व्यापार रूप कर्म, अथवा उनके व्यापार का अभाव रूप अकर्म, इंद्रियों में ही रहता और इंद्रियों से ही संबंध रखता

है, असंग आत्मा में न वह कर्म होता है, और न उससे संबंध ही रखता है; तथापि अहंकार के अध्यास से मूर्ख पुरुष इंद्रियों इत्यादि के व्यापाररूप कर्म को असंग आत्मा में आरोपण कर लेता है; और जब इंद्रियों के व्यापार निद्रा वा सुषुप्ति के कारण बंद पड़ जाते हैं, तो वह उस व्यापार के अभाव अर्थात् कर्मशून्यता को असंग आत्मा में आरोपण कर लेता है। अर्थात् इंद्रियाँ जब कोई काम कर रही हों, तो मूर्ख यही समझता है कि आत्मा काम कर रहा है, और जब निद्रा के कारण इंद्रियाँ काम करना छोड़ बैठें, तो वह यह समझता है कि आत्मा ने कर्म करना छोड़ दिया है, यद्यपि इस कर्म और कर्म-त्याग का कर्त्ता वे इंद्रियाँ ही हैं। पस, जो विद्वान् इंद्रियों के कामों को आत्मा का काम नहीं समझता, बल्कि उनके कामों में भी आत्मा को असंग, अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी जानता है, अर्थात् कर्म में अकर्म देखता है; और जो इंद्रियों के कर्म बंद हो जाने पर उस अक्रियावस्था या कर्म-त्याग का भी कर्त्ता-भोक्ता इंद्रियों को ही समझता है, आत्मा को नहीं, बल्कि आत्मा को इंद्रियों की इस अवस्था में भी वैसा का वैसा ही असंग, साक्षी और अकर्त्ता इत्यादि मानता है, अर्थात् अकर्म में भी (इंद्रियों का) कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही योगयुक्त और समस्त कर्म-कृत् है, अथवा वही समस्त कर्म करता हुआ भी अपने आपमें सावधान रहता है। इंद्रियकर्म के संगदोष से रहित होने के कारण कर्म से वह लिपायमान नहीं होता ॥ १८ ॥

चौथी व्याख्या—प्रत्यक्षादि प्रमाणजन्य ज्ञान का जो विषय हो, अर्थात् सर्व नामरूप जगत् वह कर्म, और जो प्रत्यक्षादि प्रमाणजन्य ज्ञान का विषय न हो, अर्थात् स्वप्रकाश साक्षी आत्मा, वह अकर्म कहलाता है। जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है,

अर्थात् जो आत्मा (अपने आप) में सर्व नामरूप जगत् को और सर्व नामरूप प्रपंच में आत्मा (अपने आप) को देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वही योगयुक्त है और सर्व कर्म का करनेवाला है। इसी के विषय में श्रुति भी ऐसा कहती है—"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजगुप्सते ।"=जो सब भूतों को आत्मा में और सब भूतों में आत्मा को देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता (ईश उप० ६) ॥ १८ ॥ *

---

* चारों व्याख्याएँ अपने-अपने स्थान पर उचित बैठती हैं, और प्रथम व्याख्या (जो बहुत स्पष्ट है और हमारे विचार में सर्वोपरि युक्त ठहरती है, उस) के साथ बाकी की तीन भी कई अंशों में मेल खाती हैं, इसलिए चार प्रकार से इस श्लोक की व्याख्या की गई है। तिस पर भी श्री ज्ञानदेव की व्याख्या, जो अपने ढंग की निराली है और बहुत अंशों में उक्त व्याख्याओं के अभिप्राय से मेल खाती है, नीचे दी जाती है।

"जो सर्व कर्मों में व्यवहार करते हुए निज को निष्कर्म जानता है, और कर्म का संग होते हुए फल की निराशा रखता है, तथा कर्त्तव्यता के लिए संसार में दूसरी वस्तु ही नहीं है, इस प्रकार उत्तम निष्कर्मता के ज्ञान से जो युक्त हुआ है; तथापि संपूर्ण क्रिया-समूहों का उत्तम आचरण करते हुए दिखाई देता है; वही इन लक्षणों के द्वारा ज्ञानी समझना चाहिए। जैसे जल के तट पर खड़े रहने से यदि अपना ही प्रतिबिंब जल में दिख जाय, तो वह मनुष्य निश्चय से पहचान सकता है और कह सकता है कि मैं इस प्रतिबिंब से भिन्न हूँ; अथवा जो नौका में बैठकर चलता है, सो तीर पर के वृक्ष वेग से दौड़ते हुए देखता है, किंतु यही बात यदि वह सत्यतः देखने लगे तो कहेगा कि वृक्ष अचल हैं; वैसे ही सब कर्मों में व्यवहार करना नितांत असत्य मानकर जो निज को निष्कर्म समझता है, और उदय-अस्त होने के कारण सूर्य जैसे

संबंध—(१) उक्त (कर्म के तत्त्व को जाननेवाले वा परमार्थदर्शी) पुरुष के विषय में भगवान् अब आगे चौबीसवें श्लोक तक और वर्णन करते हैं—

अथवा (२) अब उक्त अकर्मरूपी कर्म की स्तुति भगवान् आगे चौबीसवें श्लोक तक करते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १६ ॥

यस्य^{1}, सर्वे^{2}, समारम्भाः^{3}	जिसके सारे^{2} कर्म^{3}	ज्ञान^{1}-अग्नि^{2}-दग्ध^{3}-कर्माणां^{4}	ज्ञान^{1} की अग्नि^{2} से दग्ध^{3} हुए कर्मोंवाले^{4} को
* काम^{1}-सङ्कल्प^{2}-वर्जिताः^{3}	कामना^{1} और संकल्प^{2} से रहित^{3} हैं	तम्^{2}, आहुः^{4}, पण्डितं^{3}, बुधाः^{1}	बुद्धिमान्^{1} उसको^{2} पंडित^{3} कहते^{4} हैं

स्थिर होते भी चलता सा दिखाई देता है, वैसा ही जो कर्म करते हुए निष्कर्मता का तत्त्व जानता है; सो मनुष्य, मनुष्य के समान तो दिखता है, परंतु जैसे सूर्य का बिंब जल में नहीं डूबता, वैसे वह मनुष्य मनुष्यत्व से लिप्त नहीं होता। वह नेत्र से न देखते सब विश्व देख चुका है, कुछ भी न करते सब कर चुका है, और कुछ भी न भोगते सब भोग्य वस्तुओं का भोग ले चुका है। एक ही स्थान बैठा हो, परंतु सर्वत्र भर गया है; और तो क्या, वह स्वयं विश्व हो गया है।"

* "कामसङ्कल्पवर्जिताः" इस पद पर भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न व्याख्या की है—"कामैस्तत्कारणैश्च सङ्कल्पैर्वर्जिताः ।"=काम (अभिलाषा) और उसका कारणरूप संकल्प इन दोनों से रहित जिसके कर्म हैं (श्रीशंकराचार्य)। "काम्यते इति कामः । फलं तत्सङ्कल्पेन वर्जिताः ।"=

पहला अन्वयार्थ—जिसके सारे कर्म कामना और संकल्प से रहित हैं। उस ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए कर्मोंवाले को बुद्धिमान् पुरुष पंडित कहते हैं ॥ १९ ॥

जो चाहा गया, वह काम है, और उसके फल का संकल्प, इन दोनों से रहित जिसके कर्म हैं (श्री श्रीधर स्वामी)। "कामः फलतृष्णा। सङ्कल्पोऽहं करोमीति कर्तृत्वाभिमानस्ताभ्यां वर्जिताः।"=काम अर्थात् फल की अभिलाषा और संकल्प अर्थात् 'यह कर्म मैं करता हूँ' ऐसा कर्तृत्वादि अभिमान, इन सबसे रहित जिसके कर्म हैं (श्री मधुसूदनस्वामी)। इस प्रकार भाष्यकारों के नाना मत हैं। मधुसूदन स्वामी का किया हुआ संकल्प शब्द का अर्थ यद्यपि अधिक प्रचलित नहीं, परंतु अभिप्राय ऐसा इस शब्द के सब अर्थों से प्रायः निकल आता है, और यह अर्थ या अभिप्राय यहाँ युक्त भी बैठता है। श्रीशंकराचार्य के जो अर्थ (काम और उसके कारण संकल्प से रहित कर्म) हैं, उससे यह तात्पर्य नहीं कि उसकी सब इच्छाएँ ही नितांत बंद हो जाती हैं, या फल की इच्छा के न होने से वह फिर कर्म ही कोई नहीं करता; बल्कि भाव यह है कि उसके कर्म तो सब होते रहते हैं, परंतु उसमें कर्मत्व वा बंधकत्व तथा कर्तृत्वादि अभिमान, स्वार्थबुद्धि वा फलाशा नहीं होते, जिससे वे कर्म वास्तव में अकर्म रूप होते हैं। इसीलिए श्रीशंकराचार्यजी इसी श्लोक में आगे चलकर ऐसा लिखते हैं—"मुधैव चेष्टामात्रा अनुष्ठीयन्ते प्रवृत्तेन चेल्लोकसंग्रहार्थं निवृत्तेन चेत् जीवनमात्रार्थम्।" विना निजी प्रयोजन वा स्वार्थ के ही उसके कर्म केवल चेष्टामात्र होते हैं। यदि प्रवृत्ति द्वारा उससे कोई कर्म होता है, तो केवल लोकसंग्रहार्थ (जिससे कि लोगों को उसके उदाहरण से शिक्षा मिले) और यदि निवृत्ति द्वारा कोई कर्म होता है, तो केवल जीवन निर्वाहमात्रार्थ (जिससे शरीर मृत्युवश अर्थात् आत्मघात न हो) और श्रीमधुसूदन स्वामी ने भी 'लोकशिक्षार्थ' और 'जीवनमात्रार्थ' ये दोनों बातें अपनी व्याख्या में कामसङ्कल्प-वर्जिताः के अर्थ के साथ रक्खी हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि फल की लालसा

दूसरा अन्वयार्थ—जिसके सारे कर्म इच्छा और संकल्प विना आरंभ होते हैं, उसको बुद्धिमान् पुरुष (ऐसा) पंडित कहते हैं कि जिसके सब कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए होते हैं ॥ १९ ॥

(काम) और कर्तृत्वादि अहंकाररूप संकल्प से रहित जो कर्म का अनुष्ठान है, वही विहित और वही अकर्मत्व वा कर्मशून्यता है, और इन्हीं कर्मों से पुरुष को कोई बंधन प्राप्त नहीं होता, ऐसे कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए होते हैं, अर्थात् ज्ञान के कारण ऐसे कर्मों के बंधन नितांत नाश हुए होते हैं।

स्पष्ट अभिप्राय उक्त पद का यह है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ हैं, अर्थात् इन चारों में से किसी न किसी की प्रेरणा से ही कर्म होता है। इनको छोड़कर न कोई कर्म होता है और न ऐसे कर्म से कोई प्रयोजन ही सिद्ध होता है, बल्कि स्वाभाविक कर्म भी जो शरीर-रक्षा का धर्मपालनार्थ किया जाता है वह भी आत्मघात से बचने वा बचाने के प्रयोजन से होता है। अलबत्ता जो कर्म काम की प्रेरणा से होते हैं, वे काम्य कर्म कहलाते हैं, इनका फल स्वर्गादि लोकों के भोगों की प्राप्ति और व्यक्तिगत अपने आपका सुख है। ऐसे कर्म परिच्छिन्न दृष्टि, अभिमान आदि तुच्छ संकल्पों और स्वार्थबुद्धि से होते हैं, जिससे बंधन का हेतु होते हैं। और केवल धर्म (कर्त्तव्य बुद्धि), अर्थ (सांसारिक लाभ वा लोकसंग्रहार्थ) तथा मोक्षकी प्रेरणा से जो कर्म होते हैं, वे इस परिच्छिन्न दृष्टि, मलिन अहंकार की अर्थ-सिद्धि और आत्म-सुख अर्थात् विषय सुख के उद्देश्य से नहीं होते, बल्कि इन कर्मों का उद्देश्य वा प्रयोजन निजानंद की प्राप्ति, परिच्छिन्न दृष्टि का नाश, मलिन अहंकार का अभाव, सबसे अभेदता और समत्व दृष्टि, और इसी के कारण लोकोपकार वा लोकसंग्रह होता है, जिससे ये कर्म बंधन का हेतु नहीं होते। पर जब ये धर्म, अर्थ और मोक्ष-निमित्त कर्म भी अपने यश, मान, अहंकार की तृष्णा की पूर्ति और केवल अपने (व्यक्तिगत अपने आपके) हित अर्थात्

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! जिसके सारे आरंभ (कर्म) विषय-भोग की कामना और उसके कार्यरूप संकल्प से रहित हैं, अथवा स्वर्गादि लोकों की प्राप्तिरूप फल के संकल्प से रहित हैं ; अर्थात् जो स्वार्थरूप फल की कामना और कर्तृत्वादि अभिमानरूप संकल्पों से रहित होकर सारे कर्म करता है, अथवा जो सर्वप्रकार के कर्मों के भीतर अपने आपको अकर्त्ता-अभोक्ता निश्चय करता हुआ केवल लोकोपकारार्थ या शरीरयात्रार्थ कर्म करता है, और इसी ज्ञानाग्नि के कारण जिसके सारे कर्म जल गये होते हैं, अर्थात् सारे कर्म-बंधन नाश हो गये होते हैं, जिससे वह किये हुए कर्मों से बंधायमान होने नहीं पाता। ऐसे महात्मा को बुद्धिमान् पुरुष पंडित * कहते हैं ॥ १९ ॥

स्वार्थ के लिए किये जायँ, तो ये भी काम्य अर्थात् सकाम कर्म हो जाते हैं, निष्काम नहीं रहते। पस, काम का अर्थ यहाँ केवल स्वार्थ अर्थात् व्यक्तिगत हित और विषयभोग की कामना है, और जो संकल्प इसी प्रयोजन वा उद्देश्य के निमित्त हों, वे काम-संकल्प कहलाते हैं। और जिन कर्मों का उद्देश्य और प्रयोजन दूसरों का हित वा मंगल हो, वे सब निष्काम हैं, और इनके कारण रूप संकल्प भी काम-संकल्प नहीं किंतु निष्काम-संकल्प कहलाते हैं। पहली प्रकार के (सकाम) कर्म पुरुष को बंधायमान करते अर्थात् जन्म-मरण दिलाते रहते हैं। और दूसरी प्रकार के (निष्काम) कर्म पुरुष को मोक्ष दिलाते और निर्लिप्त रखते हैं। इसलिए जिनके समस्त कर्म कामसंकल्प से रहित होते हैं, उन्हीं को बुद्धिमान् पुरुष तत्त्ववेत्ता पंडित कहते हैं, और उन्हीं के कर्मों के बंधन (इस ज्ञानाग्नि के कारण) सब जले हुए होते हैं।

* ज्ञानवान् पुरुष कर्म करने से पूर्व वा कर्म करते समय किसी प्रकार का कर्तृत्व अभिमानरूप संकल्प नहीं करता और न आप फल भोगने की इच्छा ही रखता है। ज्ञानवान् जो भी कर्म करता है, वह या तो

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन! "धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष," ये चार पुरुषार्थ वा कर्म के उद्देश्य और प्रयोजन हैं। इनमें से किसी एक, दो या तीन की प्रेरणा से ही सब कर्म मनुष्य से अपनी चेतन अवस्था में होते हैं। "काम" का प्रयोजन वा फल स्वर्गादि के भोगों की प्राप्ति अर्थात् विषय-सुख और केवल व्यक्तिगत हित (अहंकार की तृष्णा की तृप्ति) है; इसलिए जो भी कर्म इस 'काम' और इसी के अनुसार इसके कार्यरूप 'संकल्प' की प्रेरणा से होते हैं, वे सब सकाम कर्म कहलाते हैं, और पुरुष के बंधन का हेतु होते हैं। और 'धर्म', 'अर्थ' तथा 'मोक्ष' रूप पुरुषार्थ का फल व प्रयोजन तुच्छ स्वार्थ वा हित ही नहीं किंतु निजानंद की प्राप्ति, लोकसंग्रह वा धर्म-रक्षा, और मुक्ति भी है; इसीलिए जो भी कर्म इस निजानंद आदि उद्देश्य से तथा तदनुसार कामना वा संकल्प की प्रेरणा से होते हैं, वे निष्काम कर्म (वा अकर्मरूप कर्म) कहलाते हैं, और पुरुष को बंधायमान नहीं करते बल्कि बंधनों से मुक्त करते अर्थात् जन्म-मरण से रहित करते हैं। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं कि जिसके कर्म उक्त 'काम' और उसके कार्यरूप 'संकल्प' से रहित हैं; अर्थात् जो पुरुष स्वर्गादि लोकों के भोगों की कामना और तदनुसार संकल्पों की प्रेरणा से कोई कर्म नहीं करता, बल्कि जो समस्त कर्म निजधर्म की रक्षा, निजानंद की प्राप्ति, मुक्ति और लोकोपकार के उद्देश्य और तदनुसार कामना वा संकल्पों से

स्वाभाविक होता है, या शरीर-यात्रा के निमित्त, और या संसार की भलाई के निमित्त होता है। वह किसी भी किये हुए कर्म को आत्मा का कर्म नहीं समझता और न किसी कर्म में कर्तृत्व अभिमान ही रखता है, जिससे उसके समस्त कर्म यहीं जल जाते हैं, और उसे नहीं बाँधते हैं। ऐसा ज्ञानवान् सचमुच "पंडित" है।

प्रेरित होकर करता है, वह पुरुष पूर्ण पंडित, अर्थात् तत्त्ववेत्ता वा मुनि या ऋषि है, और उसके समस्त कर्म उक्त ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए होते हैं, अर्थात् निष्काम कर्म करने के कारण उन कर्मों के बंधन नितांत नाश हुए होते हैं, जिससे वह पुरुष कर्मों से बंधायमान होने नहीं पाता। इसी के विषय में श्रुति ऐसा कहती है--"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥" अर्थ--जब सारी विषय-कामनाएँ, जो इस (मनुष्य) के हृदय में रहती हैं, नितांत छूट जाती हैं, तब वह मर्त्य (मरनेवाला पुरुष) अमृत बन जाता है, और यहीं ब्रह्म को प्राप्त होता अर्थात् ब्रह्मानंद भोगता है (कठ-वल्ली ६, श्लोक १४)॥ १६ ॥*

तीसरी व्याख्या--वेदांत की प्रक्रिया से इसकी व्याख्या यों होगी कि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार यह अंतःकरण-चतुष्टय है, अर्थात् अंतःकरण की मुख्य चार वृत्तियाँ हैं। इसमें मन संकल्प-विकल्प करता है, बुद्धि विवेक करती है, चित्त चिंतवन करता और अहंकार अभिमान करता है। अंतःकरण की उक्त वृत्तियों के ये व्यापार मनुष्य के जीवन पर्यंत उसकी जाग्रत् व स्वप्न अवस्था में कदापि बंद नहीं होते। केवल सुषुप्ति व समाधि काल में ही बंद पड़ते हैं। और आगे चलकर ये वृत्तियाँ ही कर्मेंद्रियाँ वा

---

* श्रीज्ञानदेव अपने निराले ढंग से परंतु संक्षेप रूप से इस श्लोक की ऐसे व्याख्या करते हैं—"जिस पुरुष को कर्म के विषय कुछ विषाद नहीं होता, परंतु कोई फल की अपेक्षा भी उत्पन्न नहीं होती; और 'मैं यह कर्म करूँगा', अथवा 'यह आरंभ किया हुआ कर्म पूर्ण करूँगा', ऐसे संकल्प से जिसका मन दूषित नहीं होता; जिसने संपूर्ण कर्म ज्ञानरूपी

ज्ञानेंद्रियाँ रूप होकर शरीर का कुल व्यापार करती हैं। और इस अंतःकरण का देह के साथ संबंध तब तक बना ही रहता है जब तक कि उसके प्रारब्ध-भोग खतम नहीं हो लेते। इस प्रकार जब तक किसी देह के प्रारब्ध-भोग खतम नहीं होते, तब तक अंतःकरण अपनी अनेक वृत्तियों से मनुष्य के जीवन पर्यंत संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष, शोक-मोह, कर्तृत्वादि भावना करता ही रहता है। ये व्यापार अंतःकरण की वृत्तियों के नष्ट नहीं किये जा सकते; क्योंकि ये सब उन वृत्तियों के स्वभाव वा धर्म हैं। आत्मा का प्रतिबिंब जब अंतःकरण में पड़ता है और अंतःकरण जब पूर्व भाग्य के अनुसार अनेक वृत्तिरूप से लहराता है, तो उसके साथ आभास भी लहराता दीखता है। यद्यपि बिंबरूप आत्मा अपने स्वरूप में अचल, कूटस्थ और निर्विकार स्थित है, तथापि अविद्या की उपाधि से जब आत्मा (अंतःकरण और उस में अपने आभास अथवा प्रतिबिंब के साथ अभेद होने से) अपने आपको वही आभास व अंतःकरण भान करने लगता है, तो अंतःकरण की उक्त वृत्तियों के सब स्वभाव व धर्म भी वह अपने में भान करने लग जाता है। इस प्रकार वृत्तियों के धर्मों व स्वभावों को अपने धर्म व स्वभाव समझना यही उसकी भ्रांति व अज्ञान है, और इस भ्रांति का दूर होना ही ज्ञान है। और जब तक यह भ्रांति उसकी अपने स्वरूप के बोध व तत्त्वचिंतन से दूर नहीं हो लेती, तब तक वह दूसरों के धर्म व स्वभावों को अपने ही मानता और उनके साथ दुःख-सुख भोगता जन्ममरण के बंधन में अपने को पाता है। और जब वह अपने स्वरूप के बोध से

अग्नि की ज्वाला में जला डाले हैं; सो मनुष्य मनुष्य के रूप में परब्रह्म ही है, ऐसा समझो।"

अंतःकरण की वृत्तियों के सारे व्यापार (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि) अंतःकरण ही के समझने लगता है, अपने में नहीं समझता बल्कि 'गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते' (गी० ३. २८.) इंद्रियाँ वा वृत्तियाँ अपने-अपने स्वभाव में वर्त रही हैं, इस प्रकार सारे कर्म व संकल्प आदि को केवल इंद्रियों वा अंतःकरण के समझता हुआ अपने आपको अकर्त्ता-अभोक्ता साक्षी व असंगात्मा भान करता है, तो समस्त कर्मों के कर्तृत्व आदि संकल्प-विकल्प और उनकी फल-कामनाओं से उसका संबंध नितांत टूट जाता है। इस प्रकार जिस मनुष्य के भीतर इंद्रियों के सब व्यापारों में आत्म-भ्रांति दूर हो गई होती है, और उसके सब व्यापार इस रीति से वास्तव में (अपने स्वरूप की दृष्टि से) काम-संकल्प से रहित हैं, वही पंडित विचारवान् व तत्त्ववेत्ता कहलाता है और उसी के समस्त कर्म उक्त ज्ञानाग्नि से जल गये होते हैं। और उसी के विषय में श्रुतियाँ ऐसे कहती हैं कि—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥" (कठ, ६. १४)

जब सर्वप्रकार की कामनाएँ जो उसके हृदय में स्थित हैं, दूर हो गई होती हैं, अथवा जब हृदय (अंतःकरण) की समस्त कामनाओं के साथ उसका संबंध नितांत टूट गया होता है, तो वह (देखने में) मरनेवाला पुरुष अमरभाव को प्राप्त होता इसी जन्म में ब्रह्मानंद लूटता है और जीवन्मुक्ति का आनंद उठाता है ॥ १९ ॥

संबंध—कहे हुए अर्थ को भगवान् और स्पष्ट करते हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥२०॥

त्यक्त्वा^{4}, कर्म^{1}-फल^{2}-आसङ्गं^{3}	कर्म^{1} फल^{2} में आसक्ति^{3} को त्यागकर^{4}	कर्मणि^{1}, अभि^{2}-प्रवृत्तः, अपि^{3}	कर्म^{1} में प्रवृत्त^{2} हुआ भी^{3}
नित्य^{1}-तृप्तः^{2}, निर्^{4}-आश्रयः^{3}	सदा^{1} तृप्त^{2}, आश्रय^{3} रहित^{4}	न^{4}, एव^{3}, किञ्चित्^{2}, करोति^{5}, सः^{1}	वह^{1} (पुरुष) कुछ^{2} ही^{3} नहीं^{4} करता^{5} है

अन्वयार्थ—कर्मफल में आसक्ति को त्यागकर, नित्य तृप्त और निराश्रय * पुरुष कर्म में प्रवृत्त हुआ भी कुछ ही नहीं करता है ॥ २० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जिसको न कर्म में और न उसके फल में आसक्ति है; अर्थात् जो कर्म में कर्तृत्वादि अभिमानरूप संग नहीं रखता, और उसके फल में उसके भोगने की अभिलाषारूप संग नहीं रखता। जो तुच्छ स्वार्थबुद्धि और तदनुसार कामना वा संकल्प से नितांत निःसंबंध होने से अपने में ही नित्य तृप्त और निराश्रय रहता है; अर्थात् जिसको कर्म में न कर्तृत्व अभिमान है, न उसके फल की कामना है, और न उस द्वारा स्वार्थ वा आत्म-सुख की तृष्णा ही है बल्कि जो अपने आपमें ही सदा संतुष्ट वा तृप्त रहता है; और जो किसी अनात्म वस्तु

---

* 'निराश्रय' शब्द का अर्थ कई एक ने 'घर-गृहस्थी न करनेवाला' (संन्यासी) किया है, पर यह यहाँ युक्त नहीं बैठता। आश्रय का अर्थ निःसंदेह घर, ठिकाना, डेरा और सहारा है, पर इससे अभिप्राय यहाँ कर्त्ता के रहने का स्थान वा ठिकाना नहीं किंतु कर्म का हेतु रूप (तृष्णा, वा फल, अर्थात् स्वार्थ रूप) ठिकाना वा आश्रय है। इसलिए जिसके कर्म बिना स्वार्थबुद्धि वा तुच्छ कामनाओं के आश्रय वा हेतु के होते हैं, वह निराश्रय है। इसी को आगे (गीता ६, १ में) 'अनाश्रितः कर्मफलं' इन शब्दों से स्पष्ट कहा गया है।

वा तृष्णा का सहारा नहीं लिये हुए है, बल्कि जो केवल दूसरों की भलाई अथवा देहयात्रा-निमित्त ही कर्म करता है। ऐसा पुरुष यदि चारों ओर से भी कर्म में प्रवृत्त हो रहा हो, तो वह शरीर से सब कर्म करता हुआ भी वास्तव में कुछ ही नहीं करता होता। अर्थात् वह ऊपर से कर्म का कर्त्ता तो दीखता है, परंतु वास्तव में वह अकर्त्ता और अभोक्ता ही होता है, क्योंकि कर्म में उसकी किसी प्रकार से (अभिमानरूप से अथवा फल की कामनारूप से) आसक्ति नहीं होती ॥ २० ॥*

संबंध—(१) कहे हुए को भगवान् और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) उक्त तृप्तात्मा और निराश्रय पुरुष वास्तव में अकर्त्ता होने से कर्म के बंधन में नहीं फँसता, इसे भगवान् अब और स्पष्ट करते हैं—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

निर्-आशीः, यत-चित्त-आत्मा	आशा-रहित वश किये चित्त, और आत्मावाला	† शारीरं, केवलं, कर्म, कुर्वन्, न, आप्नोति, किल्बिषम्	केवल शरीर से कर्म करता हुआ पाप को नहीं प्राप्त होता
त्यक्त-सर्व-परिग्रहः	सब परिग्रह (मक़बूज़ात) को त्यागा हुआ		

---

* महाभारत (१४, १६, १३) में इस विषय पर यह श्लोक है—

“सर्वसंस्कारनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
तपसा इन्द्रियग्रामं यश्चरेन्मुक्त एव सः ॥”

अर्थ—जो सर्वप्रकार के संस्कारों (संकल्प-विकल्पों) से रहित है, द्वंद्वों से परे और परिग्रहरहित है और तप से इंद्रियों को अपने वश में किये हुए विचरता है, वही मुक्त नर है ।

† “शारीरं केवलं कर्म” के अर्थ प्रायः केवल शरीर के निर्वाहमात्र

अन्वयार्थ—आशारहित, वश किये हुए चित्त और आत्मावाला, सब परिग्रह को त्यागा हुआ (पुरुष) केवल शरीर से कर्म करता हुआ पाप को प्राप्त नहीं होता ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो सर्वप्रकार की आशा से रहित हो, अर्थात् जो स्वार्थबुद्धि से सर्वप्रकार के फलों की आशा, तथा लोक-परलोक के पदार्थों की इच्छा से रहित हो; अंतःकरण और शरीर जिसके वश में हों, अथवा जिसका चित्त अपने आत्मा के वश में हो, या जिसने मन और इंद्रियों को अपने अधीन किया हुआ हो; और जिसने विषय-भोग के सब साधनों (धन, भूमि, स्त्री इत्यादि, अथवा बंधनकारक सब वस्तुएँ वा मक़बूज़ात) के साथ अपना संबंध तोड़ रक्खा हो; ऐसा पुरुष यदि केवल शरीर से कर्म कर रहा हो, अर्थात् केवल शरीर संबंधीय या शरीर के निर्वाहनिमित्त कर्म कर रहा हो, अथवा कर्म का संग त्यागकर केवल शरीर द्वारा कोई कर्म कर रहा हो, तो उन कर्मों से उसे पाप नहीं लगता; अर्थात् ऐसे पुरुष के कर्म उसके लिए न कोई पाप उत्पन्न करते हैं, और न बंधन का ही हेतु होते हैं ॥ २१ ॥

संबंध—केवल मक़बूज़ात के त्यागने पर यह आवश्यक नहीं कि उसे

भिक्षाटन आदि कर्म ही होते हैं, पर ऐसे कर्मों से भी अभिप्राय यही है कि जो निरासक्त मन से, समत्वबुद्धि से और लोकोपकार के उद्देश्य से शरीर द्वारा किये जाते हैं। इसी को आगे (५, ११ में) भगवान् ऐसे कहते हैं कि "शरीर, मन और बुद्धि से वल्कि केवल इंद्रियों से भी योगी लोग कर्म का संग त्यागकर केवल आत्मशुद्धि के लिए कर्म किया करते हैं।"

कोई पाप न लगे, क्योंकि संभव है कि फिर वह उदरपूर्ण की तुच्छ इच्छाओं से प्रेरित होकर कुछ ऐसे यत्न करने लग जाय कि जिससे वह कर्म-बंधन में आ जाय। इस अनुमान वा भ्रम को दूर करने के लिए भगवान् अपने उक्त कथन को अब और स्पष्ट करते हैं—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

यदृच्छा[1]-लाभ[2]-सन्तुष्टः[3]	यदृच्छा[1] लाभ[2] से संतुष्ट[3]	समः[4], सिद्धौ[1], असिद्धौ[3], च[2]	सिद्धि[1] और[2] असिद्धि[3] में सम[4]
द्वन्द्व[1]-अतीतः[2], वि[4]-मत्सरः[3]	द्वंद्व[1] से परे[2], ईर्ष्या[3] (वैर) रहित[4]	कृत्वा[1], अपि[2], न[3], निबध्यते[4]	(कर्म) करके[1] भी[2] वह नहीं[3] बद्ध[4] होता है

अन्वयार्थ—यदृच्छा* लाभ से संतुष्ट, द्वंद्वातीत, ईर्ष्यारहित और

---

* "यदृच्छालाभ" से यह तात्पर्य नहीं कि "मूर्खता से जड़ मूक आलसी बनकर, अथवा जान-बूझकर पुरुषार्थहीन (वा समस्त कर्मों से रहित) होकर, और पूर्ण उल्लू बनकर बैठे रहने से जो वस्तु प्राप्त हो।" इस प्रकार प्राप्त हुई वस्तु संतोष तो नहीं किंतु असंतोष और विषय-कामना उत्पन्न कर देती है। इसलिए तात्पर्य इस पद से यह है कि "स्वार्थ की इच्छा के बिना यत्न करने से या स्वतः जो प्राप्त हो, उस पर संतुष्ट होनेवाला"। अर्थात् जब पुरुष स्वार्थ-कामना न रखकर केवल शरीर-निर्वाहार्थ वा लोकसंग्रहार्थ कर्म कर रहा हो, उस निःस्वार्थ अवस्था में जो प्राप्त हो, अथवा बिना दौड़धूप और इच्छा के जो स्वतः प्राप्त हो, उस पर संतुष्ट रहनेवाला। वास्तव में गीता का रहस्य भी यही है कि जो स्वार्थ की कामना से कर्म किया जाता है, उसका फल असंतोष, विषय-कामना की वृद्धि और हर्ष-शोक वा सुख-दुःखरूपी द्वंद्वों की अधीनता बढ़ाता है। और जो निःस्वार्थबुद्धि वा निष्कामभाव से कर्म

सिद्धि-असिद्धि में सम पुरुष (कर्म) करके भी बंधायमान नहीं होता ॥ २२ ॥ *

व्याख्या—हे अर्जुन ! स्वतः वा विना इच्छा के प्राप्त हुई, अर्थात् दैवयोग से अथवा समयानुसार, या विना स्वार्थबुद्धि द्वारा यत्न के, वा विना स्वार्थकामना के प्राप्त हुई वस्तु पर संतोष करनेवाला; और उस स्वतः प्राप्त हुई वस्तु के कारण, अथवा किसी अन्य कारण से जब ये शीतोष्ण, सुख-दुःख इत्यादि द्वंद्व उठें, तो उन द्वंद्वों से किंचित्-मात्र भी चलायमान न होनेवाला, अर्थात् द्वंद्वों से परे टपा हुआ; ईर्ष्या (हसद) से रहित, अर्थात् निर्वैर; और कर्म की सिद्धि वा असिद्धि में एक समान रहनेवाला; अर्थात् लाभ-हानि और जीत-हार में एक समान चित्त रखनेवाला पुरुष जब कोई कर्म करने लगता है, तो

किया जाता है, उससे भी फल तो (सकाम कर्मवत्) प्राप्त होता है, परंतु वह फल संतोष, निष्कामता की वृद्धि, और सुख-दुःख आदि द्वंद्वों से अचल और निराधीन अवस्था उत्पन्न करता है, और किसी प्रकार की लिपायमानता, आसक्ति और ईर्ष्या भी उस फल के भोगनेवाले में उत्पन्न होने नहीं पातीं। इसीलिए भगवान् ने "यदृच्छा-लाभसन्तुष्टः" के साथ 'द्वन्द्वातीतः', 'विमत्सरः' और 'समः सिद्धावसिद्धौ' विशेषण भी दिये हैं। और इसी निष्कामभाव और निरासक्ति से कर्म करने का परिणाम भी भगवान् स्वयं यहाँ अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं।

* इस पर महाभारत (१४, १६, ५) में ऐसे वर्णन है—

"न कस्यचित् स्पृहयते न च जानाति कञ्चनम् ।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः ॥"

अर्थ—जो (अपने आत्मा से इतर) कुछ नहीं चाहता, कुछ नहीं जानता, निर्द्वंद्व और सबसे संगरहित है, वह नित्य मुक्त ही है।

वह करते हुए भी कर्म-बंधन में फँसने नहीं पाता, अर्थात् ऐसे पुरुष के कर्म उसे बंधायमान कदापि नहीं कर सकते ॥ २२ ॥

संबंध—ऐसे पुरुषों के कर्म का परिणाम फिर क्या होता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

गत-सङ्गस्य,	दूर हुए संगवाले	यज्ञाय,	यज्ञार्थ आचरण
मुक्तस्य	मुक्त पुरुष का	आचरतः,	करनेवाले का
ज्ञान-अवस्थित-	ज्ञान में स्थित	कर्म, समग्रं,	समग्र कर्म विलीन
चेतसः	चित्तवाले का	प्रविलीयते	हो जाता है

अन्वयार्थ—दूर हुए संगवाले, मुक्त, ज्ञान में स्थित चित्तवाले और यज्ञार्थ आचरण करनेवाले पुरुष का कर्म समग्र विलीन हो जाता है ॥ २३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिसकी कर्म तथा कर्मफल में किंचित् भी आसक्ति नहीं, अथवा जिसका मन लोक और परलोक के पदार्थों में नितांत आसक्त नहीं, बल्कि जो देहाध्यास, अर्थात् "मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ", इस प्रकार के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के अध्यास से छूटा हुआ (मुक्त) है ; या जो रागद्वेष, सुख-दुःख आदि द्वंद्वों के संबंध से मुक्त (आज़ाद) है। जिसका चित्त अपने आत्मज्ञान में स्थित (टिका हुआ) है। और (आगे जो कहे जायँगे १२ प्रकार के यज्ञ केवल इन) यज्ञों की सिद्धि वा रक्षा के लिए जो कर्म करता है ; अथवा "यज्ञो वै विष्णु" इत्यादि वाक्यों के

अनुसार केवल ईश्वरार्पणार्थ जो कर्म करता है। इस प्रकार जो पुरुष केवल यज्ञ-निमित्त कर्म (ईश्वरार्पण-निमित्त, लोगों के हित में या सर्व प्राणियों के भले और रक्षा के निमित्त कर्म) को भी विना किसी प्रकार की आसक्ति, स्वार्थकामना और राग-द्वेष के करता है। ऐसे महापुरुष का कर्म सहित फल के सारे का सारा विलीन हो जाता है। अर्थात् तत्त्व-ज्ञानरूप अग्नि के कारण उसकी कर्मवासना, जो बंधन का कारण होती है, नितांत नाश हो गई होती है। संक्षिप्त तात्पर्य यह कि उक्त विशेषणोंवाले * महात्मा के सब कर्म विना कोई बंधन उत्पन्न किये ही नितांत नाश हो जाते हैं, इसलिए ऐसा पुरुष कदापि कर्मबंधन में फँसने नहीं पाता। इसी आशय को भगवान् पहले (अध्याय ३, श्लो० ९ में) ऐसे स्पष्ट कर चुके हैं कि "यज्ञार्थ कर्मों के सिवाय अन्य सब कर्मों से यह लोक बंधन को प्राप्त होता है। इसलिए हे अर्जुन! तू कर्म के संग से रहित होकर केवल यज्ञार्थ कर्म कर।" इसी को अब दूसरे रूप से यहाँ दर्शाया है ॥ २३ ॥

संबंध--भला उक्त पुरुषों का कर्म क्यों विलीन हो जाता है? उक्त पुरुष कर्म करते हुए भी बंधन को क्यों प्राप्त नहीं होते? और क्यों ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं? इस रहस्य को भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

---

* "गतसङ्गस्य, मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः" ये जो तीन पाद से तीन विशेषण कहे हैं। इनमें पूर्व-पूर्व विशेषण की सिद्धि में उत्तर-उत्तर विशेषण कारण है। क्योंकि विना आत्मज्ञान में निरंतर स्थितचित्त होने के देहाध्यास अथवा कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अध्यास वास्तव में दूर होता नहीं। और विना अध्यास के दूर हुए कर्मों के साथ कर्तृत्व संबंध, अथवा उनकी फल-कामना का संबंध अथवा लोक-परलोक के पदार्थों में संग-दोष दूर होते ही नहीं। इसलिए ये तीनों विशेषण परस्पर कारण-कार्यभाव रखते हैं।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

ब्रह्म, अर्पणं, ब्रह्म, हविः	ब्रह्म अर्पण है, ब्रह्म हवि है	ब्रह्म, एव, तेन, गन्तव्यं	ब्रह्म ही उससे प्राप्त होना है
ब्रह्म-अग्नौ, ब्रह्मणा, हुतम्	ब्रह्म अग्निमें ब्रह्मसे होम किया गया है	ब्रह्म-कर्म- समाधिना	ब्रह्म-कर्म में समाधि से

अन्वयार्थ— अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्म अग्नि में ब्रह्म से होम किया गया है, इस प्रकार ब्रह्मरूप कर्म में समाधान चित्त से ब्रह्म ही प्राप्त होगा ।। २४ ।।

व्याख्या—हे अर्जुन! उक्त पुरुष को यज्ञ-कर्म भी बंधायमान इसलिए नहीं करते, बल्कि ऐसे कर्म करते हुए भी ज्ञानवान् पुरुष ब्रह्म (मुक्ति) को प्राप्त इसलिए होता है कि कर्म करते समय उसकी दृष्टि वा निश्चय में कर्त्ता, कर्म और करण सब ब्रह्म ही हुए होते हैं । अर्थात् उसके ध्यान में अर्पण (स्रुवादि करण जिससे आहुति दी जाती है) है तो ब्रह्म; हवि (घृत, तिल इत्यादि द्रव्य जो यज्ञाग्नि में डाले जाते हैं) है तो ब्रह्म; ब्रह्मरूप अग्नि में होता (होम करनेवाला) है तो ब्रह्म; और कर्म है तो ब्रह्म । इस प्रकार ब्रह्मरूप कर्म में ब्रह्मध्यान द्वारा चित्त की एकाग्रता वा निरोध से वह ज्ञानवान् अवश्य ब्रह्म को ही प्राप्त होता है, और किंचित्-मात्र भी कर्म से लिपायमान व बंधायमान होने नहीं पाता । उलटा उसके कर्म सहित फल के नितांत यहीं विलीन हो जाते हैं ॥२४॥*

---

* इसी आशय को लिये हुए वेदों में ऐसे मंत्र आये हैं—"ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरगामितो । अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणयन्तर्हितं

संबंध—सर्वत्र ब्रह्मदर्शन को यज्ञ का रूपक बाँधकर अब उसी ज्ञानयज्ञ की पुनः स्तुति करने के लिए तथा अन्य यज्ञों से उसकी श्रेष्ठता

हविः ॥ १ ॥ ब्रह्मस्रुवो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदि रुद्धिता । ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः । संमिताय स्वाहा ॥ २ ॥”=ब्रह्म होता है, ब्रह्म यज्ञ है, ब्रह्म से स्वर् (स्वर्लोक) को प्राप्त होता है । अध्वर्युं ब्रह्म से प्रकट होता है, ब्रह्म में हवि लीन होती है ॥ १ ॥ ब्रह्म ही घी वाला स्रुवा है, ब्रह्म से वेदि बनाई गई है, ब्रह्म ही यज्ञ का तत्त्व है, और जो हवि बनानेवाले ऋत्विज् हैं, वे भी ब्रह्म ही हैं । सबका तद्रूप हुए ब्रह्म (अथवा सबके सदृश हुए ब्रह्म) के तईं स्वाहा ॥ २ ॥ (अथर्व १९ । ४२)

उक्त श्लोक का आशय इस श्रुति से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है—“ब्रह्मप्रतिष्ठा मनसो ब्रह्मवाचः ब्रह्म यज्ञानां हविषामाज्यस्य”=ब्रह्म प्रतिष्ठा है मन की, ब्रह्म ही वाणी की, ब्रह्म ही यज्ञों की, और ब्रह्म ही हवियों और आज्य की प्रतिष्ठा है । (तै० ब्राह्मण; ३ । ७ । ११ । १) इस प्रकार जब कोई पुरुष अपना कर्म ब्रह्ममय बना लेता है, अर्थात् समस्त कर्म में ब्रह्म ही देखता है, तो उसका फल ब्रह्मप्राप्ति ही होता है, न कि संसार; क्योंकि इस रीति से उसके चित्त की एकाग्रता, स्थिति वा समाधि ब्रह्मध्यान में है, अर्थात् अभेदता ब्रह्म से है, न कि नामरूप संसार से । और क्योंकि “ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति”=ब्रह्म का जाननेवाला ब्रह्म ही होता है, इसलिए वह सर्व व्यवहार में ब्रह्म देखनेवाला इन कर्मों द्वारा भी ब्रह्म को ही प्राप्त होता है, अन्य दशा को नहीं । और दूसरे कर्मी लोग कर्म करते समय ऐसा ध्यान नहीं रखते, इसलिए वे नामरूप संसार को ही प्राप्त होते रहते हैं।

श्रीज्ञानदेवजी इस श्लोक की अपने निराले ढंग से ऐसे व्याख्या करते हैं—

उक्त पुरुष के कर्म क्यों विलीन हो जाते हैं ? कारण, “यह यज्ञ है और मैं यज्ञ-कर्त्ता हूँ, अथवा इस यज्ञ में यह भोगता है ।” इस प्रकार उसके बुद्धि की भिन्नता नहीं रहती । जिस इष्ट यज्ञ का वह हवन करता है,

दर्शन के आशय से भगवान् अन्य प्रकार के यज्ञों को भी ९ श्लोकों में अर्थात् श्लोक ३३ तक वर्णन करते हैं—

अथवा (२) सीधा ब्रह्म में लीन करानेवाले ब्रह्मयज्ञ को यथार्थ रूप से दर्शाकर अब भगवान् अधिकारी भेद से ब्रह्मप्राप्ति के उपाय भूत अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन करते हैं कि जिससे अर्जुन को ब्रह्मयज्ञ और अन्य नाना प्रकार के यज्ञों में परस्पर भेद मालूम हो जाय, और ब्रह्मयज्ञ की महिमा प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाय—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

दैवं^{३}, एवं^{५}, अपरे^{१}, यज्ञं^{४}, योगिनः^{२}, पर्युपासते^{६}	कई^{१} एक योगी^{२} दैव^{३} यज्ञ^{४} को ही^{५} उपासते^{६} हैं	ब्रह्म^{२}-अग्नौ^{३}, अपरे^{१}, यज्ञं^{४}, यज्ञेन^{५}, एव^{६}, उपजुह्वति^{७}	दूसरे^{१} ब्रह्म^{२}अग्नि^{३} में यज्ञ^{४} को यज्ञ^{५} से ही^{६} होमते^{७} हैं

अन्वयार्थ—कई एक योगी * दैवयज्ञ को ही उपासते हैं, और

और जिस होम, मंत्र और द्रव्यों से यजन करता है, सो वह आत्मरूप जान अविनाशी समझता है। इसलिए हे धनुर्धर ! जो ब्रह्म सोई कर्म है, ऐसी जिसकी सम बुद्धि हो गई है, उसे कर्त्तव्य ही निष्कर्मता है।

* यहाँ यह बात याद रखने योग्य है कि जो पुरुष आत्मोन्नति-निमित्त स्वार्थबुद्धि से दैवयज्ञ करनेवाले हैं, उनको भी भगवान् ने योगी कहा है, जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जो लोग आत्मोन्नत्ति-निमित्त अर्थात् अंतःकरण की शुद्धि के लिए अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मरूप से दैवयज्ञ करा करते थे, वे भी उन दिनों योगी माने जाते थे। और योगी माने क्यों न जायँ ? निष्कर्म योग को प्राप्त होनेवाले तो पहले ये सकामी

दूसरे ब्रह्माग्नि में यज्ञ * को यज्ञ से ही होमते हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अग्नि, इंद्र, वायु आदिक देवता जिस कर्म से संतुष्ट किये जायँ, उसका नाम यहाँ दैवयज्ञ है। कई एक कर्मयोगी जो उक्त ब्रह्मदृष्टि से रहित हैं, और केवल आत्मशुद्धि के लिए यज्ञकर्म-परायण रहते हैं, वे देवताओं का आराधन करते हैं, और उनकी पुष्टि के लिए उनके तई उनका आहार देते हैं, अर्थात् दर्शपौर्णमास, ज्योतिष्टोम आदिक यज्ञ करते हैं। इस यज्ञ से वे अन्न, वृष्टि, पशु, पुत्रादि अर्थात् गृहस्थियों की अर्थ साधक वस्तुएँ और चित्तशुद्धिरूप फल पाते हैं । और दूसरे जो कर्म में ब्रह्मदृष्टि रखते हैं (जैसा कि पूर्व श्लोक में दर्शाया गया है), अथवा जो सकाम यज्ञ करते-करते अब निष्काम चित्त अर्थात् शुद्ध अंतःकरण हो गये हैं, वे ब्रह्माग्नि में यज्ञ से यज्ञ को ही होमते हैं; अर्थात् ब्रह्मज्ञानरूपी अग्नि में ब्रह्मरूप यज्ञ को ब्रह्मध्यानरूपी यज्ञकर्म से होमते हैं; अथवा ब्रह्मध्यानरूपी अग्नि में आत्मसमर्पण रूप यज्ञ को मन-बुद्धि अर्पित रूप यज्ञकर्म से होमते हैं; अर्थात्

(स्वार्थसिद्धि-निमित्त कर्म करनेवाले) योगी ही होते हैं, न कि उल्लू बनकर बैठनेवाले अज्ञानी और आलसी पुरुष । आलस्य-अवस्था तो कर्म-रहित दशा (Lawlessness state) है, और कर्म-अवस्था कर्मपथपरायण (Lawful state, or state through Laws) है, और निष्कर्म-अवस्था (beyond Laws) अकर्म है । यह नियम है कि आलसी पुरुष इस कर्म-अवस्था द्वारा ही निष्कर्म वा निष्काम-अवस्था को प्राप्त होता है (From Lawlessness, through Laws and then beyond Laws) । इसलिए स्वार्थसिद्धि-निमित्त कर्म करनेवाला कर्मी पुरुष निःस्वार्थ-अवस्था की प्राप्ति का प्रथम अधिकारी होने से योगी नाम से कहा गया है ।

* यज्ञ शब्द के अर्थ श्रीशंकराचार्य ने यहाँ आत्मा के लिए हैं ।

अपने आपका अपने आपमें अपने आत्मिक बलसे हवन करते हैं, जिससे वे ब्रह्मप्राप्तिरूप फल को पाते हैं॥ २५॥ *

---

* इस श्लोक में भगवान् ने दो प्रकार के यज्ञ वर्णन किये हैं जो पूर्वोक्त ब्रह्मकर्मरूप यज्ञ से भिन्न समझे जाते हैं। पहला यज्ञ जो दैवयज्ञ नाम से वर्णन किया है उससे अभिप्राय वह श्रौतयज्ञ है कि जो देवताओं की पुष्टि के निमित्त किया जाता है, जिसके करने से गृहस्थियों को अर्थसाधक वस्तुओं की वृद्धि व चित्तशुद्धि होती है। अथवा "देव इज्यते येन तद्दैवं।' दैवयज्ञ वह है जिससे देवता अर्थात् अग्नि, इंद्र, वायु आदि साकार देवता की उपासना की जाती है, और जिस उपासना का उद्देश्य वा फल केवल चित्तशुद्धि है। दूसरा यज्ञ जो ब्रह्माग्नि में किया जाता कहा गया है, उक्त दैवयज्ञ से एक रीति से तो कुछ-कुछ भिन्न है, और दूसरी रीति से नितांत भिन्न है। जब उक्त श्रौतयज्ञ इस रीति से किया जाता है कि उसमें न केवल इंद्र आदि साकार देवताओं का ही आवाहन होता है किंतु उन द्वारा निराकार ब्रह्म का भी आवाहन होता है, अर्थात् (पहले) श्रौतयज्ञ में तो केवल स्वार्थसिद्धि व चित्तशुद्धि के लिए साकार देवताओं की ही उपासना होती है, और इस (दूसरे) श्रौतयज्ञ में ब्रह्मप्राप्ति-निमित्त इंद्र आदि देवताओं द्वारा निराकार ब्रह्म की उपासना होती है, तो वह ब्रह्मयज्ञ कहलाता है, क्योंकि इस विधि से ब्रह्म वा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती मानी जाती है। और इस यज्ञ द्वारा ऐसा ध्यान बाँधा जाता है कि—

"आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥"

जैसे आकाश से जो जल गिरता (बरसता) है, वह सबका सब समुद्र में चला जाता है, वैसे सब देवताओं के तईं किया हुआ नमस्कार अंत में विष्णु भगवान् को पहुँच जाता है। क्योंकि इस यज्ञ वा ध्यान से निराकार ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जिस ब्रह्मप्राप्ति रूप ज्ञान को शास्त्र अग्नि के तुल्य महिमा देते हैं, इसलिए इस यज्ञ में भगवान् ने यज्ञ को यज्ञ से ब्रह्माग्नि में होम किया गया कहा है। इस रीति से ये दोनों हैं तो श्रौतयज्ञ,

और—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

जिससे परस्पर एक समान हैं; पर भेद इनमें इतना है कि एक से तो स्वार्थसिद्धि अर्थात् स्वर्गादि भोगों व चित्तशुद्धि की प्राप्ति होती है, और दूसरे से ब्रह्मप्राप्ति वा ब्रह्मलोक की प्राप्ति; एक में तो साकार देवताओं की उपासना होती है, और दूसरे में निराकार परमात्मदेव, अर्थात् ब्रह्म, की। दूसरी रीति से यज्ञ शब्द के अर्थ आत्मा के हैं, जैसे कि निरुक्त के कर्त्ता श्रीयास्काचार्य ने किये हैं। यह आत्मा ही ब्रह्म है जो "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादि वाक्यों से स्वतः प्रकाशरूप होने के कारण अग्निरूप वर्णन किया जाता है। उस ब्रह्मरूप अग्नि में कई लोग आत्मा को समर्पण करते हैं, अर्थात् आत्मसमर्पण रूप यज्ञ को करते हैं। इसमें केवल आत्मा ही का काम है, बाहर के और काम इसमें कुछ करने नहीं पड़ते। अर्थात् इस यज्ञ में ब्रह्म-ध्यानरूप अग्नि है जिसमें मन-बुद्धिरूप आत्मा की आहुति दी जाती है, श्रौतयज्ञ के समान लकड़ियों की अग्नि नहीं जिसमें कि द्रव्यों की आहुति की जाती है। इसलिए यह यज्ञ उक्त श्रौतयज्ञ अर्थात् दैवयज्ञ से नितांत भिन्न है।

यदि यज्ञ शब्द के साधारण अर्थ भी लिये जायँ, तो भी अंत में यही अर्थ होते हैं। ऊपर जो दैवयज्ञ वर्णन हुआ है, उससे स्पष्ट है कि साधारण यज्ञ करते-करते मन की शुद्धि होती है। और मन (अंतःकरण) की शुद्धि से पुरुष ज्ञान का अधिकारी होता है, जिस ज्ञान के पाने पर पुरुष नितांत निष्काम चित्त हो जाता है। इस प्रकार जब स्वार्थसिद्धि की समस्त कामनाएँ दूर हो जाती हैं, और पुरुष ज्ञानारूढ़ हो जाता है, तो फिर उसे स्वार्थबुद्धि से कर्मों (यज्ञों) की आवश्यकता नहीं रहती। मानों यज्ञ ही फिर ब्रह्माग्नि, अर्थात् ज्ञान, में उक्त दैवयज्ञ द्वारा समाप्त हो जाता है, वही यहाँ हवन है। (इससे आगे का फ़ुटनोट पृष्ठ ५२३ पर देखो)

श्रोत्र^{1}-आदीनि^{2}, इन्द्रियाणि^{3}	श्रोत्र^{1} आदि^{2} इन्द्रियों^{3} को	शब्द^{2}-आदीन्^{3}, विषयान्^{4}, अन्ये^{1}	कई^{1} एक शब्द^{2} आदि^{3} विषयों^{4} को
अन्ये^{1}, संयम^{2}-अग्निषु^{3}, जुह्वति^{4}	कई^{1} एक संयम^{2}रूपी अग्नियों^{3} में होमते^{4} हैं	इन्द्रिय^{1}-अग्निषु^{2}, जुह्वति^{3}	इन्द्रिय^{1}रूपी अग्नियों^{2} में होमते^{3} हैं

इसी आशय को लेकर श्रीशंकराचार्य वा अन्य कई एक टीकाकारों ने इस यज्ञ की ऐसे व्याख्या की है कि "कर्मयज्ञ को कहकर अब अंतःकरण की शुद्धि द्वारा प्राप्त होनेवाला (कर्मयज्ञ का फलभूत) जो ज्ञानयज्ञ है उसे भगवान् ऐसे वर्णन करते हैं कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २, १) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० ३, ६, २८) इत्यादि श्रुतियों से वर्णित जो तत्पदार्थरूप ब्रह्म है, वह (साक्षात्कार होने पर) सब काम्य कर्मों (वा स्वार्थ वासनाओं) का दाहक होने से अग्नि के समान अग्निरूप है, उस ब्रह्माग्नि में कई एक तत्ववेत्ता त्वंपदार्थरूप प्रत्यक् आत्मा (वा परिच्छिन्न अपने आप) को अभिन्न रूप से होम करते हैं, अर्थात् त्वंपदार्थरूप प्रत्यक् आत्मा को तत्पदार्थरूप ब्रह्म करके अनुभव करते हैं। इस प्रकार यज्ञ से यज्ञ को ब्रह्माग्नि में होमते हैं।"

इस ब्रह्मयज्ञ पर श्रीतिलक महाराज अपना विचार ऐसे प्रकट करते हैं—"पुरुषसूक्त में विराटरूपी यज्ञ-पुरुष के, देवताओं द्वारा, यजन होने का जो वर्णन है—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (ऋ० १०, ९०, १६), उसी को लक्ष्य कर इस श्लोक २५ का उत्तरार्ध कहा गया है। 'यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति' ये पद ऋग्वेद के 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' से समानार्थक ही देख पड़ते हैं। प्रकट है कि इस यज्ञ में, जो सृष्टि के आरंभ में हुआ था, जिस विराटरूपी पशु का हवन किया गया था, वह पशु, और जिस देवता का यजन किया गया था वह देवता, ये दोनों ब्रह्मस्वरूपी होंगे। सारांश, चौबीसवें श्लोक का यह वर्णन ही तत्त्व-दृष्टि से ठीक है कि सृष्टि के सब पदार्थों में सदैव ही ब्रह्म भरा हुआ है, इस कारण इच्छारहित

अन्वयार्थ—कई एक श्रोत्रादि इंद्रियों को संयमरूपी अग्नियों में होमते हैं। और कई एक शब्दादि विषयों को इंद्रियरूपी अग्नियों में होमते हैं॥ २६ ॥

व्याख्या—कई पुरुष प्रत्याहार-परायण होकर चक्षु-श्रोत्रादि पंच ज्ञानेंद्रियों को विषयों से हटाकर उन्हें संयमरूपी * अग्नियों में होमते हैं, अर्थात् इंद्रियों को अपने वश में करते हैं; और इस प्रकार इंद्रियों को अपने वश में रखना होम कहलाता है। अथवा † धारणा, ध्यान और समाधि, योग के इन तीन

बुद्धि से सब व्यवहार करते-करते ब्रह्म से ही सदा ब्रह्म का यजन होता रहता है, केवल बुद्धि वैसी होनी चाहिए। पुरुषसूक्त को लक्ष्य कर गीता में यही एक श्लोक नहीं है, प्रत्युत आगे दसवें अध्याय (१०, ४२) में भी इस सूक्त के अनुसार वर्णन है।

* प्रत्येक इंद्रिय में संयम का भेद होने से, अथवा धारणा, ध्यानादि संयमों के भेद से "संयमाग्निषु" संयम अग्नियाँ करके बहुवचन दिया है।

† (१) धारणा=किसी विषय में उसका विचारपूर्वक ज्ञान उत्पन्न करने के लिए हृदय स्थान में जो चित्त का चिरकाल तक स्थापन करना है, उसे धारणा कहते हैं।

(२) ध्यान=इस प्रकार धारण किये हुए चित्त की भगवत्-आकार सजातीय वृत्तियों का प्रवाह ध्यान कहलाता है। अथवा धारणा से जो किसी विषय में विचार द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ हो, उसी तत्त्व पर धारण किये हुए चित्त का लगातार लगना अर्थात् मनन वा चिंतन करना ध्यान कहलाता है।

(३) समाधि=तत्त्व के ध्यान में डूब जाना जिससे वह तत्त्व खुल जाय, अर्थात् साक्षात्कार हो जाय, समाधि कहलाता है। इस समाधि के दो भेद हैं, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात।

(क) संप्रज्ञात=चित्त की तत्त्व के ध्यान में ऐसी एकाग्रता कि जिसमें

पिछले अंगों को संयम कहते हैं; इन तीनों में इंद्रियों का लय करना संयमरूपी अग्नियों में होम करना है, कई एक ऐसा यज्ञ करते हैं। और कई एक इसके विरुद्ध शब्द-स्पर्शादि विषयों को इंद्रियों की अग्नि में होमते हैं, अर्थात् इंद्रियों को शास्त्रोक्त विषयों में लगाते हैं, जिससे विषय तो भोगते हैं; परंतु चित्त पर उन विषयों का किंचित् प्रभाव नहीं पड़ने देते, जिससे विषयों के वश इंद्रियों को नहीं होने देते, और विषयों का प्रभाव इंद्रियों से आगे (चित्त तक) न बढ़ने के कारण, अर्थात् इंद्रियों तक ही रहने के कारण, वे विषय मानों इंद्रियों में ही स्वाहा होते हैं। अथवा नाना पुरुषों की इंद्रियों के योग्य विषयों को उनकी इंद्रियों के अर्पण करते हैं, अर्थात् नाना पुरुषों को योग्य भोजन देते हैं, जिससे भारी यज्ञ करते हैं। इस प्रकार विषयों के वश में न होकर इंद्रियों से विषय भोगना, अथवा औरों की इंद्रियों को भोजन देना भी यज्ञ है, जो भगवान् ने चौथा वर्णन किया है ॥ २६ ॥ *

ध्येयाकार वृत्ति का लोप न हो, उस अवस्था का नाम संप्रज्ञात समाधि होता है।

(ख) असंप्रज्ञात=जिस एकाग्रता में ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध हो जाय, उस अवस्था का नाम असंप्रज्ञात समाधि होता है।

* तात्पर्य इस सबका यह है कि ये जो पाँच कर्मेंद्रियाँ और पाँच ज्ञानेंद्रियाँ हैं, साधारणतः इनका झुकाव विषयों की ओर ही होता है, जिससे ये दो काम देती हैं, एक यह कि इनके द्वारा ब्रह्मांड जाना जाय, और दूसरा यह कि नित्यप्रति विषयों के परिचय वा भोग से ये मन को सुख पहुँचायें। संसार में बहुधा दूसरा काम ही इंद्रियों से लिया जाता है, जो अंत में बड़ी बुराइयों का कारण होता है। इस काम से इंद्रियाँ चित्त को विषयों का दास कर देती हैं और आत्मोन्नति की जड़ काट डालती हैं। परंतु जो पहला काम (इंद्रियों द्वारा विषयों के तत्त्व जानने का) है,

और—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

उससे चित्त संकल्प वा विचारशक्ति द्वारा नये-नये नमूने ब्रह्मांड के उत्पन्न कर लेता है, जिससे विषयों का यथार्थ ज्ञान होने से न चित्त उन विषयों का दास होने पाता है और न उसे कुछ फिर कर्त्तव्य ही बाक़ी रहता है। यह ध्यान, जिससे इंद्रियों का और इंद्रियों द्वारा विषयों का तत्त्व जाना जाय, संयम कहलाता है । इस संयम का यह परिणाम होता है कि इंद्रियाँ विषयों के रस बढ़ाने का काम करने के योग्य नहीं रहतीं । यही उनकी (सांसारिक) शक्ति का संयम की अग्नि में होम है ।

यह तो रहा इंद्रियों का तत्त्व । अब विषयों का तत्त्व यह है कि इनके संयोग से इंद्रियों की अग्नि की तृप्ति और उससे सुख की प्राप्ति होती है । यदि यह समझ लिया जाय कि ये शब्द-स्पर्शादि विषय इंद्रियों के लिए सुख के द्वार हैं तो इस समझ से ये विषय इंद्रियों को अपना दास बना लेते हैं । और इंद्रियाँ अपना ठीक-ठीक काम करने के योग्य नहीं रहतीं । इस रीति से तो इंद्रियाँ विषयों की अग्नि में होम होती हैं, न कि इंद्रियों की अग्नि में विषय। परंतु जब इस समझ को दूर करके विषय-वासना के प्रचार को रोका जाय, तो इंद्रियाँ विषयों की दास नहीं होतीं, और फिर स्वाभाविक नियम से तत्त्वज्ञान की ओर ही झुकती हैं । इस रीति से विषय भोगते हुए भी इंद्रियों का विषयों के वश में न आना मानों इंद्रियों की अग्नि में विषयों का होम होना है । इस विधि से इंद्रियों की शक्ति आत्मज्ञान में सहायता देने के लिए तो बढ़ती है पर विषयों की ग़ुलामी से छुड़ाती है ।

इस रहस्य के दर्शाने का उदाहरण पुस्तकों में ऐसा आया है कि "एक दिन एक पाठशाला के दो विद्यार्थियों को आधे दिन की छुट्टी जंगल की सैर करने के लिए दी गई । जब वे सैर से वापस आये, तो गुरु ने उनसे

सर्वाणि^{2}, इन्द्रिय^{3}-कर्माणि^{4}, प्राण^{6}-कर्माणि^{7}, च^{5}, अपरे^{1}	कई^{1} एक सारे^{2} इन्द्रियों^{3} के कर्मों^{4} और^{5} प्राण^{6}-कर्मों^{7} को	आत्म^{3}-संयम^{4}-योग^{5}-अग्नौ^{6}, जुह्वति^{7}, ज्ञान^{1}-दीपिते^{2}	ज्ञान^{1} से प्रज्वलित^{2} आत्म^{3} संयम^{4}-रूपी योग^{5} को अग्नि^{6} में होमते^{7} हैं

अन्वयार्थ——और कई एक सर्व इंद्रिय-कर्मों तथा प्राण-कर्मों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्म-संयमरूपी योगाग्नि में होमते हैं ॥ २७ ॥

व्याख्या——इस श्लोक से तीन आशय प्रकट होते हैं, जो अपने-अपने स्थान पर सब ठीक बैठते हैं——

(१) पहला आशय यह है कि सदसत् के विवेक द्वारा अपने आपको, अर्थात् अपने मन, बुद्धि इत्यादि को वश में करने से शुद्ध अंतःकरण में जो परोऽक्षज्ञान वा संप्रज्ञात समाधि होती है, और उस (परोऽक्षज्ञान वा संप्रज्ञात समाधि) में चित्तवृत्ति

सैर का हाल पूछा । एक ने सारा हाल जंगल का कह सुनाया । जो वृक्ष, लता, पुष्प इत्यादि देखे थे, सब सविस्तर कह सुनाये । दूसरे से कुछ न कहा गया । यद्यपि उसने भी सब वे ही वस्तुएँ देखी थीं, परंतु वह कुछ न बता सका । कारण इसका यह है कि पहले विद्यार्थी ने विषयों को इंद्रियों की अग्नि में हवन कर दिया था जिससे उसका चित्त विवेक की ओर झुका रहा, और वस्तु के ज्ञान में उसे सहायता देता रहा । दूसरे का चित्त विषयों का दास हो रहा था । उसने यद्यपि सब वस्तुएँ देखीं, परंतु देखने से केवल इतना ही हुआ कि उसका चित्त प्रसन्न तो हो गया, पर इससे आगे उसे कुछ विवेक न हुआ । बस, योगी और साधारण मनुष्यों में इतना ही भेद है ।

के पूर्ण स्थिर तथा अत्यंत निरुद्ध होने से जो अपरोऽक्षज्ञान वा असंप्रज्ञात समाधि होजाती है, उसको ज्ञान से प्रज्वलित आत्मसंयम योगाग्नि कहते हैं, इस आत्म-संयमरूपी योगाग्नि के प्रचंड होने पर सारे इंद्रियों के कर्म तो भस्मीभूत हो जाते हैं, और प्राणों के कर्म शिथिल पड़ जाते हैं। अर्थात् जैसे सर्वसाधारण पुरुष यहाँ जीने की इच्छा तथा अर्थों की इच्छा के अधीन होकर श्वासादि लेते और कर्म करते रहते हैं (जिससे इंद्रियों और प्राणों के कर्मों को वे इच्छारूपी अग्नि में होमते हैं), ऐसे ज्ञानवान् पुरुष नहीं करते। उनके भीतर तो ज्ञानाग्नि के प्रचंड होने पर लोक-परलोक की इच्छा तथा जीने की भी इच्छा जाती रहती है। यदि वे कर्म करते हैं तो स्वाभाविक, या भगवत्-निमित्त, अथवा लोगों के कल्याण-निमित्त करते हैं; यदि वे प्राण लेते हैं तो जीने की इच्छा से नहीं, किंतु प्रारब्धानुसार स्वाभाविक लेते हैं; और संसार वा जीने से इतने उपराम हुए होते हैं कि शरीर छूटने की घड़ी की बाट ताकते रहते हैं। ऐसे महात्मा के मरने पर प्राण उत्क्रांत नहीं होते बल्कि समष्टि प्राणों में लीन हो जाते हैं, और न उनके कर्म पुनर्जन्म बनाते हैं, बल्कि जो कुछ वे करते हैं, वे सब ज्ञानाग्नि में दग्ध हो जाते हैं, क्योंकि कर्म के समय उनके भीतर कोई कर्तृत्वादि भाव नहीं होता बल्कि हृदय में दृढ़ निश्चय वा ज्ञान यह होता है कि "मैं अजन्मा, अविनाशी, अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी हूँ"। इस प्रकार कई एक महात्मा आत्मज्ञान से प्रचंड की हुई आत्म-संयमरूपी योगाग्नि में इंद्रियों के और प्राणों के कर्मों को होमते रहते हैं।

(२) दूसरा आशय यह है कि आत्मा में जो संयम, अर्थात् ज्ञानेंद्रियों का मन के वश करना है, और फिर समत्वबुद्धि द्वारा जो कर्मेंद्रियों से कर्म में युक्त होना है, यही आत्म-संयम-योगाग्नि

है। और समत्वबुद्धि से कर्म करते समय जो यह भाव कि "मैं अकर्त्ता, अभोक्ता, साक्षी आत्मा हूँ," चित्त में आता है, यह आत्मा के विवेक या ज्ञानाग्नि से ही प्रचंड होता है। अथवा कर्म की सिद्धि-असिद्धि में समताभाव (समत्वबुद्धि) रूप अग्नि आत्मा के (अकर्त्ता, अभोक्ता, साक्षीरूप) ज्ञान से ही प्रज्वलित होती है, इसलिए इस आत्म-संयम-योगाग्नि को ज्ञानाग्नि से प्रज्वलित हुई कहा है। इस प्रकार जो पुरुष ज्ञानेंद्रियों को अपने वश करके चित्त में यह भाव रखकर कि "मैं अकर्त्ता, अभोक्ता, असंग आत्मा हूँ" समत्वबुद्धि और निरासक्त मन से कर्मेंद्रियों द्वारा कर्म करता है और प्राणों द्वारा श्वासादि लेता है, वह मानों इंद्रियों के कर्मों और प्राणों के कर्मों को ज्ञान से प्रज्वलित आत्म-संयमरूपी योगाग्नि में हवन करता है; क्योंकि ऐसे कर्मयोगी के समस्त कर्म यहीं लीन हो जाते हैं, किसी प्रकार के पुनर्जन्म का हेतु नहीं बनते।

(३) तीसरा आशय यह है कि संपूर्ण कर्मेंद्रियाँ तथा ज्ञानेंद्रियाँ मन के आश्रय अपना सारा व्यवहार करती हैं, इसलिए मन ही इनके रोकने (दमन करने) का द्वार है। जो ध्यानयोगी पुरुष आत्म-साक्षात्कार के यत्न में लगे हुए हैं, वे पहले इन दस इंद्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर मन द्वारा दमन करते हैं। फिर मन को अंतर्मुख करते हैं, अर्थात् बाह्य विषयों से हटाकर मन को आत्मचिंतन में लगाते हैं, जिस पर मन शांत अर्थात् साम्यावस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार इंद्रियों के दमन द्वारा मन के शुद्ध और शांत होने पर चित्तवृत्ति अपने स्वरूप के ध्यान में एकाग्र और आरूढ़ होने लग जाती है। जब वृत्ति पूर्ण एकाग्र, ध्येयाकार और आरूढ़ होती है, तो उस अवस्था को संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था में इंद्रियाँ तो रुकी

हुई होती हैं, चित्त समता और एकाग्रता भाव को प्राप्त हुआ होता है, और ध्याता ध्यान ध्येय तीनों बने रहते हैं, परंतु पाँचों प्राण अपने-अपने व्यापार से अभी बंद नहीं पड़ते। जब यह संप्रज्ञात समाधि बढ़ते-बढ़ते असंप्रज्ञात समाधि में बदलती है, तो चित्त इतना निरोधावस्था को प्राप्त हो जाता है कि यह ध्येयाकार वृत्ति (वा त्रपुटि) भी जाती रहती है, और उस समय पाँचों प्राणों के व्यवहार भी कुछ रुक जाते हैं। इस अवस्था में तो एक आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञानाग्नि ही प्रचंड हुई होती है जिसमें सारी इंद्रियाँ और प्राण सहित अपने व्यापार के लय हुए होते हैं। यह आत्मानुभवरूपी ज्ञानाग्नि क्योंकि अपनी इंद्रियों, मन इत्यादि के रोकने से, अर्थात् अपने आप को अपने बल से अपने वश में करने से और फिर स्वरूप के ध्यान में दृढ़ युक्त होने से प्रज्वलित होती है, इसलिए इसको आत्म-संयम-योगाग्नि कहा है। इसी आत्म-संयमरूपी योगाग्नि का सविस्तर वर्णन भगवान् ने आगे छठे और अठारहवें अध्याय में स्वयं किया है। यहाँ केवल उदाहरणमात्र से वे ऐसा कहते हैं कि कई पुरुष सारी इंद्रियों के (देखना, सुनना तथा गमनागमन इत्यादि) कर्मों को और प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इन पाँच प्राणों के (बहिर्गमन, अधोगमन, आकुञ्चन, प्रसारणादि) कर्मों को आत्म-संयमरूपी योगाग्नि में, जो ज्ञान से प्रज्वलित हुई है, स्वाहा करते हैं। अर्थात् स्वरूप के ध्यान में पूर्ण युक्त होने से जो आत्मसाक्षात्काररूपी योगाग्नि * प्रचंड होती है,

---

* मूर्च्छाकाल, मृत्यु और केवल हठयोग की समाधि में भी मनुष्य की इंद्रियाँ और प्राणों के व्यापार बंद से पड़ जाते हैं, और आत्मानुभवी पुरुष की समाधिस्थावस्था के समान सब व्यापार रुके हुए प्रतीत होते हैं। इसलिए बाहर से ये दोनों अवस्थाएँ एक समान दिखाई देती हैं, परंतु भीतर

उसमें सब प्राणों और इंद्रियों के समस्त व्यापारों को लय करते वा होमते हैं ॥ २७ ॥ *

और—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

द्रव्य^{1}-यज्ञाः^{2},	द्रव्य^{1} यज्ञ^{2}वाले,	स्वाध्याय^{1}-ज्ञान^{3}-	स्वाध्याय^{1} और^{2}
तपः^{3}, यज्ञाः^{4}	तप^{3} यज्ञ^{4}वाले	यज्ञाः^{4}, च^{2}	ज्ञान^{3} यज्ञ^{4}वाले
योग^{3}-यज्ञाः^{4}	ऐसे^{1} कई और^{2}	यतयः^{1}, संशित^{2}-	ये यति^{1} तीक्ष्ण^{2}
तथा^{1}, अपरे^{2}	योग^{3} यज्ञ^{4}वाले	व्रताः^{3}	व्रत^{3}वाले हैं

से यह भेद है कि आत्मानुभवी पुरुष की इंद्रियों तथा प्राणों के व्यापार तो केवल आत्मसाक्षात्कार के समय बंद पड़ते हैं, अर्थात् ज्ञानाग्नि में स्वाहा वा लय हुए होते हैं; और अन्य पुरुषों के केवल अज्ञान में। इसलिए इस अग्नि को ज्ञान से प्रज्वलित हुई कहा है।

* प्रसिद्ध महाशय तिलकजी इन दो श्लोकों (२६, २७) पर अपने निराले ढंग की व्याख्या ऐसे करते हैं कि—"इन श्लोकों में दो-तीन प्रकार के लाक्षणिक यज्ञों का वर्णन है; जैसे (१) इंद्रियों का संयमन करना, अर्थात् उनको योग्य मर्यादा के भीतर अपने-अपने व्यवहार करने देना; (२) इंद्रियों के विषय अर्थात् उपभोग के पदार्थ सर्वथा छोड़कर इंद्रियों को बिलकुल मार डालना; (३) न केवल इंद्रियों के व्यापार को, प्रत्युत प्राणों के भी व्यापार को बंद कर पूरी समाधि लगा करके केवल आत्मानंद में ही मग्न रहना। अब इन्हें यज्ञ की उपमा दी जाय, तो पहले भेद में इंद्रियों को मर्यादित करने की क्रिया (संयमन) अग्नि हुई, क्योंकि दृष्टांत से यह कहा जा सकता है कि इस मर्यादा के भीतर जो कुछ आ जाय, उसका उसमें हवन हो गया। इसी प्रकार दूसरे भेद में साक्षात् इंद्रियाँ होम-द्रव्य हैं, और

पहला अन्वयार्थ---ऐसे ही कई एक तीक्ष्ण व्रतोंवाले यति द्रव्य-यज्ञ, तप-यज्ञ, योग-यज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ और ज्ञान-यज्ञ के अनुष्ठान करनेवाले हैं ॥ २८ ॥

दूसरा अन्वयार्थ---इस प्रकार तीक्ष्ण व्रत का आचरण करनेवाले यति (संयमी) पुरुष कोई द्रव्य-यज्ञ, कोई तप-यज्ञ, कोई योग-यज्ञ, कोई स्वाध्याय-यज्ञ और कोई ज्ञान-यज्ञ करते हैं ॥ २८ ॥

तीसरा अन्वयार्थ---ऐसे ही कई एक द्रव्ययज्ञवाले, तपयज्ञवाले, योगयज्ञवाले, स्वाध्याययज्ञवाले और ज्ञानयज्ञवाले हैं। (ये सब) तीक्ष्ण व्रतोंवाले यति हैं ॥ २८ ॥

चौथा अन्वयार्थ---इस प्रकार कई एक पुरुष द्रव्य-यज्ञ, कई एक तप-यज्ञ, कई एक योग-यज्ञ, कई एक स्वाध्याय-यज्ञ, कई एक ज्ञान-यज्ञ और कई एक यत्नशील पुरुष अत्यंत दृढ़ व्रतरूप यज्ञ करते हैं ॥ २८ ॥

पाँचवाँ अन्वयार्थ---इस प्रकार कोई एक द्रव्ययज्ञ, कोई एक तपयज्ञ और कोई एक योगयज्ञ करते हैं। और तीक्ष्ण व्रतवाले यति लोग स्वाध्याययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ करते हैं ॥ २८ ॥*

तीसरे भेद में इंद्रियाँ एवं प्राण दोनों मिलकर होम करने के द्रव्य हो जाते हैं, और आत्मसंयम आग है।"

* ये पाँचों अन्वयार्थ अभिप्राय रूप से तथा व्याकरण से अपने-अपने स्थान पर ठीक बैठते हैं; केवल पहले और तीसरे अर्थ बहुत टीकाकारों ने दिये हैं, परंतु दूसरे, चौथे और पाँचवें अर्थ उनकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट, सरल और युक्त बैठते हैं, इसलिए पाँचों ही यहाँ दे दिये गये हैं। इनके तात्पर्य में किंचित्-मात्र भेद है, जो व्याख्या के अंतर्गत दर्शाया गया है।

व्याख्या--हे अर्जुन! ऐसे ही बहुत से लोग द्रव्ययज्ञ * करते हैं; अर्थात् न्याय से कमाये हुए धन को प्रसन्नचित्त से समय-समय पर किसी सुपात्र को देना रूप जो यज्ञ है, उसे करते हैं; अथवा पूर्त्तदत्त † नाम के स्मार्त्त कर्मों का करना रूप जो यज्ञ है, उसको करते हैं। बहुत से लोग तपयज्ञ करते हैं; अर्थात् कृच्छ्र-चांद्रायणादि रूप तप करते हैं, या शीतोष्ण आदि द्वंद्वों का सहनरूपी तप करते हैं; या व्रत, नियम, मौनादि का पालनरूप तप करते हैं; या मन सहित इंद्रियों का निग्रहरूप जो तप है, उसे करते हैं। बहुत से प्राणी योगयज्ञ करते हैं; अर्थात् फल की कामना को त्यागकर और

---

* 'यज्ञ' शब्द का मूल अर्थ तो द्रव्यात्मयज्ञ ही है, पर इसके लक्षण को विस्तार और व्यापकता देकर, तप, संन्यास वा सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, स्वाध्याय और ध्यानयोग इत्यादि भगवत्प्राप्ति के सब प्रकार के साधनों का इस (यज्ञ शब्द) में समावेश कर दिया गया है। भगवद्गीता की यह कल्पना कुछ अपूर्व नहीं है। मनुस्मृति के चौथे अध्याय में गृहस्थाश्रम के प्रकरण में पहले यह बताया गया है कि ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ और पितृयज्ञ, इन स्मार्त पंचमहायज्ञों को कोई गृहस्थ न छोड़े। और फिर यह कहा है कि इनके बदले कोई-कोई पुरुष "इंद्रियों में वाणी का हवन कर और वाणी में प्राणों का हवन करके अंत में ज्ञानयज्ञ से परमेश्वर का यजन करते हैं।" (मनुस्मृति ४. २१---२४)

† 'पूर्त्तदत्त' नाम के कर्मों का स्वरूप स्मृति में ऐसे कहा है---
"वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते।
शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्। बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते।"
अर्थ---बावली, कूप, तालाब, देवताओं के मंदिर बनवाने; भूखों को अन्न प्रदान करना और मनुष्यों के निवास करने के निमित्त धर्मशाला वा बागीचे इत्यादि बनवाना, ये सब कर्म 'पूर्त्त' नाम से कहे जाते हैं। और शरणागत प्राणियों की रक्षा करनी, किसी की भी हिंसा न करनी और वेदी से बाह्य जो दान है, इत्यादिक कर्म 'दत्त' नाम से कहे जाते हैं।

समत्वबुद्धि से युक्त होकर कर्म का अनुष्ठानरूप योगयज्ञ करते हैं। अथवा अष्टांग योग * (१. पाँच यम, २. पाँच नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. ध्यान, ७. धारणा और ८. समाधि, इस भेद से आठ अंगों का योग) रूप यज्ञ करते हैं; कई एक स्वाध्याययज्ञ करते हैं; अर्थात् वेदों तथा अन्य धर्मग्रंथों का विधिपूर्वक पाठ वा अभ्यास करना और कराना रूप जो यज्ञ है, अथवा प्रणवमंत्र का जाप रूप जो यज्ञ है, उसे करते हैं। कई एक ज्ञानयज्ञ करते हैं; अर्थात् वेद-शास्त्र के यथावत् अर्थ का विचार करना और कराना रूप जो यज्ञ है, अथवा तत्त्वों के अनुसंधानादि से विविध विद्याओं का उपार्जन करना और फिर सुपात्र के तईं उनका दान देना रूप जो यज्ञ है,

---

* यद्यपि 'योग' शब्द के अर्थ यहाँ 'कर्मयोग' ही युक्त बैठते हैं; क्योंकि अष्टांग योग का वर्णन अगले श्लोक में किया गया है, तथापि श्रीशंकराचार्य और अन्य कई एक टीकाकारों ने इसके अर्थ यहाँ भी केवल अष्टांग योग ही किये हैं। इसलिए उस आशय से भी अर्थ यहाँ निरूपण कर दिये गये हैं। यम और नियम इस प्रकार हैं—(१) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाँच यम हैं। (२) शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान; ये पाँच नियम हैं। अहिंसा=किसी को दुःख न देना। सत्य=सच बोलना। अस्तेय=चोरी न करना। ब्रह्मचर्य=परस्त्रीगमन न करना और अपनी स्त्री के पास भी ऋतुकाल में जाना। अपरिग्रह=शरीर-यात्रा के निर्वाह से अधिक साधनों का स्वीकार न करना, वा किसी के धन का लालच न करना। शौच=बाहर-भीतर की शुद्धि; अर्थात् देह, स्थान और भोजन की सफ़ाई रखना, और ऐसे ही मैत्री, करुणा इत्यादि से चित्त की शुद्धि करना। संतोष=यत्न से जितना मिले उसी पर खुश रहना, अधिक की इच्छा न करना। तप=क्षुधा-तृषा, शीत-उष्ण इत्यादि द्वंद्वों का सहन करना, अथवा काष्ठमौन और आकारमौन इत्यादि व्रतों का पालन करना। स्वाध्याय=

उसे करते हैं। ये सब उक्त यज्ञों के करनेवाले लोग वास्तव में यत्न करने के स्वभाववाले अथवा अपने आपको वश में करनेवाले और तीव्र व्रतों के धारण वा पालन करनेवाले होते हैं। अथवा जो इंद्रियजित् और व्रत में तत्पर हैं, वे सब उक्त यज्ञों को कर सकते हैं। अथवा यत्नशील और तीव्र व्रतधारी पुरुष जो हैं, वे पिछले दो यज्ञ (स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ) करते हैं। अथवा जो यत्नशील और तीव्र व्रतवाले होते हैं, उनमें से कई एक द्रव्यमय यज्ञ करते हैं, कई एक तपयज्ञ, कई एक योगयज्ञ, कई एक स्वाध्याययज्ञ और कई एक ज्ञानयज्ञ करते हैं। संक्षिप्त तात्पर्य इस सारे का यह है कि धन दान करना, तप करना, योग करना, वेद पढ़ना और शास्त्र-विचार से ज्ञान प्राप्त करना, ये पाँचों भी यज्ञ ही हैं, जिन्हें यति लोग करते हैं, या जिन्हें करनेवाले लोग यति होते हैं ॥ २८ ॥

और—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥

अपाने[1], जुह्वति[3], प्राणं[2]	अपाने[1] में प्राण[2] को होमते[3] हैं	प्राण[1]-अपान[2]-गती[3], रुद्ध्वा[4]	प्राण[1] और अपान[2] की गति[3] को रोककर[4]
प्राणे[3], अपानं[4], तथा[1], अपरे[2]	ऐसेही[1] कई[2] एक प्राण[3] में अपान[4] को	प्राणायाम[1]-परायणाः[2]	प्राणायाम[1] परायण[2] हुए

आत्मतत्त्व के विवेकार्थ वेद-शास्त्र का अध्ययन, अथवा प्रणव मंत्र का जप। ईश्वरप्रणिधान=निष्कामभाव से सब कर्मों को भगवदर्पण करना, अथवा सर्वत्र सब वस्तुओं में ईश्वर देखना।

अन्वयार्थ—कई एक पुरुष प्राणायाम-परायण हुए प्राणापान की गति को रोककर प्राण को अपान में और अपान को प्राण में होमते हैं ॥ २९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! कई एक पुरुष जो प्राणायाम * में तत्पर हैं, अर्थात् जो लोग प्राणशक्ति को अपने अधीन करने वा नियम में लाने के पीछे लगे हुए हैं, वे प्राण † और अपान अर्थात् श्वास और प्रश्वास की गति (चाल) को रोककर प्राण को

---

* प्राणायाम उस अभ्यास को कहते हैं कि जिससे प्राणशक्ति नियम में लाई जाती है, अर्थात् वह शक्ति पुरुष के अपने अधीन हो जाती है। इसके विषय पातंजल योगसूत्र में ऐसे लिखा है—"तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदलक्षणः प्राणायाम इति।"=आसन के स्थिर होने पर प्राण और अपान की गति का निरोध ही प्राणायाम का लक्षण वा स्वरूप है।

† प्राण उस शक्ति को कहते हैं जो फेफड़ों में काम करती है और वायु को बाहर से भीतर खींचती है। इसे श्वास (inspiration) भी कहते हैं। अपान उस शक्ति का नाम है जो शरीर के भीतर से निरावश्यक वा अनुपयोगी वस्तुओं को बाहर निकाल देती है। यहाँ उस शक्ति से अभिप्राय है जो श्वास को बाहर की ओर निकाल देती है। इसलिए इसे प्रश्वास (expiration) भी कहते हैं। जिस समय प्राण प्रकट होता अर्थात् अपने आपको प्रकाश करता है, उस समय अपान की गति रुक जाती है। और जिस समय अपान प्रकट होता है, उस समय प्राण की गति रुक जाती है। मानों प्राण की आहुति अपान में और अपान की आहुति प्राण में हो जाती है। जो योगी इस प्रकार प्राण और अपान की गति को रोकते रहते हैं, वे प्राणायामपरायण कहलाते हैं।

अपान में और अपान को प्राण में होमते हैं, अर्थात् पूरक,* रेचक और कुम्भक प्राणायाम करते हैं ॥ २९ ॥

और——

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

अपरे, नियत-आहाराः	कई एक नियत आहारी
प्राणान्, प्राणेषु, जुह्वति	प्राणों को प्राणों में होमते हैं
सर्वे, अपि, एते, यज्ञ-विदः	ये सब ही यज्ञ के जाननेवाले हैं
यज्ञ-क्षपित-कल्मषाः	यज्ञ से नष्ट हुए पापोंवाले हैं
यज्ञ-शिष्ट-अमृत-भुजः	यज्ञ से बचे हुए अमृत को खानेवाले
यान्ति, ब्रह्म, सनातनम्	सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं
न, अयं, लोकः, अस्ति, अयज्ञस्य	यज्ञ रहित का यह लोक नहीं है
कुतः, अन्यः, कुरु-सत्तम	हे कुरुओं में श्रेष्ठ (अर्जुन) ! दूसरा कहाँ

अन्वयार्थ——कई एक नियत आहारी प्राणों को प्राणों में होमते हैं । ये सब ही यज्ञ के जाननेवाले (लोग), यज्ञ से नष्ट हुए पापोंवाले तथा यज्ञ से बचे हुए अमृत को खानेवाले होकर

---

* प्राण को अपान में होमना (डालना) पूरक, और अपान को प्राण में होमना रेचक कहलाता है । इन दोनों (प्राणापान अर्थात् श्वास और प्रश्वास) की गति को रोकना कुम्भक कहलाता है ।

सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञरहित (पुरुष) का यह लोक नहीं है, तो हे अर्जुन ! दूसरा कहाँ ? ॥ ३०, ३१॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! कई लोग ऐसे हैं कि जो नियत आहार करके, अर्थात् अंदाज़े से थोड़ा भोजन करके, प्राणों * को प्राणों में होमते हैं। अर्थात् बहुत से प्राणी, यह समझकर कि प्राणों की गति (जठराग्नि वा इंद्रिय-बल) के कम होने से मन का निरोध हो जाता है, अपने आहार को दिन-प्रतिदिन थोड़ा करते हैं, जिससे शारीरिक बल व जठराग्नि को शिथिल करते हैं। ये (उक्त बारह यज्ञों के पुरुष) सब ही यज्ञ जाननेवाले अर्थात् यज्ञ करनेवाले होते हैं। यज्ञ से ही इनके सारे पाप वा दोष दूर हो जाते हैं। ऐसे नष्ट हुए पापोंवाले पुरुष यज्ञों से बचे हुए अमृतरूप भोजन को खाते हुए सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं †। और हे अर्जुन ! किसी प्रकार के भी यज्ञ न करनेवाले पुरुष को तो यह अल्प सुखवाला लोक भी नहीं

---

* प्राणों में प्राणों का हवन ऐसे होता है कि खाना जब कम खाया जाता है, अथवा व्रतादि जब रखे जाते हैं, तब आहार कम पहुँचने से प्राणों का वेग बहुत भड़कता है, जो इंद्रियों के बल को ही खाने लग जाता है, जिससे प्राण (जठराग्नि वा इंद्रिय-बल) शिथिल पड़ जाते हैं; इस प्रकार प्राणों में इंद्रिय-बल का स्वाहा होना प्राणों में प्राणों का हवन कहा जाता है।

† अभिप्राय यह है कि जो कुछ औरों को देने के पीछे बचता है, वह खाना अमृत भोजन के समान होता है, क्योंकि जब कोई पहले दूसरे को देकर कुछ खाता है, तो इस अर्पणरूपी पुण्यकर्म से उसके चित्त पर उत्तम प्रभाव पड़ता है, जिससे उसका अंतःकरण शुद्ध होता है। और यह शुद्धि फिर आत्मज्ञान की प्राप्ति का हेतु होती है, जिससे फिर

मिलता, तब महान् पुण्यकर्मों से प्राप्त होनेवाला बहुत सुखों का परलोक भला कैसे मिल सकता है ? अर्थात् प्राप्त नहीं होता; अथवा अयज्ञी पुरुष का तो यह लोक ही नहीं सुधरता, परलोक भला कैसे सुधर सकता है ? अथवा अयज्ञी पुरुष का यह लोक ही सिद्ध नहीं होता, तो परलोक भला कैसे सिद्ध हो सकता है ? अथवा जो यज्ञ नहीं करता, अर्थात् जो विना दूसरों के तईं अर्पण किये के आप ही खाता-पीता है, उसका अंतःकरण तुच्छ और स्वार्थी होने से फिर न वह यहाँ के योग्य रहता है, न परलोक के । हे अर्जुन ! ऐसे को जब इस लोक में ही सुख नहीं मिलता, तो परलोक में फिर कैसे मिल सकता है ? ॥ ३०, ३१ ॥ *

आत्मसाक्षात्कार होता है, और जिस साक्षात्कार पर पुरुष जन्म-मरण से छूटकर ब्रह्म को प्राप्त होता ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ।

* उक्त श्लोक २३ से ३१ तक का सारांश यह है कि यज्ञ करना यद्यपि वेद की आज्ञा के अनुसार मनुष्य के लिए कर्त्तव्य कर्म है, तथापि यह यज्ञ केवल एक प्रकार का नहीं होता, बल्कि प्राणायाम करना, तप करना, वेदाध्ययन करना, तत्वविचार करना, तिल-चावल और घी आदि से हवन करना, पूजा-पाठ करना, बलिवैश्वदेव आदि पाँच गृहयज्ञ करना, और कोई निष्काम कर्म आसक्ति से रहित होकर करना इत्यादि, ये सारे कर्म भी यज्ञ ही हैं । इसलिए गीता के अनुसार न केवल द्रव्ययज्ञ का करनेवाला ही यज्ञी है बल्कि प्राणायामी, तपी, तीव्रव्रती, वेदपाठी, तत्वविवेकी वा ज्ञानी, कर्मयोगी, ध्यानयोगी भक्त वा ईश्वरनिमित्त कर्म करनेवाला, अग्निष्टोम करनेवाला, और बलिवैश्वदेव का करनेवाला, ये सब भी यज्ञी ही हैं । और यज्ञ-शेष के भक्षण-विषय में मीमांसकों के जो सिद्धांत हैं, वे सब इनमें से प्रत्येक यज्ञ के लिए उपयुक्त हो जाते हैं । मीमांसकों का और गीता का पहला सिद्धांत यह है कि "यज्ञार्थ किया हुआ कर्म बंधक नहीं होता ।" इस नियम को

संबंध—उक्त यज्ञों का उपसंहार करते हुए भगवान् अब उनकी उत्पत्ति-स्थान कहते हैं—

भगवान् ने गीता (३, ९ । ६, २३) में स्पष्ट वर्णन किया है। और दूसरा सिद्धांत यह है कि प्रत्येक गृहस्थ पंचमहायज्ञ कर अतिथि आदि के भोजन कर चुकने पर फिर भोजन करे, तो ऐसे आचरण से गृहस्थाश्रम सफल होकर सद्गति देता है। इस विषय स्मृति ऐसे कहती है—"विघसं भुक्तशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम्" (मनु० ३, २८५)। अर्थ—अतिथि आदि के भोजन कर चुकने पर जो बचे, उसे 'विघस' कहते हैं, और यज्ञ करने से जो बचे, उसे 'अमृत' कहते हैं। इस प्रकार व्याख्या करके उस अध्याय में ऐसा भी दर्शाया है कि यह 'अमृत' और 'विघस' अन्न ही गृहस्थ के लिए विहित और श्रेयस्कर हैं। ऐसा न करके जो कोई केवल अपने पेट के लिए ही भोजन पकाकर खा जाय, तो वह अघ अर्थात् पाप का भक्षण करता है, और ऐसा पुरुष क्या मनुस्मृति, क्या ऋग्वेद, और क्या गीता, सभी ग्रंथों में 'अघाशी' कहा गया है (देखो मनु० ३, १८; ऋ० १०, ११७, ६; गीता ३, १३)। अब भगवान् यह दर्शाते हैं कि यह सिद्धांत केवल सामान्य गृहयज्ञ को ही उपयोगी नहीं, किंतु उक्त सब यज्ञों को उपयोगी है। यज्ञनिमित्त कर्म (पुरुष का) बंधक नहीं होता। और "विना यज्ञ के यह लोक भी सिद्ध नहीं होता" यह वाक्य रहस्यपूर्ण है। इसका अर्थ केवल इतना ही नहीं कि यज्ञ के विना जल नहीं बरसता, और जलवृष्टि न होने से लोकनिर्वाह नहीं होता; किंतु यह भी है कि कुछ अपना स्वार्थ वा प्यारी वस्तु छोड़े विना न तो अपना कल्याण होता है, न सबको एक सी सुविधा मिल सकती है, और न जगत् के व्यवहार ही चल सकते हैं। और जब अपनी स्वार्थवासना तथा स्वतंत्रता के कुछ अंश को भी अर्पण किये विना मनुष्य यह लोक सिद्ध नहीं कर सकता, तो परलोक वह ख़ाक सिद्ध कर सकेगा ? इसलिए भगवान् ने यह नियम स्पष्ट किया है कि अयज्ञी पुरुष को यह लोक सिद्ध नहीं तो परलोक भला कैसे सिद्ध हो सकता है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

एवं, बहु-	ऐसे बहुत प्रकार	कर्म-जान्, विद्धि,	उन सबको
विधाः, यज्ञाः	के यज्ञ	तान्, सर्वान्	कर्म-जन्य जान
* वितताः,	ब्रह्मा के मुख (वेद)	एवं, ज्ञात्वा,	ऐसे जानकर तू
ब्रह्मणः, मुखे	में फैले हुए हैं	विमोक्ष्यसे	मुक्त हो जायगा

अन्वयार्थ—इस तरह बहुत प्रकार के यज्ञ ब्रह्मा के मुख अर्थात्

---

* "वितता ब्रह्मणः मुखे" का अर्थ बहुत टीकाकारों ने तो "वेद द्वारा प्रकट हुए' किया है, और कुछ ने "ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए" किया है। इन दोनों का अभिप्राय अंत में एक ही है, क्योंकि वेद ब्रह्मा की वाणी माने जाते हैं, और यज्ञ भी वेदों में ही निरूपण हुए हैं, इसलिए यज्ञ ब्रह्मा के मुख से प्रकट हुए कहे जा सकते हैं। तीसरा अर्थ इस पद का वेदांत की रीति से ऐसे है कि "ये यज्ञ सर्व प्रपंच के आधारभूत साक्षात् ब्रह्म से ही प्रकट हुए हैं"। क्योंकि इसी अध्याय के श्लोक ११ में भगवान् ने यह सिद्धांत निरूपण किया है कि "जो जैसा मुझे भजते हैं, मैं वैसा ही उनको प्राप्त होता हूँ, अर्थात् जिस किसी मार्ग वा रीति से लोग मुझ सच्चिदानंदस्वरूप तक पहुँचने का यत्न करते हैं, उसी रीति वा मार्ग से मैं उन्हें प्राप्त हो जाता हूँ, जिससे ये समस्त मार्ग वा उपाय मुझ तक ही पहुँचानेवाले हैं", इसलिए साक्षात् ब्रह्म जो उक्त सर्वप्रकार के यज्ञों का आधारभूत होने से उनके द्वारा प्राप्तव्य है, उसके मुख से, अर्थात् उस आधारभूत ब्रह्म द्वारा, ही ये सब यज्ञ सविस्तर प्रकट हुए हैं। ये तीनों अर्थ यहाँ किये जा सकते हैं। बहुत टीकाकारों की सम्मति के कारण व्याख्या में केवल एक अर्थ दिये हैं, परंतु हमें तीनों ही ग्राह्य हैं, अर्थात् उचित और उपयोगी दीखते हैं। (टीकाकार)

वेद में फैले हुए हैं। उन सबको तू कर्म-जन्य जान। ऐसा जानकर तू मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

व्याख्या--हे अर्जुन! इस प्रकार (जैसे कि श्लोक २४ से यहाँ तक वर्णन हुआ है) भाँति-भाँति के यज्ञ ब्रह्मा के मुख से विस्तार-पूर्वक कहे गये हैं; अर्थात् वेदों में सविस्तर वर्णित हैं। इन सबको तू कर्म से उत्पन्न हुआ जान। क्योंकि कायिक, वाचिक वा मानसिक कर्म से ही इन सब यज्ञों की उत्पत्ति होती है, इस लिए ये सब यज्ञ कर्म-जन्य * हैं, नैष्कर्म्य रूप नहीं; अथवा ये सब कर्म से उत्पन्न हुए हैं, निर्व्यापार आत्मा से नहीं। ऐसा जानकर तू मुक्त हो जायगा। अर्थात् "उक्त सब यज्ञ कामना और कर्तृत्वभाव से रहित पुरुष से किये जाने के कारण यज्ञी के अंतःकरण की शुद्धि करते हुए उसे ज्ञान प्राप्त कराकर फिर मुक्त करा देते हैं," ऐसा जानकर यज्ञ करने से तू मुक्त हो जायगा। अथवा "ये सब यज्ञ कर्म-जन्य हैं, मुझ निर्विकार आत्मा से उत्पन्न नहीं होते; मैं (आत्मा) तो सर्वदा व्यापाररहित, उदासीन,

---

* 'कर्म-जन्य' से अभिप्राय केवल कायिक कर्म-जन्य ही नहीं (जैसे कि ज्योतिष्टोमादि वैदिक यज्ञ), किंतु वाचिक वा मानसिक कर्म-जन्य भी है (जैसे प्राणायाम और ज्ञानयज्ञ इत्यादि)। क्योंकि सर्वप्रकार के उक्त यज्ञ यत्न-साध्य हैं, विना यत्न के सिद्ध नहीं होते (चाहे वह यत्न मानसिक हो, चाहे कायिक वा वाचिक हो), इसलिए इन्हें कर्म-जन्य कहा है, नैष्कर्म्य रूप नहीं। परंतु इन कर्मों में अकर्म देखना ही बुद्धिमत्ता है। जो ऐसा जानता है, वही इन कर्मों के बंधन में नहीं आता। इसलिए ऐसा जाननेवाला ही इन कर्मों से निर्लिप्त होता मुक्त होता है, न कि केवल कर्मकांडी या केवल कर्मत्यागी, जैसा कि पूर्व १८ से २४ तक श्लोकों में स्पष्ट किया गया है।

असंग, अकर्त्ता और अभोक्ता हूँ," इस प्रकार (सर्व कर्मों में) अपने आपको अकर्त्ता और साक्षी जानकर तू, हे अर्जुन! इस संसार-बंधन से मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

संबंध—(१) उक्त सब यज्ञों की कर्म से उत्पत्ति दर्शाकर अब भगवान् जो उनमें श्रेष्ठ है, उसे दर्शाते हैं—

अथवा (२) उक्त युक्ति के आशय को भगवान् अब अधिक स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) सब यज्ञों को कर्म-जन्य कहकर भगवान् अब द्रव्यमय यज्ञ (ज्ञानरहित कर्म) से ज्ञानयज्ञ (ज्ञानसहित कर्म) की श्रेष्ठता और परिणाम दर्शाते हैं—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥

श्रेयान्^{७}, द्रव्य-मयात्^{३}, यज्ञात्^{४}, ज्ञान^{५}-यज्ञः^{६}, पर^{१}न्त^{२}प	हे शत्रु^{१}-तापन^{२} (अर्जुन)! द्रव्य^{३}-मय यज्ञ^{४} से ज्ञान^{५}-यज्ञ^{६} श्रेष्ठ^{७} है	सर्वं^{२}, कर्म^{३}, अखिलं^{४}, पार्थ^{१}	हे अर्जुन^{१}! सब^{२} (प्रत्येक) कर्म^{३} पूरा^{४}-पूरा
		ज्ञाने^{१}, परिसमाप्यते^{२}	ज्ञान^{१} में समाप्त^{२} होता है

अन्वयार्थ—हे परंतप ! * द्रव्यमय यज्ञ † से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, हे पार्थ ! * प्रत्येक कर्म पूरा-पूरा ज्ञान में समाप्त होता है ॥ ३३ ॥

---

* परंतप और पार्थ के सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो ।

† द्रव्यमय यज्ञ से अभिप्राय केवल होम दानादि (material sacrifice) और ज्ञानयज्ञ से केवल कर्म-संग वा संकल्पों का त्याग (moral sacrifice) भी है। द्रव्यमय यज्ञ से तो स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति और चित्तशुद्धि होती है, और तत्पश्चात् ज्ञान की प्राप्ति होकर आत्मसाक्षात्कार रूप मोक्षपद प्राप्त होता है; परंतु ज्ञानयज्ञ से सीधा यह पद मिलता है। इसलिए भी द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है ।

व्याख्या—जितने यज्ञ ऊपर वर्णन हुए हैं, उनमें एक ज्ञानयज्ञ है, शेष सब द्रव्यमय यज्ञ हैं। जो यज्ञ बाह्य (लौकिक) पदार्थों से किसी लौकिक फल के लिए किया जाता है, अथवा जिस यज्ञ से कुछ ऐसा फल मिलता है कि जो नरक-स्वर्गादि तथा पुनर्जन्म द्वारा भोगना पड़ता है, अथवा जो ज्ञान से शून्य कर्मरूप यज्ञ है, वह द्रव्यमय यज्ञ कहलाता है। और जो ज्ञान सहित कर्मरूप यज्ञ है, अर्थात् जिस कर्म वा यज्ञ से अपने स्वरूप का मनन और साक्षात्कार होता है, उसे ज्ञानयज्ञ (wisdom winning-sacrifice) कहते हैं। इन उक्त द्रव्यमय यज्ञों से तो, हे शत्रुओं को तपानेवाले अर्जुन! ज्ञानयज्ञ बहुत श्रेष्ठ वा कल्याणकारी है, क्योंकि इससे तो साक्षात् मोक्षरूप फल की प्राप्ति होती है, और अन्य यज्ञों से प्रायः केवल संसाररूप फल की प्राप्ति होती है। हे पृथा-पुत्र अर्जुन! ज्ञान में सब कर्म अर्थात् प्रत्येक कर्म संपूर्ण रूप से समाप्त * हो जाता है। अर्थात् अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम, सोमयज्ञ और चयनयज्ञादि श्रौत कर्म तथा उपासनादिरूप स्मार्त्त कर्म, ये

---

* समाप्त हो जाने से यह भी आशय है कि कर्म का उद्देश्य वा परिणाम अंतःकरण की शुद्धि करके ज्ञान की प्राप्ति कराना वा कर्त्ता को ज्ञान का अधिकारी बनाना होता है, इसलिए कर्म का अंत ज्ञान की प्राप्ति में होता है। अर्थात् कर्म साधन वा बीज है, और ज्ञान उसका परिणाम वा फल है। इस प्रकार बीजरूप कर्म का अंत पूर्ण रूप से अपने फलरूप ज्ञान में ही होता है, और कहीं नहीं। श्रुति में भी आया है—“तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन इति। धर्मेण पापमपनुदति। अर्थ—यह ब्राह्मण वेदों के अध्ययन से, यज्ञ, दान और तप से उस आत्मदेव को जानने की इच्छा करते हैं। और धर्म से वह पाप को दूर कर देते हैं या पापों से छुटकारा पा जाते हैं।

सबके सब सहित फल के इस ज्ञानाग्नि में समाप्त वा दग्ध हो जाते हैं ; अथवा ज्ञान में पहुँचकर ही कर्म परिपूर्ण होता है, और विना ज्ञान के कर्म अधूरा ही रहता है, इसलिए प्रत्येक कर्म पूरा-पूरा ज्ञान में ही समाप्त होता है ; अथवा जो-जो फल अन्य कर्मों से मिलते हैं, वे सबके सब मोक्ष के अंतर्गत होने के कारण ज्ञानरूपी समुद्र में समाये होते हैं, इसलिए उक्त सारे कर्मों के समस्त फल केवल एक ज्ञानयज्ञ से स्वतः आ प्राप्त होते हैं ; और इस ज्ञानयज्ञ के करनेवाले को अन्य किसी कर्म के करने की आवश्यकता नहीं रहती । वह तो सीधा इस ज्ञानयज्ञ से आत्मसाक्षात्कार करता हुआ जन्म-मरणरूप संसार से छूटकर मोक्ष को प्राप्त होता है । और "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्"=ज्ञान से ही कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा श्रुति ने भी कहा है, इसलिए ज्ञानयज्ञ सर्व यज्ञों से श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥ *

---

* श्रीयुत तिलक महाराज ने इस श्लोक पर ऐसे व्याख्या की है—"गीता में 'ज्ञानयज्ञ' शब्द दो बार आगे भी आया है (गी० ९, १५ और १८, ७०) । हम जो द्रव्यमय यज्ञ करते हैं, वह परमेश्वर की प्राप्ति के लिए किया करते हैं । (वेदों में ऐसे यज्ञों का उद्देश्य वा फल प्रायः स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति है, न कि ईश्वरप्राप्ति, और इसलिए लोकों की प्राप्तिनिमित्त ये यज्ञ प्रायः किये जाते हैं, न कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए । टीकाकार) । परंतु परमेश्वर की प्राप्ति उसके स्वरूप का ज्ञान हुए विना नहीं होती । अतएव परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर, उस ज्ञान के अनुसार आचरण करके परमेश्वर की प्राप्ति कर लेने के इस मार्ग या साधन को 'ज्ञानयज्ञ' कहते हैं । यह यज्ञ मानस और बुद्धिसाध्य है, अतः द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा इसकी योग्यता अधिक समझी जाती है । मोक्षशास्त्र में ज्ञानयज्ञ का यह ज्ञान ही मुख्य है, और इसी ज्ञान से सब कर्मों का क्षय हो जाता है । कुछ भी हो, गीता का

संबंध—यह ज्ञान (जिसके अंतर्गत समस्त कर्मों के फल हैं; और जिसके द्वारा ही कर्म परिपूर्ण होता है) कैसे और कहाँ से प्राप्त होता है ? इस विषय में भगवान् अब कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

तत्[४], विद्धि[५], प्रणिपातेन[१], परिप्रश्नेन[२], सेवया[३]	दंडवत्[१] प्रणाम से, प्रश्न[२] से और सेवा[३] से तू उस[४] (ज्ञान) को जान[५] (सीख)	उपदेक्ष्यन्ति[६], ते[४], ज्ञानं[५], ज्ञानिनः[१], तत्त्व[२]-दर्शिनः[३]	ज्ञानी[१] तत्त्व[२]-दर्शी[३] तुझे[४] ज्ञान[५] उप[६]-देश करेंगे

पहला अन्वयार्थ—उस (ज्ञान) को तू दंडवत् प्रणाम से, प्रश्न से और सेवा से सीख। (तब) तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—और यह ध्यान में रख कि तत्त्वदर्शी ज्ञानी (तेरे) प्रणिपात से, प्रश्न से और सेवा करने से तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

यह स्थिर सिद्धांत है कि अंत में परमेश्वर का ज्ञान होना चाहिए, बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं मिलता। तथापि "कर्म का पर्यवसान ज्ञान में होता है" इस वचन का यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान के पश्चात् कर्मों को छोड़ देना चाहिए। अपने लिए नहीं, तो केवल लोकसंग्रह के निमित्त कर्त्तव्य समझकर सभी कर्म करना ही चाहिए, और जब कि वे (कर्म) ज्ञान एवं समबुद्धि से किये जाते हैं, तब उनके पाप-पुण्य की बाधा कर्त्ता को नहीं होती (देखो आगे श्लोक ३७), और यह ज्ञानयज्ञ मोक्षप्रद होता है। अतः गीता का सब लोगों को यही उपदेश है कि यज्ञ करो, किंतु उन्हें ज्ञानपूर्वक निष्काम बुद्धि से करो।"

व्याख्या—हे अर्जुन ! वह सर्वोत्तम और मोक्षरूप फल का देनेवाला आत्मज्ञान तत्त्ववेत्ता आचार्यों के पास जाकर प्राप्त होता है। इसलिए तू पहले तत्त्वदर्शी ज्ञानवानों के पास जा; वहाँ पहुँच कर उन्हें बड़ी नम्रता से दंडवत् प्रणाम कर; अपने सच्चे हृदय से (शिष्यभाव से) उनकी सेवा कर; और फिर प्रश्न करके उस ज्ञान को सीख। अर्थात् जब वे तेरी सेवा और भक्ति से प्रसन्न हुए तुझे दिखाई दें, तब तू अत्यंत अधीनता से पूछ कि "बंध-मोक्ष, तथा ज्ञान-अज्ञान, वा विद्या-अविद्या क्या है।' इस प्रकार तुझसे भक्तिपूर्वक प्रणाम, सेवा, प्रश्न और सीखने की जिज्ञासा के प्रकट होने पर तत्त्वदर्शी * ज्ञानवान् प्रसन्न होकर तुझे उस आत्मज्ञान का उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥ †

---

* जो पुरुष पदों के ज्ञान में, वा वाक्यों के ज्ञान में, तथा नाना प्रकार की युक्तियों के ज्ञान में अति कुशल हों, उनका नाम यहाँ ज्ञानी है। और जिनको संशय व विपरीत भावना से रहित आत्मा का साक्षात्कार हुआ हो, उनका नाम तत्त्वदर्शी है। ऐसे तत्त्वदर्शी ज्ञानवानों से ही उपदेश किया हुआ ज्ञान मोक्षरूप फल की प्राप्ति कराता है और प्रत्येक कार्य की सिद्धि में समर्थ होता है, अन्य पुरुषों से उपदिष्ट ज्ञान ऐसा फल नहीं देता। इसलिए ज्ञानी का तत्त्वदर्शी विशेषण दिया है। ऐसे 'ज्ञानी' को वेदों में ब्रह्मश्रोत्रिय और 'तत्त्वदर्शी' को ब्रह्मनिष्ठ कहा है। ऐसे श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ महात्मा के पास जाकर आत्मज्ञान का उपदेश लेने को श्रुति ने इस प्रकार कहा है—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति।" अर्थ—इस आत्मसाक्षात्कार के लिए वह जिज्ञासु (अधिकारी) यथाशक्ति भेंट हाथ में लेकर (अथवा समिधा हाथ में लेकर) श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाय।

† अभिप्राय इस श्लोक का यह है कि जहाँ शिष्य के लक्षण—"प्रणिपात, नम्रता और जिज्ञासा से प्रश्न, और पूर्ण श्रद्धा वा भक्ति से सेवा करना"—

संबंध—अब उक्त उपदिष्ट ज्ञान की प्राप्ति का फल भगवान् श्लोक ३८ तक वर्णन करते हैं—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

यत्^{1}, ज्ञात्वा^{2}, न^{7}, पुनः^{4}, मोहं^{6}, एवं^{5}, यास्यसि^{8}, पाण्डव^{3}	जिस^{1}को जान^{2}कर हे अर्जुन^{3}! तू फिर^{4} ऐसे^{5} मोह^{6} को नहीं^{7} प्राप्त^{8} होगा	येन^{1}, भूतानि^{3}, अशेषेण^{2}, द्रक्ष्यसि^{7}, आत्मनि^{4}, अथो^{5}, मयि^{6}	जिससे^{1} समस्त^{2} भूतों^{3} को तू आत्मा^{4} (अपने) में और^{5} मुझमें^{6} देखेगा^{7}

अन्वयार्थ—जिस (ज्ञान) को जानकर तू, हे अर्जुन ! फिर ऐसे मोह को प्राप्त नहीं होगा । और जिससे समस्त भूतों को तू अपने में तथा मुझमें देखेगा ॥ ३५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उस उपदिष्ट ज्ञान को प्राप्त होकर फिर तुझे ऐसा मोह (अपने संबंधियों में आसक्ति वा भ्रमरूप शोक), जो इस समय हो रहा है, प्राप्त नहीं होगा । और उस ज्ञान के कारण तू सर्व प्राणियों (अथवा समस्त पदार्थों) को अपने * (आत्मस्वरूप) में तथा मुझ (सच्चिदानंदस्वरूप वासुदेव) में

होने उचित हैं, वहाँ गुरु के लक्षण भी यदि "ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्मश्रोत्रिय" हों, तब उक्त ज्ञान की प्राप्ति होती है, नहीं तो पूर्ण रीति से प्राप्ति नहीं होती ।

* "अपने आत्मा में देखेगा, और मुझ परमेश्वर में देखेगा, इस प्रकार जीव और ईश्वर की एकता जो सारी उपनिषदों में प्रसिद्ध है, उसको तू देखेगा" (श्रीशंकराचार्य) । "सारे आत्मा ज्ञानस्वरूप हैं, उनके स्वरूप में कोई भेद नहीं, भेद सारा प्रकृति के संसर्ग से है ; सो जब तू इस संसर्ग से विमुक्त अपने शुद्धस्वरूप को देखेगा, तब सब भूतों को अपने आत्मा में देखेगा ; अर्थात् प्रकृति के संसर्ग को छोड़कर सब

साक्षात् देखेगा। तात्पर्य यह कि भाई, ताया, चाचा इत्यादि की द्वैत दृष्टि, जो मोह (अपने स्वरूप के अज्ञान) से उत्पन्न होकर दुःख और घबराहट का कारण होरही है, वह सब आत्मज्ञान के पाने पर नाश हो जायगी, और फिर इस ज्ञान के अभ्यास से तू उन से वा मुझसे इतनी अभेदता अनुभव करलेगा कि उन सब बांधवों के शरीररूप से अदृष्ट होने पर भी तू उन्हें नाश हुए नहीं समझेगा बल्कि सब दशा में तू उन्हें अपने में वा मुझमें साक्षात् स्थित पावेगा, जिससे तू फिर स्वार्थता और आसक्ति को त्यागकर युद्ध को केवल अपना स्वाभाविक धर्म (कर्त्तव्य) समझकर अथवा केवल लोकोपकारार्थ की दृष्टि से करेगा ॥ ३५ ॥

भूत सम हैं।" "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" (५, १९), यह बात अपने आत्मा के उदाहरण से तू जान लेगा। और मुझमें देखेगा ; अर्थात् परिशुद्ध हुआ आत्मतत्त्व प्रत्येक परमात्मा के सदृश हो जाता है, जैसा कि "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मुण्डक० ३, ३) इत्यादि में नाम-रूप से "निर्मुक्त आत्मवस्तु की परमात्मा के साथ स्वरूप की समता कही है। इसलिए प्रकृति से निर्मुक्त प्रत्येक आत्मतत्त्व परस्पर सम होता है, और सर्वेश्वर के सम होता है।" यह आशय है (श्रीरामानुजाचार्य)। "सब प्राणियों को अपने में और अपने को सब प्राणियों में देखने का, समस्त प्राणिमात्र में एकता का जो ज्ञान आगे वर्णित है (गी० ६, २९), उसी का यहाँ उल्लेख किया गया है। मूल में आत्मा और भगवान् दोनों एक रूप हैं, अतएव आत्मा में सब प्राणियों का समावेश होता है ; अर्थात् भगवान् में भी उनका समावेश होकर आत्मा (मैं) अन्य प्राणी और भगवान्, यह त्रिविध भेद नष्ट हो जाता है। इसीलिए भागवत पुराण में भगवद्भक्तों का लक्षण देते हुए कहा है, 'सब प्राणियों को भगवान् में और अपने में जो देखता है, उसे उत्तम भागवत कहना चाहिए' (भाग०, ११, २, ४५)।" (श्रीतिलक महाराज)

और—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

अपि^{4}, चेत्^{1}, असि^{7}, पापेभ्यः^{3}, सर्वेभ्यः^{2}, पाप^{6}- कृत्तमः^{5}	यदि^{1} सारे^{2} पापियों^{3} से भी^{4} तू बढ़कर^{5} पाप^{6} करनेवाला है^{7}	सर्वं^{1}, ज्ञान^{3}-प्लवेन^{4}, एव^{5}, वृजिनं^{2}, सन्तरिष्यसि^{6}	सारे^{1} पाप^{2} को तू ज्ञान^{3} की नौका^{4} से ही^{5} तर जायगा^{6}

अन्वयार्थ—और यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी इस ज्ञान की नौका से तू सारे पाप को तर जायगा ॥ ३६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस ज्ञान से और फल यह है कि अगर तू सब पापियों से भी अधिक पापी (पापिष्ठ) है, तो भी इस ज्ञानरूपी नौका से सर्व पापरूप समुद्र को तू तर जायगा । अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होने पर तुझे कोई पाप नहीं छू सकेगा, पहली वासनाएँ * जो जन्म-मरणरूप संसार का हेतु हैं, वे सब

---

* पाप अथवा पुण्यकर्म करने का दोहरा फल होता है । एक तो कर्म की वासना चित्त में उत्पन्न हो जाती है जिससे चित्त सदा जन्म-जन्मांतर में उसी कर्म करने की ओर बारंबार झुकता है । दूसरा, शारीरिक और मानसिक तत्वों की कुछ न्यूनाधिकता शरीर और मन में हो जाती है । पिछला फल तो अच्छी-बुरी अवस्था के भोग से जाता रहता है । परंतु पहला फल जो वासनारूपी होकर चित्त में रहता है, वह बारंबार उन्हीं कर्मों में लगाता है, और पुनः वैसे ही भोग उत्पन्न करता है । यह वासना भोग से दूर नहीं हो सकती । इसका इलाज तो केवल एक ज्ञान ही है । बुरे

दग्ध हो जायँगी, कोई कर्म लिपायमान वा बंधायमान नहीं कर सकेगा। और "तरति शोकमात्मवित्"=आत्मवेत्ता शोक को तर जाता है, ऐसा श्रुति कहती है, इस प्रकार तेरे सब शोक-मोह भी दूर हो जायँगे ॥ ३६ ॥

संबंध—(१) यह आत्मज्ञान कैसे सर्व पापों को नाश कर देता है और कैसे उनसे निर्लेप रखता है ? इसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) नौका द्वारा समुद्र तर जाने से यद्यपि समुद्र के दूसरी ओर तो पहुँचना हो जाता है, पर समुद्र वैसे का वैसा ही बना रहता है। इससे समुद्र कोई नाश नहीं हो जाता। वैसे ही ज्ञानरूपी नौका से भी पाप का समुद्र तरा तो जायगा, पर पाप वैसा का वैसा ही बना रहेगा, इससे पाप नाश नहीं हो जायगा। उक्त दृष्टांत से अपना आशय पूर्ण रूप से स्पष्ट होता न देखकर भगवान् अब जलती अग्नि के दृष्टांत से अपना आशय स्पष्ट करने लगे हैं—

अथवा (३) ज्ञान द्वारा पाप के नष्ट होने के उक्त दृष्टांत से भी उत्तम दूसरा दृष्टांत भगवान् अब दिखलाते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

से बुरे पापी को जब ज्ञान का प्रकाश होने लगता है, तब उसको बुरे-भले का विवेक होता है, और इस विवेक से पुरुष से विज्ञानमय कोश की योगशक्ति बढ़ती है, जिससे चित्त की सब वृत्तियाँ वश में आ जाती हैं, इसी से वासना दूर हो सकती है। इसलिए ज्ञान की नौका से ही पाप के सारे समुद्र को तरना होता है।

यथा[४], एधांसि[५], समिद्धः[२], अग्निः[३], भस्मसात्[६], कुरुते[७], अर्जुन[१]	हे अर्जुन[१]! जलती[२] हुई अग्नि[३] जैसे[४] लकड़ियों[५] को भस्मीभूत[६] कर[७] देती है	ज्ञान[२]-अग्निः[३], सर्व[४]-कर्माणि[५], भस्मसात्[६], कुरुते[७], तथा[१]	वैसे[१] ज्ञान[२] अग्नि[३] सारे[४] कर्मों[५] को भस्मीभूत[६] कर[७] देती है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन! जलती हुई अग्नि जैसे लकड़ियों को भस्मीभूत कर देती है, वैसे ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को भस्मीभूत कर देती है ॥ ३६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! जैसे अत्यंत प्रज्वलित अग्नि ईंधन को जलाकर राख बना देती है, वैसे ज्ञानरूप अग्नि सर्व कर्मों * को भस्मीभूत

---

* कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) प्रारब्ध=जो अपना फल दे रहे हैं, (२) संचित=जो किये जा चुके हैं, पर फल अभी देने नहीं लगे, यूँ ही पड़े हैं, (३) क्रियमाण=जो किये जा रहे हैं। इनमें प्रारब्ध तो फल दे रहे हैं, वे भुक्त लिये जाते हैं। वे ज्ञानाग्नि से नाश नहीं होते, किंतु भोगने से नाश होते हैं। ऐसा ही श्रुति कहती है—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये"=उस विद्वान् की विदेह मुक्ति तब तक ही नहीं होती जब तक कि प्रारब्ध कर्म भोगकर ख़तम नहीं हो लेते; अर्थात् प्रारब्ध कर्मों के भोग ख़तम होने तक ही ज्ञानवान् का शरीर बना रहता है, और प्रारब्ध कर्म विना भोगे नाश नहीं होते। ब्रह्मसूत्र (४. १. १६) में भी ऐसा ही कहा है—"भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यन्ते"=संचित और क्रियमाण वा आगामी कर्मों के अतिरिक्त पुण्य-पापरूप प्रारब्ध कर्मों को भोग लेने से (उनका) नाश करके विद्वान् पुरुष विदेह मुक्ति को प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रारब्ध कर्म तो भोग कर नाश किये जाते हैं, और संचित तथा वर्तमान (क्रियमाण) कर्म आत्मानुभवरूप ज्ञानाग्नि के प्रभाव से भस्मीभूत अर्थात् निर्बीज हो जाते हैं; वे फिर न दूसरा जन्म दिलाने के, और न लिपायमान व बंधायमान करने के समर्थ होते हैं। इस प्रकार ज्ञानाग्नि

अर्थात् निर्बीज कर देती है। तात्पर्य यह है कि ईंधन से प्रज्वलित अग्नि के समान प्रत्यक्ष होकर तो ज्ञानाग्नि कर्मों को भस्म

सर्व कर्मों को भस्म करनेवाली कही जाती है। इस विषय को ब्रह्मसूत्र अधिक स्पष्ट ऐसे करता है—“तदधिगम उत्तमपूर्वार्द्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।” (४, १, १३) अर्थ—“मैं ब्रह्म हूँ” इस प्रकार के आत्मसाक्षात्कार के होने पर उत्तर (आगामी) और पूर्व (पहले के अर्थात् संचित) पापों का अश्लेष और विनाश हो जाता है; अर्थात् (आगामी, वर्तमान वा क्रियमाण) पापकर्म का स्पर्श नहीं होता, और पहले संचित पापकर्मों का नाश हो जाता है। क्योंकि ऐसा श्रुति द्वारा उपदेश है—“यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते।” (छां०, ४, १४, ३)=जैसे कमलपत्र को जल नहीं चिमटते (स्पर्श नहीं करते), वैसे ही (इस ब्रह्मविद्या के) जाननेवाले (ब्रह्मज्ञानी) को पापकर्म नहीं चिमटते। ऐसे ही श्रुति संचित कर्म का नाश भी कहती है—“तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते।” (छां०, ५, २४, ३)=जैसे इषीका की (सरकंडे के ऊपर की) रूई अग्नि में डाली हुई जल जाती है, वैसे ही इसके सब पापकर्म दग्ध हो जाते हैं। फिर आगे चलकर सूत्र ऐसे कहता है कि—“इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु।” (४, १, १४)=पापकर्म ही नहीं किंतु इससे इतर कर्म अर्थात् पुण्यकर्म भी वैसे ही (ब्रह्मज्ञानी को) नहीं चिमटते। और कर्म के नाश के कारण शरीरपात होने पर निश्चय मुक्ति होती है, अथवा (रामानुजमत से) शरीरपात पर निश्चय कर्म का क्षय होता है। पर इतना ध्यान इस विषय अवश्य रखना चाहिए कि—“अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः।” (४, १, १५)=जिन कर्मों के फल का आरंभ नहीं हुआ है, अर्थात् जो प्रारब्धकर्म नहीं किंतु संचित कर्म हैं, उनका ही क्षय होता है, प्रारब्धकर्म का नहीं। पर हाँ, जिस कर्म के फल का आरंभ हो गया है, अर्थात् जो प्रारब्धकर्म है, उसकी अवधि शरीरपात

करने की सामर्थ्य नहीं रखती, किंतु सम्यग् आत्मदर्शन से कर्मों को निर्बीज करने में कारण होती है। इस विषय में श्रुतियाँ ऐसे कहती हैं--"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानि क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः"=आत्मदेव को जानकर सब बंधन टूट जाते हैं, और सब क्लेशों के क्षीण होने से जन्म-मृत्यु की फाँस नाश हो जाती है (श्वेताश्वतर उप०)॥ "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।"=उस परब्रह्म के साक्षात्कार होने पर पुरुष की (आत्मा-अनात्मा की अध्यासरूप) हृदय की ग्रंथि नाश को प्राप्त होती है, संशय सब नष्ट हो जाते हैं, और उसके कर्म नाश को प्राप्त होते अर्थात् निर्बीज हो जाते हैं (मु० २, २, ८)॥ ३७॥

संबंध—(१) इसी ज्ञान की महिमा भगवान् अब और वर्णन करते हैं—

अथवा (२) यह ज्ञान कब और किसको मिलता और किसको नहीं मिलता है, उसे भगवान् अब ४०वें श्लोक तक स्पष्ट करते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

तक है। प्रारब्धकर्म के भोग के लिए ही शरीर है। जो ज्ञान प्राप्त होते ही उस (प्रारब्धकर्म) का भी क्षय माना जाय, तो शरीर भी उसी क्षण छूट जाना चाहिए। पर ऐसा नहीं होता। अतः प्रारब्धकर्म तो केवल भोगने से ही नाश होते हैं, और संचित तथा क्रियमाण कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध और निर्बीज हो जाते हैं।

मेरठ नगर के लाला रामप्रसाद 'कर्म' से तात्पर्य कर्मों की वासनाएँ; और श्रीतिलक महाराज 'कर्म' से तात्पर्य 'कर्मबंधन' यहाँ लेते हैं।

न[६], हि[१], ज्ञानेन[३], सदृशं[४], पवित्रं[५], इह[२], विद्यते[७]	निः[१]संदेह इस[२] संसार में ज्ञान[३] के सदृश[४] पवित्र[५] (कोई और) नहीं[६] है[७]	तत्[३], स्वयं[५], योग[१]-संसिद्धः[२], कालेन[४], आत्मनि[६], विन्दति[७]	योग[१] से सिद्ध[२] हुआ पुरुष उसे[३] समय[४] पर स्वयं[५] अपने[६] में पा लेता[७] है

अन्वयार्थ—इस संसार में ज्ञान के सदृश पवित्र निःसंदेह अन्य कोई नहीं है। योग से सिद्ध हुआ पुरुष समय पर उसे स्वयं अपने में पा लेता है ॥ ३८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला और कोई साधन यहाँ निःसंदेह नहीं है। अथवा ज्ञान के तुल्य उत्तम वस्तु निःसंदेह यहाँ कोई नहीं है। क्योंकि आत्मज्ञान से भिन्न और जितने भी कर्म उपासनादि उपाय वा उत्तम-उत्तम पदार्थ हैं, वे यत्किञ्चित् पाप की निवृत्ति और शरीर वा अंतःकरण की शुद्धि तो कर सकते हैं, मूल-सहित अज्ञान की निवृत्ति नहीं कर सकते; परंतु ज्ञान से न केवल पाप की निवृत्ति और देह वा अंतःकरण की शुद्धि ही होती है, बल्कि मूल-सहित अज्ञान की निवृत्ति और निजानंद की प्राप्ति भी होती है, जिससे सर्व कर्म निर्बीज पड़ जाते हैं, और वह (ज्ञानवान्) इन कर्मों से लिपायमान वा बंधायमान न होता हुआ सीधा मोक्ष को प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला वा उत्तम पदार्थ संसार में कोई नहीं है। और जो पुरुष योग से सिद्ध हुआ है; अर्थात् जो पुरुष समत्वबुद्धि से कर्म में पूर्ण युक्त होने से शुद्ध अंतःकरणवाला हो गया है, अथवा जो उक्त कर्मयोग से अंतःकरण की शुद्धिपूर्वक आत्मज्ञान की योग्यता को प्राप्त हुआ है; अथवा जो ध्यानयोग आगे वर्णन होगा, उस योग से आत्मध्यान में

जो शुद्ध अंतःकरणवाला योगी पुरुष पूर्ण युक्त हो गया है, वह अधिकारी पुरुष इस ज्ञान को समय पाकर स्वयं अपने आत्मा में, अर्थात् अपने आपमें वा अंतःकरण में, पा लेता है। अर्थात् विना किसी वाह्य परिश्रम, यत्न और सहायता के बल्कि केवल अपने अंतःकरण की शुद्धि के वल से वह अधिकारी पुरुष उचित समय पाकर स्वयं उस आत्मानुभवरूप ज्ञान को अपने भीतर पा लेता अर्थात् साक्षात्कार कर लेता है ॥ ३८ ॥ *

---

* उक्त श्लोक ३६, ३७ और ३८ पर श्रीज्ञानदेव विचित्र रूप से व्याख्या ऐसे करते हैं—"तुम यदि पाप की खानि भी हो, भ्रांति के समुद्र हो, और भ्रम के पर्वत हो, तथापि ज्ञानशक्ति की तुलना से ये सब अल्प हैं। इस ज्ञान में ऐसा उत्तम सामर्थ्य है। देखो विश्वाभास जैसी जो निराकार स्वरूप की परछाईं है सो जिसके प्रकाश के आगे नहीं टिकती, उसके सामने मन के अज्ञान की क्या कथा है! इसकी बात निकालना ही अयोग्य है। संसार में ज्ञान के समान बड़ी वस्तु दूसरी नहीं है। कहो तीनों भुवनों का जो आकाश में धुआँ उड़ा देता है, उस प्रलयकाल के तूफ़ान के सामने क्या मेघ टिक सकते हैं? अथवा पवन के कोप से जो पानी भी जला डालता है, सो प्रलयाग्नि क्या घास और इंधन से बुझ सकता है? बहुत क्या कहा जाय, ये बातें हो नहीं सकतीं। उनका विचार ही असंगत दिखाई देता है, ज्ञान के समान कोई भी वस्तु पवित्र दिखाई नहीं देती। इस संसार में ज्ञान ही एक उत्तम वस्तु है। जैसे चैतन्य जैसी दूसरी वस्तु नहीं होती, वैसे ही इसके जैसी दूसरी वस्तु कहाँ है? यदि सूर्य के तेज की कसौटी से प्रतिबिंब उज्ज्वल दिखाई दे सकता हो, अथवा यदि आकाश चपेटने से चपेटा जा सकता हो, अथवा पृथिवी के बराबरी का कोई माप मिल सकता हो, तो ही हे पांडुकुँवर! ज्ञान की कोई उपमा मिल सकती है। अतएव अनेक प्रकार से देखने से और वारंबार विचार करने से इस ज्ञान की पवित्रता ज्ञान ही में है। जैसे अमृत की रुचि बखानी जाय तो अमृत जैसी ही कही जावेगी; वैसे ही

संबंध—पूर्व श्लोक ३४ तक तो आत्मज्ञान को दूसरों (आचार्यों) से सीखने और समझने के साधन वर्णन हुए, फिर ज्ञान की महिमा वर्णन की गई । अब भगवान् (१) उस ज्ञान के अधिकारी पुरुषों के लक्षण वर्णन करते हैं—

अथवा (२) गुरुओं से उपदिष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष अनुभव करने के साधन वर्णन करते हैं—

अथवा (३) जो पुरुष स्वयं ज्ञान को प्राप्त न कर सके, उसके लिए श्रद्धा इत्यादि का दूसरा मार्ग वर्णन करते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

श्रद्धावान्[1], लभते[7], ज्ञानं[6], तत्[2]-परः[3], संयत[4]-इन्द्रियः[5]	श्रद्धावान्[1], उस[2] परायण[3] हुआ, जित[4]-इंद्रिय[5] पुरुष ज्ञान[6] को पाता[7] है	ज्ञानं[1], लब्ध्वा[2], परां[3], शांतिं[4], अचिरेण[5], अधिगच्छति[6]	ज्ञान[1] को पाकर[2] परम[3] शांति[4] को वह शीघ्र[5] प्राप्त[6] होता है

अन्वयार्थ—श्रद्धावान्, तत्पर और जितेंद्रिय पुरुष ज्ञान को पाता है । और ज्ञान को पाकर (फिर वह) परम शांति को शीघ्र प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! ज्ञान की महिमा उसका फल और उसके सीखने का स्थान और विधि दर्शाकर अब मैं यह दर्शाता हूँ कि "कौनसा पुरुष, किन-किन लक्षणों से युक्त हुआ-हुआ, अथवा

ज्ञान की उपमा ज्ञान ही हो सकती है । अब इस पर और जो कुछ कहा जाय, वह सब समय वृथा खोना है ।"

किन-किन उपायों से, उस ज्ञान का साक्षात्कार करता है,' उसे सुन। जो पुरुष प्रथम तो श्रद्धावान् हो; फिर उस (ज्ञान) के परायण हो, अर्थात् जो कुछ श्रद्धा से सुने, उसको बर्ताव में लाने के लिए पूर्ण प्रवृत्त रहनेवाला हो; और अपनी इंद्रियों के वश में न हो बल्कि जो इंद्रियों को अपने वश में किये हुए हो; ऐसा पुरुष ज्ञान को पाकर अनुभव द्वारा परम शांतिरूप मोक्ष को शीघ्र प्राप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥*

संबंध—ज्ञान का अधिकारी वर्णन करके अब उसके विपरीत गुणों वाले (अनधिकारी) को सहित उसके फल के भगवान् कथन करते हैं—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

---

* तात्पर्य यह है कि श्रद्धालु होने पर भी कोई पुरुष मंद गति (आलसी) हो सकता है; परंतु विना उस ज्ञान के परायण हुए कोई उस ज्ञान को अनुभव नहीं कर सकता है; इसलिए 'तत्पर' उसका विशेषण कहा है। फिर 'तत्पर पुरुष' भी अजितेंद्रिय हो सकता है; विना अपनी इंद्रियों को वश में किये कोई पुरुष उस पवित्र ज्ञान का साक्षात्कार नहीं कर सकता, अतएव उसका जितेंद्रिय विशेषण भी कहा है। अर्थात् इन तीन विशेषणोंवाला पुरुष ही ज्ञान को साक्षात्कार कर सकता है, उससे अतिरिक्त नहीं। अथवा इन तीन उपायों से ही मनुष्य आत्मानुभव कर सकता है, इनसे अतिरिक्त उपायों द्वारा नहीं; अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के ये न चूकनेवाले साधन हैं। पूर्व जो श्लोक ३४ में प्रणिपात इत्यादि उपाय कहे गये थे, वे तो गुरु के चित्त को अपनी ओर झुकाने के लिए थे, न कि आत्मानुभव के लिए।

अज्ञः^{1}, च^{3},	अज्ञानी^{1} (मूर्ख),	न^{2}, अयं^{3}, लोकः^{4},	संशयात्मा^{1} को
अश्रद्धानः^{2}, च^{3},	अश्रद्धावान्^{2}	अस्ति, न^{5},	न^{2} यह^{3} लोक^{4}, न^{5}
संशय-आत्मा^{4},	और^{3} संशयात्मा^{4}	परः^{6}, न^{7}, सुखं^{8},	परलोक^{6} और
विनश्यति^{5}	नष्ट^{5} होता है	संशयात्मनः^{1}	न^{7} सुख^{8} है^{9}

पहला * अन्वयार्थ——अज्ञानी, अश्रद्धावान् और संशयात्मा (पुरुष) नष्ट होता है । संशयात्मा का न यह लोक है, न परलोक और न (उसको) सुख है ॥ ४० ॥

दूसरा अन्वयार्थ——(परंतु) जिसे न ज्ञान है और न श्रद्धा है, उस संशयात्मा मनुष्य का नाश हो जाता है । संशयात्मा को न यह लोक है, न परलोक और न सुख ही है ॥ ४० ॥

तीसरा अन्वयार्थ——संशयग्रस्त पुरुष अज्ञानी और अश्रद्धावान् हुआ नष्ट होता है । संशयग्रस्त को न यह लोक, न परलोक और न सुख ही है ॥ ४० ॥

चौथा अन्वयार्थ——अज्ञानी और अश्रद्धावान् पुरुष संशयात्मा हुआ नाश हो जाता है । संशयात्मा को न यह लोक सिद्ध होता है, न परलोक और न सुख ही है ॥ ४० ॥†

---

* पहले और दूसरे अर्थ तो बहुत टीकाकारों ने दिये हैं, और तीसरे वा चौथे किसी एक-दो ने । परंतु पूर्वापर के संबंध और व्याकरण की रीति से अपने-अपने स्थान पर चारों ही अर्थ युक्त हो सकते हैं, इसलिए हमने यहाँ चारों ही दे दिये हैं, जिसको जो उत्तम दीखें, वही ग्रहण कर ले ।

† इस विषय का श्लोक महाभारत (३, २००, ११२) में इस प्रकार है——

"नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।
ऊचुर्ज्ञानविदो वृद्धाः प्रत्ययो मोक्षलक्षणम् ॥"

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! जो पुरुष अज्ञानी अर्थात् मूर्ख है; जो श्रद्धा-रहित है, अर्थात् शास्त्र, गुरु वा महात्मा के वाक्य पर जो पूर्ण विश्वास नहीं रखता है; और जो संशयात्मा है, अर्थात् अपने चित्त के भीतर अनंत संशय भरे रखता है; ऐसे विशेषणोंवाले पुरुष का अवश्य नाश होता है। अर्थात् जिस प्रयोजन के लिए मनुष्य-शरीर मिला है, उससे भ्रष्ट हुआ वह मरे के तुल्य होता है। यह अज्ञानी और अश्रद्धावान् तो केवल नाश अर्थात् अधोगति को ही प्राप्त होता है; परंतु संशयात्मा (वहमी, भ्रमी, शक्की वा संदेहवान्) पुरुष का न केवल नाश (अधोगति) ही होता है, बल्कि उसका न यह लोक सिद्ध होता है, न परलोक, और न उसे कोई सुख ही मिलता है। अर्थात् संशयात्मा का न व्यवहार सिद्ध होता है, न परमार्थ, अतएव उसे कोई सुख ही नहीं होता ॥ ४० ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! जो पुरुष अज्ञानी और अश्रद्धावान् होने के कारण संशयात्मा अर्थात् संशयग्रस्त हो गया है, अथवा जो पुरुष संशयग्रस्त (वहमी, भ्रमी और शक्की) होने के कारण, श्रद्धा और ज्ञान से हीन हुआ होता है। ऐसे संशयात्मा पुरुष का नाश होता है, अर्थात् मनुष्यत्व से उसका गिरना वा अधोगमन होता है। अर्थात् यह संभव है कि केवल मूर्ख कभी बुद्धिमान् और केवल अविश्वासी कभी विश्वासी हो जाय। पर जब वह मूर्ख और अविश्वासी मनुष्य संदेहों में डूबा रहनेवाला होकर संशयात्मा (पक्का भ्रमी) हो जाता है, तो उसकी किसी

अर्थ—वृद्ध ज्ञानियों ने कहा है कि संशय करनेवाले को न यह लोक, न परलोक और न सुख प्राप्त होता है, बल्कि निश्चय (विश्वास) ही मोक्ष का लक्षण है।

प्रकार से ऊर्ध्वगति नहीं बल्कि सर्वप्रकार से अधोगति ही होती है, और इसी प्रकार अधोगति को वह प्राप्त हुआ नष्ट हो जाता है। ऐसे संशयात्मा पुरुष का न यह लोक सुधर सकता है, न परलोक और न उसे कहीं भी सुख मिल सकता है; बल्कि दर-बदर भटकता हुआ वह अशांत, दुःखी और असंतुष्ट ही रहता है ॥ ४० ॥*

---

* ज्ञानेश्वर महाराज इस श्लोक की व्याख्या विचित्र रूप से विस्तारपूर्वक ऐसे करते हैं कि—"सुनो, जिस प्राणी को इस ज्ञान की रुचि नहीं है, उसके जीवित के विषय क्या कहा जाय? उससे मृत्यु भला है। जैसे कोई सूना घर अथवा प्राणरहित शरीर हो, वैसे ही ज्ञान के बिना मोहयुक्त जीवित है। अथवा ज्ञान तो निश्चय से प्राप्त न हो किंतु उसकी इच्छा हो तो भी कुछ प्राप्ति की संभावना हो सकती है, परंतु यदि ज्ञान की बात ही क्या है, किंतु मन में आस्था भी नहीं है, तो वह मनुष्य संशयरूप अग्नि में पड़ा हुआ जानो। कारण, जब अमृत भी नहीं भाता, ऐसी अरुचि (उस अमृत से) उत्पन्न होती है, तब निश्चय से मृत्यु आया समझा जाता है। वैसे ही विषयों के सुख से जो सुखी होता है, ज्ञान के विषय जो बेपरवाह है, वह संशय के वश हो जाता है, इसमें संदेह नहीं। और एक बार संशय में जा पड़े तो निश्चय से नष्ट हो जाता है, और यह लोक तथा परलोक के सुख से हाथ धो बैठता है। जिसके शरीर में कालज्वर भर जाता है, वह जैसे शीत और उष्ण नहीं पहचानता, अग्नि और चाँदनी समान ही समझता है; वैसे वह संशय से व्याकुल मनुष्य सत्य और असत्य, अनुकूल और प्रतिकूल, भला और बुरा नहीं समझता। जन्मांध को रात और दिन जैसे मालूम नहीं पड़ते, वैसे ही संशय में रहने से कुछ भी नहीं जान पड़ता। इसलिए संशय से बढ़कर और कोई घोर पाप नहीं है। प्राणियों को यह नाश का जाल है। इसलिए इसका त्याग करना चाहिए। यह ज्ञान के अभाव

संबंध—(१) अब पूर्वोक्त उपदेश (कर्मयोग और ज्ञानयोग) का समुच्चय भगवान् उपसंहार रूप से दो श्लोकों द्वारा वर्णन करते हैं—

अथवा (२) अब प्रकरण की समाप्ति करते हुए भगवान् दो श्लोकों में कर्त्तव्य बताते हैं—

अथवा (३) यहाँ तक ज्ञानप्राप्ति के दो मार्ग स्पष्ट किये गये, एक बुद्धि का और दूसरा श्रद्धा का। अब ज्ञान और कर्मयोग का पृथक्-पृथक् उपयोग दर्शाते हुए भगवान् इस सारे विषय का उपसंहार करते हैं—

अथवा (४) अब विषय की समाप्ति में भगवान् अपना मुख्य वक्तव्य ज्ञान, कर्म और भक्ति का समुच्चय स्पष्ट करते हैं—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ ४१॥

योग^{1}-संन्यस्त^{2}-कर्माणं^{3}	योग^{1} से त्यागे^{2} हुए कर्मों^{3}वाले को	आत्म^{1}-वन्तं^{2}, न^{5}, कर्माणि^{4}, निबध्नन्ति^{6}, धनञ्जय^{3}	आत्म^{1}वान्^{2} को हे अर्जुन^{3}! कर्म^{4} नहीं^{5} बाँधते^{6} हैं
ज्ञान^{1}-संछिन्न^{2}-संशयं^{3}	ज्ञान^{1} से कट^{2} गये संशयों^{3} वाले को		

अन्वयार्थ—योग * से त्यागे हुए कर्मोंवाले, ज्ञान से कट गये

में रहता है। इसी को प्रथम जीतना चाहिए। जब अज्ञान का अँधेरा पड़ता है, तब मन में इस संशय की अत्यंत वृद्धि होती है। इससे श्रद्धा का मार्ग ही टूट जाता है, और यह हृदय में नहीं समा सकता, बुद्धि को भी खोज कर ग्रास लेता है। तब तीनों लोक संशयात्मक दिखाई देने लगते हैं।"

* "परमार्थ-दर्शनरूप ज्ञानयोग से जिसने समस्त धर्माधर्म रूप कर्म त्याग रक्खे हैं" (श्रीशंकराचार्य)। इस कथन से भाष्यकार का अभिप्राय

संशयोंवाले और आत्मवान् * पुरुष को, हे अर्जुन ! कर्म नहीं बाँधते हैं ।। ४१ ।।

यही समझा जा सकता है कि जिसने धर्माधर्म रूप कर्म स्वार्थबुद्धि से त्याग रक्खे हैं, न कि निःस्वार्थबुद्धि से। और यदि संपूर्ण रूप से कर्म का त्याग अभिप्राय लिया जाय, अर्थात् इस कथन से अर्थ यदि निःस्वार्थबुद्धि के भी कर्मों का त्याग लिया जाय, तो इस अर्थ में "कर्म नहीं बाँधते" यह कहना भगवान् का नितांत व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि जब सर्वप्रकार से कर्म नितांत त्याग ही दिये गये, तो फिर उनका बाँधना वा न बाँधना क्या ? इसलिए योग का अर्थ यहाँ ऐसा ज्ञानयोग अर्थात् संपूर्ण रूप से कर्म-त्याग ठीक नहीं बैठता है। भगवान् का अभिप्राय योग से यहाँ स्पष्ट "मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य" के प्रकार ईश्वरार्पण रूप कर्म से है, या "योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय" के अनुसार केवल कर्म-संग छोड़ने से है।

* आत्मवान् पद का अर्थ तो आत्मावाला है; परंतु इससे यह तात्पर्य नहीं कि जो पुरुष संशयवान् वा कर्मासक्त है, वह आत्मा से रहित है, और जो निश्चयवान् वा कर्मयोगी है वही आत्मा के सहित है; बल्कि अभिप्राय उस पुरुष से है कि जो अपने आपमें स्थित (self-possessed), प्रमाद से रहित, सावधान वा अपने आपको अपने वश किये हुए है। और यह ज़रूरी नहीं कि आत्मानुभवी (ब्रह्मवित्) पुरुष ही इस लक्षणवाला हो सकता है, बल्कि जो निष्काम चित्त से कर्म करते-करते और सत्-असत् के विवेक से अपने भीतर के संशय निवारण करते-करते आत्मसाक्षात्कार का अधिकारी हो गया है, वह (अधिकारी अर्थात् परोऽक्ष ज्ञानी) भी आत्मवान् लक्षणवाला हो सकता है। इसलिए आत्मवान् से अभिप्राय यहाँ केवल आत्मज्ञानी नहीं, किंतु आत्मज्ञान का अधिकारी भी है। परंतु श्रीतिलक महाराज ने इस पद का अभिप्राय केवल आत्मज्ञानी लेकर श्लोक के अर्थ ऐसे किये हैं—"हे धनंजय !

व्याख्या—हे अर्जुन ! योग से जिसने कर्म त्यागे हुए हैं, अर्थात् जिसने शारीरिक कर्म तो नहीं त्यागे, परंतु समत्वबुद्धि में युक्त होने से कर्म में कर्तृत्वभाव, आसक्ति और फल-कामना त्यागी हुई है। दूसरे शब्दों में यूँ कि जिसके बाह्य शारीरिक कर्म नहीं किंतु भीतर के कर्म (समत्व भाव में युक्त होने से) त्यागे हुए हैं; अथवा समत्वबुद्धि में युक्त होकर निरासक्त मन से, या ईश्वरार्पण भाव से कर्म करते-करते जिसकी वृत्ति अपने स्वरूप के ध्यान में ऐसी लीन हो गई है कि उसके सब शारीरिक और मानसिक कर्म स्वतः बंद पड़ गये हैं; अथवा परमार्थ-दर्शनरूप योग से जिसने धर्माधर्मरूप भाव तो कर्मों में त्याग दिया हुआ है, पर जो स्वतः प्राप्त या लोकसंग्रह-निमित्त कर्म अथवा स्वाभाविक कर्म को उसका कर्तृत्वादि संग छोड़कर करता रहता है। और आत्मज्ञान से जिसने अपने सब संशयों को काट रक्खा है, अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होने पर जिसके सब संशय (भ्रम वा शक) निवृत्त हो गये हैं (जैसा कि पूर्व "भिद्यते हृदयग्रंथि॰" इत्यादि श्रुतियों से ३७वें श्लोक की व्याख्या में दर्शाया है)। और जो आत्मवान् अर्थात् आत्मनिष्ठ, सावधान, अप्रमत्त, वा अपने आप को अपने बल से अपने वश में रखनेवाला है, ऐसे पुरुष को किसी प्रकार के इष्ट और अनिष्ट कर्म कदापि नहीं बाँधते, अर्थात् उसे किसी प्रकार के बंधन में नहीं डाल सकते हैं ॥ ४१ ॥

संबंध—उक्त कथन को हेतु बनाकर भगवान् अब अंत में अर्जुन को ऐसे उपदेश करते हैं—

उस आत्मज्ञानी पुरुष को कर्म बद्ध नहीं कर सकते कि जिसने (कर्म-) योग के आश्रय से कर्म अर्थात् कर्म-बंधन त्याग दिये हैं और ज्ञान से जिसके (सब) संदेह दूर हो गये हैं ।"

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे यज्ञ-विभागयोगो नाम (अथवा
ज्ञान-कर्म-संन्यास * योगो नाम) चतुर्थोऽध्यायः ।

तस्मात्^{1},	इसलिए^{1} अज्ञान^{2} से	छित्त्वा^{3}, एनं^{1},	इस^{1} संशय^{2} को
अज्ञान^{2}-सम्भूतं^{3}	उत्पन्न^{3} हुए को	संशयं^{2}	काट^{3} कर
हृत्^{1}-स्थं^{2},ज्ञान^{4}-	हृदय^{1} में स्थित^{2}	योगं^{2},आतिष्ठ^{3},	हे अर्जुन^{1} !
असिना^{5},	को आत्मा^{3} के ज्ञान^{4}	उत्तिष्ठ^{4},	(कर्म-) योग^{2}
आत्मनः^{3}	के खड्ग^{5} से	भारत^{1}	में लग^{3} और उठ^{4}

अन्वयार्थ----इसलिए, हे अर्जुन ! अज्ञान से उत्पन्न और हृदय में स्थित इस संशय को आत्मा के ज्ञानरूपी खड्ग से काटकर योग में लग और उठ ॥ ४२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! क्योंकि संशयात्मा अज्ञानी को न इस लोक में सुख है, न परलोक में; और निश्चयात्मा ज्ञानवान् को कोई कर्म बंधायमान ही नहीं करता, बल्कि वह कर्म करते-

---

* यहाँ "ज्ञान-कर्म-संन्यास" पद में संन्यास शब्द से अभिप्राय स्वरूपतः 'कर्मत्याग' नहीं किंतु आत्मज्ञान के बल से कर्मसंग का त्याग अथवा निष्कामबुद्धि से परमेश्वर में कर्म का संन्यास अर्थात् अर्पण करना है। और आगे अठारहवें अध्याय के आरंभ में इसी अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है।

करते सीधा परम शांति ही को पाता मुक्त होता है। इसलिए तू भी हे भरत की संतान (अर्जुन)! इस संशय को (कि "मैं युद्ध करूँ वा न करूँ", "मैं सदा निर्विकार हूँ वा नहीं", या "मैं गुरुओं तथा बांधवों को मारकर पाप को ही प्राप्त हूँगा", इत्यादि संशय को) जो आत्मा के अविवेक से उत्पन्न हुआ है और जो तेरे हृदय में घर कर बैठा है, इसे आत्मज्ञान के खड्ग से काटकर तू योग में लग और उठ। अर्थात् आत्मा के विवेक से इस नीच और सब अनर्थों के मूल संशय को निवृत्त करके कर्मफल की कामना छोड़कर, सिद्धि और असिद्धि को सम समझते हुए, तू निरासक्त मन से कर्म का अनुष्ठान कर; इस रीति से कर्म करने को धर्मयुद्ध के लिए उठ। इस प्रकार संशय और आसक्ति से रहित होकर कर्म करने से तू कदापि पाप को प्राप्त नहीं होगा, और न वह कर्म तुझे किंचित् बंधायमान ही करने पायेगा ॥ ४२ ॥*

---

* इन दो श्लोकों (४१, ४२) पर श्रीतिलक महाराज ने ऐसे व्याख्या की हैं—"ईशावास्य उपनिषद् में 'विद्या' और 'अविद्या' का पृथक् उपयोग दिखलाकर जिस प्रकार दोनों को विना छोड़े ही आचरण करने के लिए कहा गया है (ईश ११); उसी प्रकार गीता के इन दो श्लोकों में ज्ञान और (कर्म-) योग का पृथक् उपयोग दिखलाकर उनके अर्थात् ज्ञान और योग के समुच्चय से ही कर्म करने के विषय में अर्जुन को उपदेश दिया गया है। इन दोनों का पृथक्-पृथक् उपयोग यह है कि निष्काम बुद्धियों के द्वारा कर्म करने पर उनके बंधन टूट जाते हैं और वे मोक्ष के लिए प्रतिबंधक नहीं होते, एवं ज्ञान से मन का संदेह दूर होकर मोक्ष मिलता है। अतः अंतिम उपदेश यह है, अकेले कर्म या अकेले ज्ञान को स्वीकार न करो, किंतु ज्ञान-कर्म-समुच्चयात्मक कर्मयोग का आश्रय करके युद्ध करो।"

इस अध्याय के सारे अर्थ को श्रीमधुसूदन स्वामी ने ऐसे श्लोकबद्ध किया है—

"स्वस्यानीशत्वबाधेन भक्तिश्रद्धे दृढीकृते।
धीहेतुः कर्मनिष्ठा च हरिणेहोपसंहृता॥"

अर्थ—इस अध्याय में भगवान् ने अपने अनीश्वरपने की निवृत्ति करके अर्जुन में भक्ति और श्रद्धा दृढ़ की। फिर ज्ञान का हेतु जो कर्म-निष्ठा है, उसका उपसंहार किया। ※

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे यज्ञ-विभागयोगो नाम (अथवा ज्ञान-कर्म-संन्यासयोगो नाम) चतुर्थोऽध्यायः।

* * *

※ श्रीयामुनाचार्य ने इस अध्याय के सार को ऐसे श्लोकबद्ध किया है—

"प्रसङ्गात् स्वस्वभावोक्तिः कर्मणोऽकर्मतास्य च।
भेदा ज्ञानस्य माहात्म्यं चतुर्थाध्यात्र उच्यते।"

अर्थ—इस चौथे अध्याय में प्रसंगपूर्वक अपने (ईश्वरीय) स्वभाव का भगवान् ने वर्णन किया। फिर कर्म का अकर्मपना और उसके भेद कहे, और फिर ज्ञान का माहात्म्य कहा है।

चौथे अध्याय का संक्षेप

(१) पूर्व अध्याय में कर्मयोग की सबके लिए आवश्यकता व उपयोगिता दर्शायी गई। अब चौथे अध्याय में उसी योग की सनातनता, उसका स्वरूप और ज्ञान-सहित करने की उसकी विधि और गति का सविस्तर वर्णन होता है। पहले भगवान् उस योग की सनातनता इस प्रकार दर्शाते हैं—

(क) मैंने यह सनातन कर्मयोग सारी सृष्टि के आदि (मूल) पुरुष विवस्वान् को बताया, विवस्वान् ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को। इस प्रकार होते-होते राजऋषियों ने इसको जाना।

(ख) बहुत काल से यह योग लोप हो गया हुआ था, इसलिए पुनः इसको नये सिरे से ताज़ा करने के लिए मैंने आज तुझे बताया।

(२) इस कथन पर अर्जुन संदेहयुक्त हुआ पूछता है कि—

आपका जन्म तो अभी हुआ है और विवस्वान् का पहले। मैं क्योंकर जानूँ कि आपने इस योग को पहले कहा?

(३) इस संशय पर भगवान् उत्तर देते हैं कि—

(क) मेरे और तेरे बहुत से जन्म हुए हैं, तू (अज्ञान के कारण) उन्हें नहीं जानता, परंतु मैं जानता हूँ।

(ख) पर साधारण जीवों के समान मेरे जन्म नहीं हुआ करते, क्योंकि—

१. मैं अजन्मा और सबका ईश्वर होता हुआ भी अपनी माया से जन्म लेता हूँ, साधारण पुरुषों के समान कर्मबद्ध होकर नहीं।

२. कोई कर्मफल भोगने के लिए मैं देह धारण नहीं करता, किंतु जब कभी धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब मैं साधु-महात्माओं की रक्षा के लिए और दुष्टों के नाश के लिए अपने आपको रच लेता (देह धारण करता) हूँ। इस प्रकार सृष्टि की रचना और रक्षा के लिए अपनी ही माया से मैं जन्म लेता हूँ, कोई कर्माधीन होकर नहीं।

(४) फिर भगवान् अपने दिव्य जन्मकर्मों के ज्ञाता और उपासक के विषय तथा अपनी वास्तविक अवस्था के विषय कहते हैं--

(क) जो मेरे दिव्य जन्मकर्मों को यथार्थ जानता है, वह पुनर्जन्म को नहीं पाता, बल्कि सीधा मुझे ही प्राप्त होता है।

(ख) और जो राग-भय-क्रोध से रहित, मेरे ही आश्रित हुए, मेरे ध्यान में मग्न होकर, बहुत से तपों व ज्ञान से शुद्ध अंतःकरण होते हैं, वे सीधा मेरा ही स्वरूप हो जाते अर्थात् मुक्ति लाभ करते हैं।

(ग) जो जिस भावना से मेरे पास आते अर्थात् मेरी उपासना करते हैं, उसी भावना से मैं उनको मिलता (अनुग्रह करता) हूँ। अर्थात् दुःखी के दुःख को दूर करता हूँ, अर्थी के अर्थ को पूरा करता हूँ, मुमुक्षु को ज्ञान, ज्ञानी को मोक्ष और जगत् के उद्धार करने की इच्छावाले को जगत् के उद्धार का सामर्थ्य देता हूँ।

(घ) गुण-कर्म के विभाग से चारों वर्ण मुझसे ही रचे गये हैं। उनका कर्त्ता होता हुआ भी तू मुझे

अविनाशी और अकर्त्ता समझ। क्योंकि न मुझे कर्म लिपायमान करते हैं और न कर्मफल की मुझे कोई इच्छा है।

(५) अपनी वास्तविक दशा और उसके ज्ञाता का फल दर्शाकर भगवान् फिर अर्जुन को ऐसे उपदेश देते हैं—

(क) इस प्रकार मेरी वास्तविक दशा को जानकर पूर्व मुमुक्षुओं ने भी कर्म किये हैं, और अब तू भी उनके समान कर्म कर।

(ख) परंतु कर्म करने से पहले तू यह जान ले, अर्थात् यह समझ ले कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है, क्योंकि कर्म की गति गहन है और इसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी धोखा खा गये हैं। और जो कर्म में अकर्म तथा अकर्म में कर्म को पहचान लेता है, वही वास्तव में बुद्धिमान् होता है, और वही ठीक रीति से समस्त कर्म कर सकता है, अन्य नहीं।

(ग) और जिन्होंने कर्म के तत्त्व और मेरी वास्तविक दशा को जान लिया है, और इस कारण से जिनके सारे कर्म स्वार्थ-कामना और स्वार्थ-संकल्पों से रहित हैं; उनके तो समस्त कर्म उक्त ज्ञानाग्नि से दग्ध हुए होते हैं। उन्हीं को विचारवान् महात्मा लोग पंडित कहते हैं।

(घ) वे (पंडित) कर्म-फल को त्यागकर नित्य तृप्त और निराश्रय रहते हैं, और कर्म करते हुए भी वास्तव में कुछ नहीं करते होते।

(ङ) वे तो सर्वप्रकार के त्याग से युक्त हुए, अर्थात्

आशा, ममता और अधीनता से रहित हुए केवल शरीर से कर्म करते हैं, और इसी कारण से किसी पाप को वे प्राप्त नहीं होते।

(च) जो स्वतः प्राप्त हो उस पर संतुष्ट रहनेवाले, द्वंद्वातीत, ईर्ष्यारहित और सिद्धि-असिद्धि में समपुरुष कर्म करते भी कर्म से बंधायमान नहीं होने पाते।

(छ) ऐसे निरासक्त, निष्कामी और समत्वभाव से युक्त ज्ञानवान् पुरुष के कर्म तो यज्ञ-निमित्त वा भगवदर्पण-निमित्त होते हैं, जिससे कर्त्ता को विना बंधायमान किये वे समग्र विलीन हो जाते हैं।

(६) इसके बाद भगवान् अब तेरह प्रकार के यज्ञ वर्णन करते हैं—

सबसे पहले "सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रूप सम्यक् दर्शन" की यज्ञरूप से स्तुति करते हैं। फिर (२) दैवयज्ञ, (३) ब्रह्माग्नि में यज्ञ से यज्ञ का हवनरूप ब्रह्मयज्ञ, (४) संयमाग्नि में श्रोत्रादि इंद्रियों का हवनरूप इंद्रिययज्ञ, (५) इंद्रियाग्नि में शब्दादि विषयों का हवनरूप विषययज्ञ, (६) आत्मसंयमाग्नि में सब इंद्रियों और प्राणों के कर्मों का हवनरूप कर्मयज्ञ, (७) द्रव्ययज्ञ अर्थात् धनयज्ञ, (८) तपयज्ञ, (९) योगयज्ञ, (१०) स्वाध्याययज्ञ, (११) ज्ञानयज्ञ, (१२) प्राण का अपान में और अपान का प्राण में हवनरूप प्राणायामयज्ञ और (१३) प्राणों का प्राणों में हवनरूप प्राणयज्ञ। इन से अतिरिक्त और भी कर्म जिनसे कुछ उपकार वा आध्यात्मिक उन्नति होती हो उसे भी यज्ञ नाम देते हैं, और इन सब नाना प्रकार के यज्ञों का सविस्तर वर्णन वा उपदेश वेदों में दिया बतलाते हैं।

(७) फिर भगवान् इन यज्ञों के फल और उनकी उत्पत्ति के विषय में कहते हैं कि—

(क) इन यज्ञों के जाननेवाले अर्थात् करनेवाले और यज्ञों से बचा हुआ अमृत खानेवाले समस्त पापों से निवृत्त हुए सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

(ख) जो अयज्ञी (यज्ञ न करनेवाले) हैं, उनके लिए तो यह लोक भी सिद्ध नहीं फिर परलोक कहाँ ? अर्थात् वे दोनों लोकों की सिद्धि से हाथ धो बैठते हैं।

(ग) ये यज्ञ स्वतः आकाश से नहीं प्रकट हो जाते, बल्कि इन सबकी उत्पत्ति, हे अर्जुन ! तू कर्म से जान।

(घ) इन सारे यज्ञों में ज्ञानयज्ञ सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि समस्त कर्म सहित फल के ज्ञान में आ प्राप्त होते हैं, अर्थात् ज्ञानयज्ञ के अंतर्गत हैं।

(८) इस प्रकार ज्ञानयज्ञ को सर्वोपरि श्रेष्ठ कहकर भगवान् फिर उस ज्ञान के सीखने की विधि, ज्ञान के अधिकारी के लक्षण, तथा ज्ञान के अनुभव करने के उपाय सहित फल के वर्णन करते हैं कि—

(क) जब कोई तत्त्वदर्शियों के पास बड़े नम्रभाव से जाकर दंडवत् प्रणाम करता है, सच्चे हृदय से उनकी (शिष्यभाव से) सेवा करता है, और अपनी भक्ति-पूर्वक सेवा से प्रसन्न करके उनसे इस तत्त्व को पूछता है, तो वे बड़े आनंद से इस ज्ञान का उपदेश करते हैं। ऐसे तू भी जाकर सीख।

(ख) यह ज्ञान ऐसा है कि इसके जानने के पीछे फिर कुछ

जानना बाक़ी नहीं रहता, और इसको जानकर मनुष्य फिर धोखा नहीं खाता, बल्कि सब पदार्थों को अपने में वा भगवान् में देखता है।

(ग) यदि कोई पापियों से भी अधिक पापी होता है, तो वह भी इस ज्ञानरूपी नौका से समस्त पापों को तर जाता है।

(घ) जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ियों को भस्म कर देती है, वैसे यह ज्ञानाग्नि मनुष्य के सब (संचित और आगामी कर्मों को भस्मीभूत कर देती है।

(ङ) संसार में इस ज्ञान से बढ़कर पवित्र करनेवाला साधन (अथवा पवित्र वस्तु) और कोई भी नहीं है।

(च) कर्मयोग में युक्त होने से, अर्थात् समता भाव से और निरासक्त मन के साथ नित्य कर्म करते-करते, जिसका अंतःकरण अत्यंत शुद्ध हो चुका है, वह विना कोई अन्य यत्न के इस ज्ञान को अंतःकरण में (वा अपने भीतर) समय पर स्वयं पा लेता अर्थात् अनुभव कर लेता है।

(छ) श्रद्धावान्, तत्पर और जितेंद्रिय पुरुष इस ज्ञान को पाता है, और पाकर फिर परम शांति को शीघ्र प्राप्त होता है।

(ज) अज्ञानी, अश्रद्धावान् और संशयात्मा पुरुष नष्ट होता है, बल्कि संशयात्मा पुरुष का तो न यह लोक सिद्ध होता है, न परलोक; अर्थात् न उसका व्यवहार सिद्ध होता है और न परमार्थ, इसलिए उसे कोई सुख नहीं होता।

(झ) एस, जिसने कर्मयोग द्वारा कर्म छोड़ दिये हैं,

अर्थात् जिसने कर्मों में आसक्ति त्याग दी है, और आत्मज्ञान से जिसने अपने सब संशय छिन्न-भिन्न कर दिये हैं; ऐसे सावधान पुरुष को कर्म कभी लिपायमान नहीं करते।

(६) इस प्रकार ज्ञान-सहित कर्मयोग की महिमा और फल दर्शा कर भगवान् अब अर्जुन को यह उपदेश देते हैं कि—

तू भी इसी प्रकार ज्ञानरूप खड्ग से हृदय के सब संशयों को (जो अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं) काटकर कर्मयोग में लग, और इसी कर्मयोग में लगने को तू धर्म-युद्ध के लिये उठ खड़ा हो।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यांतर्गत योग-शास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, यज्ञ-विभाग-योग नामक (अथवा ज्ञान-कर्म-संन्यास-योगनामक) चौथा अध्याय समाप्त हुआ ।

* * *

ॐ

पञ्चमोऽध्यायः

संबंध--चौथे अध्याय के श्लोक १५ (कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं) में अर्जुन को भगवान् ने उपदेश दिया कि--"पूर्व मुमुक्षुओं के समान तू भी कर्म ही कर", और फिर श्लोक १८ से २३ तक, अर्थात् "कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः"। १८। "यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः"। १९। "त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः"। २०। इत्यादि श्लोकों से यह स्पष्ट किया कि "कर्मों को निष्कामता से करता हुआ पुरुष कर्म में प्रवृत्त हुआ भी अकर्त्ता ही रहता है; साधारण पुरुषों के समान उसके कर्म बंधन का हेतु नहीं होते; वह तो उलटा (ऐसे कर्मों वा पापों से) मुक्त होता है।" इस प्रकार कर्मयोग की महिमा की। फिर श्लोक २४ से ३४ तक नाना प्रकार के यज्ञ वर्णन करते हुए भगवान् ने ज्ञानयज्ञ को सबसे श्रेष्ठ और कल्याणकारी दर्शाया। फिर ("सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"। ३३। "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"।३८। "ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।"३९ इत्यादि श्लोकों से) ज्ञान की यहाँ तक प्रशंसा की कि संपूर्ण कर्मों की समाप्ति इसी में सिद्ध की, और इस (ज्ञान) से बढ़कर किसी और को पवित्र करनेवाला नहीं दर्शाया बल्कि "इसी द्वारा शीघ्र शांति को पाता है," ऐसा सिद्धांत निरूपण किया। और फिर अंत में यह उपदेश

दिया कि (योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत) "हे अर्जुन ! कर्मयोग में लग और उठ।" इस प्रकार कभी कर्मयोग की महिमा और आज्ञा सुनकर, और कभी ज्ञान अथवा योग से कर्म-संन्यस्त (जिसे भोला अर्जुन स्वरूप से कर्म-संन्यास समझता है) की सर्वोपरि प्रशंसा सुनकर अर्जुन (जैसे तीसरे अध्याय के आरंभ में संशययुक्त हो गया था वैसे अब उस) के चित्त में संदेह उठा, जिसके निवारणार्थ भगवान् से वह प्रश्न करता है, और उस पर पाँचवाँ अध्याय आरंभ होता है।

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ १ ॥

संन्यासं^{3},	हे कृष्ण^{1}! कर्मों^{2} के	यत्^{2}, श्रेयः^{4},	इन^{1} दोनों में जो^{2}
कर्मणां^{2}, कृष्ण^{1},	संन्यास^{3} को और^{4}	एतयोः^{1}, एकं^{3}	एक^{3} श्रेष्ठ^{4} (हो)
पुनः^{5}, योगं^{6},	फिर^{5} (कर्म-) योग^{6}	तत्^{1}, मे^{2}, ब्रूहि^{5},	वह^{1} मुझे^{2} ठीक^{3}
च^{4}, शंससि^{7}	को तू सराहता^{7} है	सु^{3}-निश्चितम्^{4}	निश्चय^{4} से कहो^{5}

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे कृष्णजी ! आप (कभी) कर्मों के संन्यास को और फिर (कर्म-) योग को सराहते हो। इन दोनों में से जो एक श्रेष्ठ हो, वह ठीक निश्चय से मुझे आप कहिए ॥ १ ॥

व्याख्या—चौथे अध्याय में कर्म और ज्ञान की अपने-अपने स्थान पर प्रशंसा करके भगवान् ने जो अध्याय के अंत (श्लोक ४१, ४२) में "योगसंन्यस्तकर्माणं" और "योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत" वर्णन किया, उसका तात्पर्य तो यह था कि "जिस पुरुष के कर्म शरीर से तो नहीं किंतु योग से छूटे हुए हैं, अर्थात् जिस पुरुष ने शारीरिक कर्म तो नहीं किंतु कर्म में संग-दोष त्याग रक्खा है, अथवा दूसरे शब्दों में यह कि जो ऐसी युक्ति से

कर्म करता है कि मन से न कर्म के कर्त्ताभाव अर्थात् कर्तृत्व में और न फल-कामना में आसक्त होता है, बल्कि कर्म करते समय भी जो मन से अपने अकर्त्ता, अभोक्ता, असंग और साक्षीभाव वा निश्चय में युक्त रहता है; ऐसा योग से छोड़े हुए कर्मवाला आत्मवान् पुरुष कर्मों में बंधायमान होने नहीं पाता। इसलिए हे अर्जुन! तू उठ और इस प्रकार के कर्मयोग में युक्त हो।" पर भोला अर्जुन भगवान् के इस गुह्य आशय को न समझकर इन दोनों वाक्यों अर्थात् "योगमातिष्ठोत्तिष्ठ" और "योगसंन्यस्तकर्माणं" के तात्पर्य को एक दूसरे के परस्पर विरुद्ध देखता है, जिससे ऐसा प्रश्न करता है कि हे श्रीकृष्णजी *! कभी तो आप कर्म-संन्यास की प्रशंसा करते हैं और कभी कर्मयोग की, अर्थात् कभी तो कर्म को छोड़ने के लिए आप कहते हैं, और कभी आप कर्म में लगने की आज्ञा देते हैं। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध वाक्यों से मुझे भ्रम हो रहा है, और एक में भी मन युक्त होने को उद्यत नहीं होता; और न एक ही समय में एक ही पुरुष से ये दोनों एक साथ हो सकते हैं। इसलिए कृपापूर्वक आप ठीक-ठीक निश्चय करके कहिए कि उन दोनों में से कौन सा एक श्रेष्ठ है, और मेरे लिए कौन सा (मार्ग) उपयोगी है; अथवा मुझे आपके कौन से वाक्य वा उपदेश पर चलना चाहिए कि जिसके अनुसार चलने से मुझे श्रेय की प्राप्ति हो ॥ १ ॥

संबंध - अर्जुन के प्रश्न का भगवान् अब उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

---

* कृष्ण के सविस्तर अर्थ प्रस्तावना के अंत में देखो।

संन्यासः,	संन्यास और कर्म-	तयोः, तु,	परंतु उन दोनों में
कर्म-योगः, च	योग	कर्म-संन्या-	कर्म-संन्यास से
निःश्रेयस-	दोनों कल्याण	सात्, कर्मयोगः,	कर्म-योग
करौ, उभौ	(मोक्ष) करनेवाले हैं	विशिष्यते	विशेष है

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—संन्यास और कर्म-योग दोनों कल्याण करनेवाले हैं। परंतु उन दोनों में कर्म-संन्यास से कर्म-योग विशेष है ॥ २ ॥

व्याख्या—अर्जुन के प्रश्न का भगवान् ऐसे उत्तर देते हैं कि हे अर्जुन! यद्यपि संपूर्ण कर्मों का छोड़ना नितांत असंभव है, तथापि तेरे ख़्याल में जो सब कायक, वाचक (वैदिक कर्मकांडादि) वाह्य कर्मों को छोड़कर एकांत में चुपके बैठे हुए तत्त्वचिंतन करना रूप संन्यास * है, जिसको सर्वसाधारण सांख्य-योग कहते हैं ;

---

* साधारण बोलचाल में वा अर्जुन के ख़्याल में तो सब वाह्य कर्मों का त्याग संन्यास कहलाता है ; अर्थात् सर्वप्रकार के (कायक और वाचक) कर्मों को जान-बूझकर त्यागकर और संसार से विरक्त होकर किसी एकांत स्थान वा गुहा में बैठ केवल जड़ मूक आलसी की सी दशा को धारण कर तत्त्वचिंतन करना, संन्यास का ऐसा अर्थ अर्जुन वा साधारण लोग मानते हैं। पर भगवान् का अपना अभिप्राय संन्यास शब्द से ऐसा नहीं। वह अपने आशय को चौथे अध्याय के अंत (श्लोक ४१) में संक्षेप से प्रकट कर चुके हैं और आगे अधिक स्पष्ट करेंगे। श्लोक ४१ में भगवान् ने कर्म-संन्यास का लक्षण "योगसंन्यस्तकर्माणं" योग से त्यागे हुए कर्मोंवाला वर्णन किया है और इसी (पाँचवें) अध्याय के श्लोक ३ में वे स्पष्ट करके कहते हैं कि "उसे नित्य संन्यासी जानो, जो न द्वेष करता है और न आकांक्षा।" अर्थात् कर्म-योग में युक्त होने से, अथवा सारे कर्मों को ईश्वर-परायण करने से जब पुरुष का मन अपने स्वरूप के ध्यान में ऐसा लीन वा स्थिर हो जाता है कि उसके अंतःकरण में

और यह जो निष्काम चित्त से कर्मों में युक्त होना रूप कर्म-योग है; ये दोनों ही कल्याणकारी वा मोक्ष दिलानेवाले हैं। परंतु पूर्व

कर्तृत्व का भाव नहीं रहता, समत्वबुद्धि प्राप्त हुई होती है, और चित्त किसी प्रकार की कामना वा राग-द्वेष में तरंगें नहीं उठाता, तो उस अवस्था का नाम भगवान् संन्यास लेते हैं।

परंतु अर्जुन के कर्म-संन्यास के भाव को सम्मुख रखकर उसको उत्तर देने की दृष्टि से भगवान् अब संन्यास शब्द से सांख्यमार्ग के संन्यास को ही यहाँ लेते हैं। अथवा अन्य रीति से उनका अभिप्राय उस कर्म-संन्यास अवस्था से भी हो सकता है कि जो कर्मातीत अवस्था होती है, अर्थात् जो तत्त्वचिंतन द्वारा (वृत्ति के निज स्वरूप में लीन वा आरूढ होने से) सर्वप्रकार के कायक, वाचक और मानसिक कर्मों का स्वतः बंद पड़ जाना रूप कर्म-संन्यास होता है।

वास्तव में कर्मों का छोड़ना मन वा चित्त की अवस्था पर निर्भर है, शरीर वा इंद्रियों पर नहीं। इसीलिए भगवान् कर्मों के छोड़ने और न छोड़ने को चित्तवृत्ति पर नियत करते हैं, शरीर वा बाह्य इंद्रियों पर नहीं। यह शरीर जो बाहर से चलता-फिरता, हिलता-जुलता दिखाई देता है, जब मरता है, तो यही मन वा चित्त है जो उसे यहाँ के और वहाँ के (दोनों लोकों के) भोगों को दिलाने का कारण होता है। इसलिए सारी गीता में यह स्पष्ट किया गया है कि जो पुरुष मन से कर्मों को छोड़ देता है और न कर्म-फल की कामना रखता है, वह चाहे ऊपर से कर्मेंद्रियों द्वारा कर्म करता हो, पर वास्तव में वह कुछ भी नहीं करता होता। वह ठीक निष्कर्मी वा संन्यासी होता है। और जो कोई शरीर के कर्म तो छोड़ बैठता है, पर मन से नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करता अनेक कामनाओं से युक्त होता है, तो वह पुरुष संन्यासी नहीं किंतु कपटी वा झूठा होता है, जिससे हानि ही हानि उठाता है और किंचित्-मात्र भी लाभ को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि ऐसा करने से न तो चित्त की कामनाएँ ही पूरी रीति से दूर होती हैं, और न मन ही

(अध्याय ३. ४ में) यह दर्शाया जा चुका है कि "प्रारंभ में बाह्य कर्म के विना निष्कर्मावस्था वास्तव में भोगी ही नहीं जा सकती,

---

संकल्प-विकल्प तथा कर्तृत्वादि संग-दोष से रहित होने पाता है। और यह स्पष्ट है कि बल रखनेवाला (वीर्यवान्) ही ब्रह्मचारी हो सकता है, निर्बल (वीर्यहीन या नपुंसक) भला ब्रह्मचारी कैसे ? ईमानदारी उसी की है जिसके पास बहुत बड़ी अमानत रखी जाय, और वह फिर विना पूछे उस अमानत को वापस लौटा दे, उसकी नहीं कि जिसके पास कोई अमानत छोड़ी ही न जाय और उसे बेईमानी करने का अवसर ही न प्राप्त हो। क्या नंगी नहायेगी और क्या निचोड़ेगी। ऐसे ही सच्चा त्यागी वा संन्यासी तो वह है कि जो ऊपर से तो अगणित कर्म कर रहा हो, अर्थात् इंद्रियों से नाना प्रकार के उपकाररूप व्यवहार कर रहा हो, परंतु भीतर चित्त से सब कर्म छोड़े हुए हो, और अगणित प्राप्त पदार्थों के होते हुए भी जो किंचित्-मात्र उनमें आसक्त न हो। और वह संन्यासी नहीं कि जो कर्म को वा संसार को दुःख या भय के कारण छोड़ दे, और जड़ मूक आलसी होकर एक स्थान में जा बैठे। ऐसे पुरुष को तो अपने चित्त के संतोष दिखाने का अवसर ही नहीं मिलता फिर उन्नति कैसे कर सकता है, और संतोष भी उसे कैसे हो सकता है। और न इस रीति से कर्म या संसार ही ठीक छूट सकता या छोड़ा जा सकता है (जैसा कि चौथे अध्याय के श्लोक १७ से १९ की व्याख्या तथा फ़ुटनोट में स्पष्ट दर्शाया गया है)। कर्म का वा संसार का ठीक-ठीक छोड़ना या छूटना यह है कि पुरुष संसार में रहे, सर्व कर्म जैसे चाहिए वैसे करे, पर इस रीति से करे कि चित्त का संतोष प्रकट हो, और कामना उत्पन्न न हो, ईमान ठीक रहे, दूसरों का उपकार भी हो, अपनी कामना के कारण दलदल में न फँसे, दूसरों को दुःख न पहुँचावे, अर्थात् दूसरों को दुःख पहुँचाने के उद्देश्य से कोई काम न करे, और न अपने तुच्छ आनंद, लौकिक सुख और लाभ के लिए ही कर्म करे। कर्म को केवल कर्त्तव्य समझकर ही करे,

और न त्यागमात्र से सिद्धि ही मिलती है", अतएव इन दोनों में कर्म-संन्यास अर्थात् बाह्य कर्मों को छोड़कर एकांत में तत्त्व-

---

और ऐसी विचारबुद्धि वा युक्ति से कर्म करने पर फल कुछ ही क्यों न प्राप्त हो, उसमें वह सुख-दुःख न माने। इस प्रकार निरासक्त मन से और समत्वभाव से कर्म करने का नाम कर्म-संन्यास है। इसी रीति से प्रथम भीतर के कर्म बंद हो जाते हैं, फिर बाहर के कर्म भी स्वतः बंद पड़ जाते हैं। इसी रीति से पुरुष संसार से ऊपर वर्तनेवाला वा पूर्ण विरक्त हो जाता है, अन्य रीति से ठीक नहीं होता। और इसी रीति के पूर्व भाग का नाम गौण रूप से कर्म-संन्यास और मुख्य रूप से कर्म-योग है, और इसी के अंतिम भाग का नाम कर्मातीत अवस्था अर्थात् मुख्य रूप से कर्म-संन्यास है; अर्थात् समत्वबुद्धि और तत्त्वविवेक के कारण जब भीतर मन से तो सब कर्म छोड़े गये हों और केवल शरीर से कर्म किये जा रहे हों, तो उस अवस्था का नाम बाह्य रूप से कर्म-योग है और आंतर रूप से कर्म-संन्यास है, क्योंकि भीतर से कर्म छूटे हुए होते हैं; और यही "योगसंन्यस्तकर्माणं" है। पर जब तत्त्वविवेक और समत्वबुद्धि के अधिक बढ़ जाने से बाहर के कर्म भी बंद पड़ जायँ, अर्थात् निजानंद के बढ़ने पर सर्वप्रकार के व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्म अनायास बंद पड़ जायँ, तो इस अवस्था का नाम बाह्याभ्यंतर रूप से कर्म-संन्यास है, केवल भीतर से नहीं। यही कर्मातीत अवस्था है। इसी उक्त रीति के ये दोनों भाग वा पक्ष मोक्ष दिलानेवाले हैं। पर जान-बूझकर कर्म छोड़ने का नाम जो संन्यास है; वह मोक्ष का साधन नहीं किंतु नरक का साधन होता है। इसलिए संन्यास से अपना अभिप्राय भगवान् का तो यूँ ही कर्म का त्याग नहीं किंतु कर्म में फलासक्ति का त्याग है, अथवा राग-द्वेष से रहित निर्द्वंद्व अवस्था संन्यास है, अथवा आत्मचिंतनार्थ बाह्य कर्म का त्याग, या ज्ञानयोग में अभिरत होकर कर्म का त्याग है, जो योग से भिन्न नहीं और न वास्तव में भिन्न फल ही दिलाता है। परंतु अर्जुन

चिंतन द्वारा चित्त निरोध करने की अपेक्षा कर्मयोग (चित्त से कामना वा कर्म-संग त्यागकर कर्मेंद्रियों से कर्मों में युक्त होकर चित्त का निरोध करना, अथवा आत्मा को अकर्त्ता, अभोक्ता

संन्यास का अर्थ संपूर्णतः कर्म-त्याग या सांख्य-योग का कर्म-संन्यास लेकर प्रश्न करता है, जिसकी दृष्टि को लेकर भगवान् अब उत्तर देते हैं।

श्रीयुत तिलक महाराज इस श्लोक का आशय ऐसा प्रकट करते हैं—"कर्मों का करना और छोड़ देना, ये दोनों मार्ग एक ही से मोक्षदाता हैं....इन दोनों मार्गों में कर्म छोड़ने के मार्ग की अपेक्षा कर्म करने का पक्ष ही अधिक प्रशस्त (श्रेय) है; तब पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि भगवान् को यही मत ग्राह्य है कि साधनावस्था में ज्ञानप्राप्ति के लिए किये जानेवाले निष्काम कर्मों को ही ज्ञानी पुरुष आगे सिद्धावस्था में भी लोकसंग्रह के अर्थ मरण पर्यंत कर्त्तव्य समझकर करता रहे। यही अर्थ गीता ३, ७ में वर्णित है, यही 'विशिष्यते' पद वहाँ भी है; और उसके अगले श्लोक में अर्थात् गीता ३, ८ में ये स्पष्ट शब्द फिर भी हैं कि 'अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है।' इसमें संदेह नहीं कि उपनिषदों में कई स्थलों पर (बृ. ४. ४. २२) वर्णन है कि ज्ञानी पुरुष लोकैषणा और पुत्रैषणा प्रभृति न रखकर भिक्षा माँगते हुए घूमा करते हैं। परंतु उपनिषदों में भी यह नहीं कहा है कि ज्ञान के पश्चात् यह एक ही मार्ग है—दूसरा नहीं है। अतः केवल उल्लिखित उपनिषद्-वाक्य से ही गीता की एकवाक्यता करना उचित नहीं है। गीता का यह कथन नहीं है कि-उपनिषदों में वर्णित यह संन्यास-मार्ग मोक्षप्रद नहीं है; किंतु यद्यपि कर्मयोग और संन्यास, दोनों मार्ग एक से ही मोक्षप्रद हैं, तथापि (अर्थात् मोक्ष की दृष्टि से दोनों का फल एक ही होने पर भी) जगत् के व्यवहार का विचार करने पर गीता का यह निश्चित मत है कि ज्ञान के पश्चात् भी निष्काम बुद्धि से कर्म करते रहने का मार्ग ही अधिक प्रशस्त या श्रेष्ठ है।"

और साक्षीरूप निश्चय करके कर्म में युक्त होकर मन का निष्क्रिय करना) विशेष अर्थात् अधिक लाभकारी है ॥ २ ॥ *

---

* कर्म-योग और कर्म-संन्यास दोनों का उद्देश्य और लक्ष्य (चित्त का निरोध और मोक्ष) एक ही है, इसलिए दोनों ही कल्याणकारी हैं। परंतु कर्म-योग इसलिए विशेष है कि—

(१) कर्म-योग से आत्म-चिंतन भी होता है और धर्मकार्य भी, जिससे अपना और दूसरों का अर्थात् दोहरा कल्याण होता है, परंतु वाह्य कर्म-त्याग से (तत्वचिंतन द्वारा) केवल अपना ही कल्याण होता दिखाई देता है, दूसरों का नहीं।

(२) कर्म-योग द्वारा ही कर्म-त्याग का पद प्रायः प्राप्त होता है, अर्थात् कर्म-योग का परिणाम ही संन्यास (अनायास कर्मातीत होना) है। इस हेतु से भी कर्म-योग मुख्य है, और अपरोऽक्ष ज्ञान की प्राप्ति का प्रथम और सुगम साधन होने से मोक्ष के दिलानेवाला या कल्याणकारी विशेष है।

(३) कर्म-योग से दोहरा चिंतन परमात्मा का होता है। प्रथम तो कर्म ईश्वरनिमित्त करने से परमात्मचिंतन स्वतः होता है, और फिर कर्म के समय अपने आपको स्वरूप से अकर्त्ता, अभोक्ता निश्चयपूर्वक मनन करने से परमात्मचिंतन होता है। और कर्म-त्याग में केवल (एकांत में चुपचाप बैठकर) ध्यान द्वारा ही आत्मचिंतन होता है।

(४) कर्म-त्याग में तो फिसलने का भी भय है, और कर्म-योग में फिसलने का भय भी नहीं, बल्कि इसका थोड़ा अंश किया हुआ भी बड़े भारी भय से बचा देता है।

(५) पूर्व अध्याय ३ के श्लोक ४ में यह दर्शाया जा चुका है कि विना कर्म के निष्कर्म भाव ठीक भोगा ही नहीं जा सकता, और न त्यागमात्र से किसी प्रकार की सिद्धि ही ठीक प्राप्त होती है। और यह देखने में भी आ रहा है कि वाह्य (इंद्रियों के) कर्म के विना न मन को संतोष होता है और न अपने को वश में करने की शक्ति प्राप्त होती

संबंध—अर्जुन के उक्त संन्यास शब्द के अभिप्राय की दृष्टि से उत्तर देने के बाद अब भगवान् का जो अपना अभिप्राय संन्यास शब्द से था और है, उसे अधिक स्पष्ट करके कहते हैं—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥ ३ ॥

ज्ञेयः[४], सः[१], नित्य[२]-संन्यासी[३]	वह[१] नित्य[२] संन्यासी[३] समझा[४] जाना चाहिए	निर्[३]-द्वन्द्वः[२], हि[१], महाबाहो[४], सुखं[५], बन्धात्[६], प्रमुच्यते[७]	क्योंकि[१] द्वन्द्व[२] से रहित[३] पुरुष, हे अर्जुन[४] ! सुख[५]- पूर्वक बंधन[६] से छूट[७] जाता है
यः[१], न[२], द्वेष्टि[३], न[४], काङ्क्षति[५]	जो[१] न[२] द्वेष[३] करता है, न[४] इच्छा[५] करता है		

अन्वयार्थ—वह नित्य संन्यासी समझा जाना चाहिए कि जो न द्वेष करता है और न इच्छा करता है। क्योंकि द्वंद्व से रहित पुरुष, हे अर्जुन ! सुखपूर्वक बंधन से छूट जाता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि संन्यास और योग दोनों कल्याण-कारी हैं, तथापि वह पुरुष जो जान-बूझकर कर्म करना छोड़ बैठता है, या जो ऐसा समझकर "कि किंचित्-मात्र भी कर्त्तव्य के न रहने का नाम संन्यास है, और मैं संन्यासी हूँ, इसलिए

है, इंद्रियाँ बेकार और इसी प्रकार से बेलगाम रहती हैं, और समय-समय पर अवसर पाकर मन को ऐसा धक्का देती हैं कि ज्ञान भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, अर्थात् सुधबुध दूर हो जाती है, जिससे मन फिर झट काम क्रोधादि के वश में आ जाता है। इस प्रकार इस (कर्म-योग) के बिना ज्ञान की नींव भी ठीक नहीं पड़ती ; जब नींव ही ठीक नहीं, तो स्थिरता कैसे हो सकती है। अतएव कर्म-संन्यास से कर्म-योग विशेष लाभदायक अर्थात् अच्छा है।

अब मुझे कुछ भी करना उचित नहीं," कर्म करना छोड़ बैठता है, और साधारण पुरुषों में संन्यासी माना जाता है, ऐसे जान-बूझकर कर्म छोड़नेवाले, अथवा कर्म के दुःख से डरकर कर्म न करनेवाले, अथवा आलस्य व अज्ञान के कारण कर्महीन होनेवाले संन्यासी से मेरा अभिप्राय नहीं है। मेरे मतानुसार तो वह पुरुष संन्यासी है कि जो चाहे ऊपर से (कर्मेंद्रियों से) कर्म कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, किंतु भीतर चित्त में न कोई राग-द्वेष रखता हो और न कर्म-फल की आकांक्षा, अर्थात् चित्त से न प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष और न अनुकूल पदार्थों में प्रीति रखता हो, बल्कि सब कर्मों में तथा सब पदार्थों वा अवस्थाओं में समबुद्धि और शांत चित्त रहता हो। इसलिए जो भी मनुष्य सुख-दुःख, कर्म-अकर्म, शीतोष्णादि द्वंद्वों से रहित हुआ निर्द्वंद्व हो, उसे नित्य संन्यासी समझना चाहिए। अर्थात् ऐसा निर्द्वंद्व पुरुष जब इंद्रियों से कोई कर्म कर रहा हो, तो कर्म करता दिखाई देने से यद्यपि कर्म-योगी कहलाता है, पर वास्तव में वह कुछ नहीं करता होता ; इसलिए कर्म के समय भी उसे कर्म-त्यागी ही समझना चाहिए। अर्थात् एकांत-सेवन के समय अपनी बाह्य अकर्म-अवस्था में तो वह कर्म-संन्यासी दिखाई देता ही है, परंतु कर्म के समय भी भीतर से निष्कर्मी होने के कारण उसे (कर्म, अकर्म सब अवस्थाओं में) नित्य संन्यासी ही जानना चाहिए। और ऐसा समदर्शी व स्थिरधी पुरुष जान-बूझकर, अथवा दुःख, भय, अज्ञान और आलस्य के कारण, कर्मों को तथा कर्मों के फलरूपी बंधनों को नहीं छोड़ता बल्कि उक्त कर्म-योग में युक्त होने से, अथवा तत्त्वचिंतन द्वारा एकांत में आत्म-ध्यान में लीन होने से वह अनायास ही कर्मों वा कर्म-बंधनों से छूट जाता है, जिससे सुखपूर्वक मोक्ष को प्राप्त होता है। इस कारण से भी ऐसे

निर्द्वंद्व सांख्य-योगी वा कर्म-योगी को नित्य संन्यासी ही जानना चाहिए ॥ ३ ॥

संबंध—(१) उक्त संन्यास अवस्था क्योंकि सांख्य-योग और कर्म-योग इन दोनों से प्राप्त होती है, इसलिए इन दोनों की फलरूप से एकता भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) उक्त सांख्य (तत्त्वचिंतन वा ज्ञान-योग) और योग (कर्म-योग) जो परस्पर आधार-आधेयरूप से अंग-अंगी भाव रखते हुए मोक्ष के साधन हैं, इन दोनों की एकता इनके अंतिम फल और उद्देश्य से भगवान् अब दर्शाते हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

सांख्य^{१}-योगौ^{२}, पृथक्^{४}, बालाः^{३}, प्रवदन्ति^{५}, न^{६}, पण्डिताः^{७}	सांख्य^{१} और योग^{२} को बालक^{३} अलग^{४} कहते हैं^{५}, न^{६} कि पंडित^{७}	एकं^{१}, अपि^{२}, आस्थितः^{४}, सम्यक्^{३}	एक^{१} को भी^{२} ठीक^{३}-ठीक पकड़े^{४} हुए, अर्थात् एक में भी पूरा-पूरा स्थित पुरुष
		उभयोः^{१}, विन्दते^{३}, फलम्^{२}	दोनों^{१} के फल^{२} को पा^{३} लेता है

अन्वयार्थ—सांख्य और योग को बालक अलग कहते हैं, न कि पंडित । एक में भी पूरा-पूरा स्थित पुरुष दोनों के फल को पा लेता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—"सांख्यायन्ते ज्ञातव्यविषया येन तत् सांख्यं"=जिससे जानने योग्य विषयों का वर्णन किया जाय, उसका नाम सांख्य है। अथवा संख्या नाम सम्यक् बुद्धि (यथार्थ आत्माकार बुद्धि) का है, जो उसको प्राप्त करावे वह सांख्य है। इस प्रकार सांख्य नाम

आत्मविवेक (तत्त्व-ज्ञान, speculative abstract thought, *viz.*, theory) का है। और उस विवेकानुसार कर्म में युक्त होना (the practical process of the application of such abstract thought to actual life, *viz.*, practice) योग है; परंतु यहाँ के प्रकरणानुसार सब बाह्य (व्यावहारिक अर्थात् काम्य वा लोकसंग्रह-निमित्त) कर्मों को त्यागकर और एकांत स्थान में चुपचाप क्रियारहित स्थित होकर आत्मचिंतन वा तत्त्व-विवेक में लगना सांख्य है। और समत्वबुद्धि से कर्म करना, अर्थात् बाह्य (व्यावहारिक वा पारमार्थिक) कर्म द्वारा आत्मध्यान में युक्त होना योग है। लक्ष्य वा उद्देश्य इन दोनों का एक (राग-द्वेष से रहित निर्द्वंद्वरूप संन्यास की प्राप्ति, अथवा आत्मध्यान में लीन होना वा आत्मसाक्षात्कार) ही है। इस प्रकार उक्त आशय को दृष्टि में रखते हुए भगवान् अब कहते हैं कि हे अर्जुन! सांख्य * और योग को अलग-अलग अर्थात्

---

* अध्याय के आरंभ में तो कर्म-संन्यास और कर्म-योग का प्रश्न था, और उसी का अब तक वर्णन था। अब यहाँ चौथे श्लोक में सांख्य और योग का वर्णन कैसे आ गया। कारण यह कि आरंभ में जो कर्म-संन्यास का वर्णन हुआ, वह तो अर्जुन की दृष्टि को लेकर हुआ था, भगवान् की अपनी दृष्टि से नहीं; क्योंकि संन्यास शब्द का अर्थ तत्त्व-चिंतन-निमित्त बाह्य कर्म का त्याग अर्थात् सांख्य-योग तो अर्जुन लेता था, भगवान् नहीं। भगवान् के अपने विचार में तो कर्म का नितांत त्याग जीते दम तक कदापि हो ही नहीं सकता, इसलिए वे संन्यास शब्द से अभिप्राय चित्त की वह निर्द्वंद्व अवस्था लेते हैं कि जिसको प्राप्त होकर पुरुष न फिर किसी से राग करता है न द्वेष, बल्कि सर्वत्र समबुद्धि वा समदृष्टि रहता है। इस प्रकार की निर्द्वंद्वरूप संन्यासावस्था तो सांख्य और योग दोनों उपायों से प्राप्त होती है; अर्थात् या तो बाह्य कर्म छोड़कर

भिन्न-भिन्न फल वा लक्ष्यवाला मूर्ख बालक कहते हैं, पंडित वा विचारवान् पुरुष नहीं। विचारवानों के मत में तो यह

संसार से तीव्र उपराम हुए चित्त से एकांत स्थान में बैठकर निरंतर परमात्मध्यान वा तत्त्वचिंतन (श्रवण, मनन और निदिध्यासन) द्वारा यह निर्द्वंद्वरूप संन्यास प्राप्त होता है, और या समत्वबुद्धि तथा निरासक्त चित्त से निष्काम कर्म करते-करते यह (संन्यास) प्राप्त होता है। इसलिए भगवान् यहाँ ऐसा कहते हैं कि सांख्य और योग दोनों वास्तव में एक हैं, क्योंकि इन दोनों में से एक में भी पूर्ण स्थित होने से एक ही फल (निर्द्वंद्वरूप संन्यास) मिलता है। परंतु एकांत-अभ्यास अर्थात् सांख्य-योग का मार्ग बड़ा कठिन और फिसलाहटवाला (तिलकना) है, जिसलिए इस मार्ग से संन्यास पाना सर्वसाधारण के लिए अति कठिन ही नहीं किंतु असंभव सा है, और निष्काम कर्म अर्थात् कर्म-योग का मार्ग केवल सुगम ही नहीं किंतु फिसलने के भारी भय से भी बचानेवाला है, जिसलिए सर्वसाधारण लोग इस मार्ग से उस निर्द्वंद्वरूप संन्यास को शीघ्र और सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए भगवान् आगे ऐसा कहते हैं कि कर्म-योग के विना संन्यास का पाना अति कठिन है और कर्म-योगी पुरुष इस संन्यास को सुगमता से पाकर इस द्वारा शीघ्र ब्रह्म को प्राप्त हो जाता, अर्थात् अनुभव कर लेता है।

अन्य टीकाकार जो संन्यास शब्द का अभिप्राय सांख्य लेकर इन श्लोकों पर अपना-अपना विचार प्रकट करते हैं। उनके विचारों का समुच्चय निम्नलिखित है—

"अध्याय के आरंभ में तो कर्म-संन्यास और कर्म-योग का प्रश्न था और उसी का अब तक वर्णन था। अब यहाँ चौथे श्लोक में भगवान् ने सांख्य और योग का वर्णन कर दिया। यह क्या बात है। अभिप्राय इससे यह है कि कर्म-संन्यास अर्थात् कर्म का छोड़ना ज्ञान की आकांक्षा विना भी हो सकता है, और ज्ञान की आकांक्षा से भी हो सकता है।

सिद्ध हो चुका है कि सांख्य और योग दोनों से एक ही प्रकार का फल (नैष्कर्म्य वा निर्द्वंद्वरूप संन्यास वा मोक्ष) मिलता है,

---

जो कर्म-संन्यास ज्ञान की आकांक्षा से होता है वह सांख्य है, और दूसरे को केवल कर्म-संन्यास कहते हैं । अर्थात् संसार से उपराम होकर केवल आत्मचिंतन के लिए जो बाहर के कर्मों का छोड़ना है अथवा आत्मध्यान में वृत्ति के आरूढ़ होने पर जो इंद्रियों के कर्मों का स्वतः बंद पड़ जाना रूप कर्म-त्याग है, वह सांख्य है । और जो बिना आत्मचिंतन के उद्देश्य के केवल अज्ञान और आलस्य के वश होकर कर्मों का छोड़ना है, वह केवल कर्म-संन्यास है, सांख्य नहीं । जैसे संन्यास दो प्रकार के हो सकते हैं, ऐसे ही योग भी दो प्रकार के होते हैं, एक परमार्थ-योग जिसे सांख्य-योग वा ध्यान-योग भी कहते हैं, और दूसरा कर्म-योग । यूँ तो योग का अर्थ "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"=चित्त-वृत्ति का निरोध है । पर जब बाहर के कर्मों को छोड़कर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यानादि से चित्त का निरोध किया जाता है, तो वह परमार्थ-योग वा ध्यान-योग कहलाता है, और वही सांख्य भी है । और जब समत्व-बुद्धि से निरासक्त मन द्वारा कर्म करने से चित्त का निरोध किया जाता है, तो वह कर्म-योग कहलाता है, और यही (कर्म-योग) सांख्य वा परमार्थ-योग की अपेक्षा सुगम और अधिक लाभदायक वर्णन हुआ है । चूँकि कर्म-योग और परमार्थ-योग अर्थात् योग और सांख्य, दोनों का लक्ष्य और फल एक ही है, इसलिए भगवान् ने कहा है कि जो एक में भी पूरा स्थित होता है, वह दोनों के फल को पा लेता है; और इसीलिए भगवान् आगे श्लोक ५ में कहते हैं कि जो स्थान सांख्य से प्राप्त होता है, वही योग से भी मिलता है । हाँ, इतना भेद अवश्य है कि बाहर के सब कर्मों को त्यागकर केवल तत्त्वचिंतन से आत्मध्यान में युक्त होना और इस रीति से चित्त की निरोधावस्था वा कर्मातीत अवस्था को प्राप्त होना सर्वसाधारण के लिए अति कठिन ही नहीं किंतु असंभव सा है, और निरासक्त मन से कर्म करते-करते निज स्वरूप

और इन दोनों में से एक में भी पूरा स्थित होनेवाला, अर्थात् एक को भी पूरा-पूरा पकड़नेवाला पुरुष दोनों * के फल को पा लेता है ॥ ४ ॥

के निश्चय में चित्त का लगाना और इस रीति से निरोध अवस्था को प्राप्त होना सरल और सर्वसाधारण के लिए सुगमतम है। इसलिए भगवान् आगे छठे श्लोक में कहते हैं कि योग-युक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्म अर्थात् नैष्कर्म्य रूप संन्यास अथवा कर्मातीत रूप परमार्थ अवस्था को पा लेता है।''

* आत्मा के परोऽक्षज्ञान को पाकर पुरुष जब उसके पुनः-पुनः श्रवण द्वारा तीव्र वैराग्य से युक्त हुआ बाह्य कर्मों को छोड़कर और एकांत-स्थान में स्थित होकर आत्मध्यान में तत्त्वचिंतन द्वारा तीव्र वेग से युक्त होता है और इस रीति से आत्मसाक्षात्कार करता है, तब वह (सांख्य-योगी) जन्म भर के लिए क्रियारहित वा कर्महीन नहीं हो जाया करता, बल्कि तब उसकी अपने स्वरूप के निश्चय में निश्चल स्थिति हो जाती है, और बाह्य विषय इत्यादि उसे आकर्षण करने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसे निराकर्षित और निश्चल चित्त से वह (तत्त्ववेत्ता सांख्य-योगी) फिर लोकोपकारार्थ वा धर्मसंस्थापनार्थ कर्म अनंत वेग से करने लग जाता है, जैसे कि श्री स्वामी शंकराचार्य, वेदव्यास, भगवान् कृष्णचंद्र, राजा जनक, गुरु नानक और स्वामी रामतीर्थ इत्यादि अनेक महात्माओं ने किये। इस रीति से वह सांख्य-योगी पुरुष कर्म-योगी की दशा और फल को स्वतः प्राप्त हो जाता है। और ऐसे ही कर्म-योगी जब समत्वबुद्धि से कर्म करते-करते चित्त की निश्चलावस्था को प्राप्त होकर अपने अकर्त्ता-अभोक्तास्वरूप के निश्चय में आरूढ़ होता आत्मसाचात्कार को प्राप्त हो जाता है, तब उसे इस साक्षात् की लटक इतनी बढ़ जाती है कि वह संसार से उपराम होता कर्म की ओर से वृत्ति हटाकर एकांत-सेवन की ओर झुकता है जिस (एकांत-अभ्यास) में तीव्र वेग से प्रवृत्त हो जाने से उसके बाह्य कर्म स्वतः बंद पड़ जाते हैं। इस रीति से कर्म-योगी उक्त सांख्य-योगी की दशा और

संबंध—अपने उक्त कथन को भगवान् अब और स्पष्ट करते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

यत्, सांख्यैः, प्राप्यते, स्थानं	जो स्थान सांख्यवालों से प्राप्त किया जाता है	एकं, सांख्यं, च, योगं, च, यः, पश्यति, सः, पश्यति	सांख्य और योग को जो एक देखता है, वह (ठीक) देखता है
तत्, योगैः, अपि, गम्यते	वहं योगवालों से भी प्राप्त किया जाता है		

अन्वयार्थ—जिस स्थान को सांख्यवाले प्राप्त होते हैं, उसको योगी भी प्राप्त होते हैं । (इस प्रकार) सांख्य और योग को जो एक देखता है, वह (ही ठीक) देखता है ॥ ५ ॥ *

फल को स्वतः प्राप्त हो जाता है । अर्थात् एकांत-अभ्यास से आत्म-साक्षात्कार करनेवाला सांख्य-योगी अनुभव के पीछे कर्म-योगी की तरह कर्म में तीव्र वेग से लग जाता है ; और निष्काम कर्म द्वारा चित्तशुद्धि से आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त होनेवाला कर्म-योगी आत्मानुभव के बाद सांख्य-योगी की तरह बाह्य कर्म को छोड़कर एकांत में रहने लग जाता है । इस प्रकार एक रीति में भी पूर्ण स्थित हुआ पुरुष दोनों के फल को पा लेता है ।

* इस विषय पर अद्भुत (११. ४३, ४४) में निम्नलिखित श्लोक हैं—

योगात्संजायते ज्ञान ज्ञानाद्योगः प्रजायते ।
योगज्ञानाभियुक्तस्य नावाप्यं विद्यते क्वचित् ॥ ४३ ॥
यदेव योगिनो यान्ति सांख्यैस्तदभिगम्यते ।
एक सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥ ४४ ॥

अर्थ—योग से ज्ञान होता है और ज्ञान से योग होता है; योग और ज्ञान से युक्त पुरुष को कुछ भी दुष्प्राप्य नहीं होता । जो योगी

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिस स्थान (निरोधावस्था, निष्कर्मता, निरुपद्रव पद, या निर्द्वंद्व तथा कर्मातीत अवस्था) या जिस अंतिम परिणाम को सांख्यवाले, अर्थात् कर्मेंद्रियों के सब कर्मों को छोड़कर एकांत में निष्क्रिय स्थित हुए श्रवण-मनन द्वारा तत्त्वचिंतन करनेवाले पुरुष प्राप्त होते हैं, उसी स्थान को योगी पुरुष; अर्थात् ज्ञानेंद्रियों को अपने मन के वश में करके समत्व-बुद्धि द्वारा निरासक्त चित्त से कर्म करनेवाले, अथवा ईश्वर-निमित्त सब कर्म करनेवाले पुरुष भी पा लेते हैं। अर्थात् सांख्य-मार्ग से जो स्थान (निरोधावस्था वा मोक्ष) मिलता है, वही कर्म-योग से अर्थात् कर्मों के न छोड़ने पर भी मिलता है। इसलिए ये दोनों मार्ग एक ही स्थान वा परिणाम को प्राप्त * करानेवाले हैं, इस प्रकार जो पुरुष इस सांख्य और योग को फलरूप से एकता समझकर इन दोनों को एक देखता है, वही वास्तव में सम्यग्दर्शी है। ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ५ ॥ †

पाता है, वही ज्ञानी को मिलता है। योग और ज्ञान को जो (वास्तव में) एक देखता है, वही तत्त्ववेत्ता है।

* अन्य रीति से यों है कि सांख्य-मार्ग में ज्ञान को प्रधान मान लेने पर भी उस ज्ञान की सिद्धि कर्म किये विना नहीं होती ; और कर्म-मार्ग में यद्यपि कर्म किया करते हैं, तथापि वे कर्म ज्ञानपूर्वक करने से ही निष्कर्मतारूपी सिद्धि को प्राप्त कराते हैं, इस कारण एक दूसरे की परस्पर सहायता करते दोनों से ब्रह्म-प्राप्ति में कोई बाधा नहीं होती, अतएव ये दोनों एक हैं।

† श्रीज्ञानदेव ने इस श्लोक की व्याख्या विचित्र रूप से ऐसे की है कि—“जो वस्तु ज्ञान-मार्ग से भी प्राप्त होती है वही कर्म-योग से भी मिल सकती है। अतएव दोनों मार्गों की इस प्रकार स्वाभाविक एकता है। देखो आकाश और अवकाश में जैसा भेद नहीं है, वैसे ही जो योग और

संबंध—(१) इस प्रकार सांख्य और कर्म-योगरूप मार्गों की फलरूप से एकता दर्शाकर इनमें से जिस मार्ग द्वारा उस फल (असली निष्कर्मता वा संन्यास) की प्राप्ति अति कठिनता से और जिस द्वारा सुगमता से होती है, उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) उक्त सांख्य अर्थात् संन्यास, और कर्म-योग, इनमें जो सुगम और जो कठिन है, उसे भगवान् अब अधिक स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) इस प्रकार दोनों के फलों में एकता दर्शाकर अब भगवान् योग में विशेषता दर्शाने लगे हैं—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥ ६ ॥

संन्यासः[3], तु[1], महाबाहो[2]	पर[1] हे अर्जुन[2] ! संन्यास[3]	योग[1]-युक्तः[2], मुनिः[3], ब्रह्म[6], न[5], चिरेण[4], अधिगच्छति	योग[1]-युक्त[2] मुनि[3], चिर[4] से नहीं[5] (अर्थात् शीघ्र) ब्रह्म[6] को प्राप्त होता है
दुःखं[4], आप्तुं[3], अयोगतः[1][2]	विना[1] योग[2] (में युक्त हुए) के पाना[3] कठिन[4] है		

अन्वयार्थ—पर संन्यास, हे अर्जुन ! विना योग के पाना कठिन है। और योग-युक्त मुनि शीघ्र ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! यद्यपि जो स्थान (उक्त निर्द्वंद्वरूप संन्यास) सांख्य-मार्ग से प्राप्त होता है, वही योग से मिलता है, जिससे ये दोनों वास्तव में एक हैं; परंतु वह स्थान अर्थात् निर्द्वंद्व-रूप संन्यास, हे विशालबाहु (अर्जुन) ! विना कर्म-योग में युक्त

संन्यास का ऐक्य पहचानता है, जिसे सांख्य और योग का भेदरहित ज्ञान हुआ है, उसी को संसार में ज्ञान का प्रकाश हुआ है, उसी ने निज को पहचाना है।"

होने के पाना अति कठिन या असंभव सा है। अर्थात् हठ से कर्मों को छोड़कर किसी एकांत स्थान में निष्क्रिय स्थित होकर केवल तत्त्व-चिंतन अर्थात् सांख्य-योग (Speculative abstract thought) से निर्द्वंद्वरूप संन्यासावस्था का पाना अत्यंत कठिन और चिरकाल में होता है; पर समत्वबुद्धि तथा निरासक्त चित्त से निष्काम कर्म अर्थात् कर्म-योग (The practical process of the application of such thought to actual life.) द्वारा उसका पाना अति सुगम, सरल और शीघ्र होता है। इसलिए कर्म-योग में युक्त हुआ मुनि सुगमता से ब्रह्म * अर्थात् निर्द्वंद्व-रूप संन्यास को प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन! यद्यपि जो स्थान (मोक्षपद) सांख्य-योग (संन्यास-मार्ग) से मिलता है, वही (स्थान) कर्म-योग से अंतःकरण की शुद्धि पाकर अभ्यंतर संन्यास द्वारा प्राप्त हो जाता है; परंतु हे विशालबाहु अर्जुन! यह अभ्यंतर संन्यास, जो कर्म-योग का परिणाम है, कर्मों को त्यागकर केवल हठमात्र से सुगमतापूर्वक पाया नहीं जा सकता, अर्थात् बिना कर्म-योग में युक्त होने के इसका पाना अति कठिन और असंभव सा है। इसलिए हठपूर्वक संन्यासमात्र से पुरुष को कभी सुगमता से सुख नहीं मिलता है। पर हाँ, जो मुनि कर्म-योग में पूर्ण युक्त हो गया है, वह इस अभ्यंतर संन्यास को प्राप्त होकर इस द्वारा शीघ्र ब्रह्म (मोक्ष) को पा लेता अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेता है ॥ ६ ॥

---

* श्री शंकराचार्य ने ब्रह्म के अर्थ यहाँ संन्यास के लिए हैं। जैसे श्रुति कहती है—"न्यास इति ब्रह्म ब्रह्महि परः" (नारायण. उप० २, ७८)= न्यास अर्थात् संन्यास ब्रह्म है और ब्रह्म ही परम है।

तीसरी व्याख्या--हे अर्जुन! यद्यपि संन्यास और योग दोनों ही कल्याणकारी या अंत में एक ही फल देनेवाले हैं, जिससे दोनों वास्तव में एक हैं; तथापि हे विशालबाहु अर्जुन! विना योग के नैष्कर्म्यरूप वा कर्मातीतरूप संन्यास का पाना अति कठिन है। अर्थात् हठ से कर्मों को छोड़कर वास्तव में कर्म-त्याग वा कर्मातीत अवस्था प्राप्त नहीं होती, किंतु समत्वबुद्धि से और निरासक्त मन द्वारा निष्काम कर्म करते-करते ठीक प्राप्त होती है। और यह प्रसिद्ध नियम है कि--"When body is at work, the mind is at rest; and when the body is at rest, (*viz.*, without any work), the mind roams about and turns restless."=जब शरीर निष्कामकर्म में युक्त हो; तब मन सावधान, निष्कर्मी, शांत और एकाग्र हो जाता है (जो वास्तव में नैष्कर्म्य वा संन्यास अवस्था है); और जब शरीर आलस्य, दुःख, भय या अज्ञान के कारण अथवा हठ से कर्म करना छोड़ बैठता है, तब इस कर्महीन अवस्था में मन चारों ओर दौड़ने वा भटकने लग जाता है जिससे वह चंचल, दुःखी, डाँवाडोल वा क्षुभित हो जाता है, जो वास्तव में कर्मावस्था है, चाहे ऊपर से उसकी निष्कर्मावस्था दीखती है। तात्पर्य यह है कि प्रारंभ में शारीरिक कर्म का आश्रय न लेकर केवल (एकांत में हठपूर्वक निष्क्रिय बैठकर) आत्मचिंतन से मन निष्कर्मी, एकाग्र और सावधान शीघ्र और सुगमता से नहीं होता। और यदि बड़ी कठिनता तथा भारी परिश्रम से कदापि हो भी जाय, तो किंचित् काल के लिए होता है, जिससे वास्तव में निरंतर कर्म-त्याग वा कर्मातीत रूप संन्यास अवस्था प्राप्त होने नहीं पाती। यही सिद्धांत पहले (अध्याय ३, श्लोक ४ में) ऐसे स्पष्ट किया जा चुका है कि "न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥"=कर्मों के आरंभ न करने से पुरुष निष्कर्म भाव (चित्त की कर्मरहित वा कर्मातीत अवस्था) को नहीं भोगता, और न त्यागमात्र से अर्थात् हठपूर्वक सब कर्म छोड़ देने से कोई सिद्धि ही पाता है। और इसी को पूर्व श्लोक २ में ऐसा कहा है कि—"संन्यास और योग यद्यपि दोनों ही कल्याणकारी हैं, तथापि कर्म-संन्यास से अर्थात् हठपूर्वक कर्म छोड़ने से कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्म में युक्त होना अधिक सुगम, लाभकारी वा अच्छा है।" और इसी नियम को अब सिद्धांत रूप से मैं पुनः ऐसे स्पष्ट करता हूँ कि—"विना कर्म-योग में युक्त होने के अर्थात् केवल कर्म-त्याग से, या प्रारंभ में ही सांख्य से इस कर्मातीत रूप संन्यास वा नैष्कर्म्य रूप संन्यास अवस्था का पाना अति कठिन है।" और कर्म-योग में युक्त हुआ मुनि तो ब्रह्म (मोक्ष) अथवा इस संन्यास अवस्था को शीघ्र ही पा लेता है। अथवा दूसरे शब्दों में ऐसे कि "कर्म-निष्ठ पुरुष तो ज्ञान-निष्ठा को शीघ्र प्राप्त हो सकता है, अन्य पुरुष शीघ्र और सुगमता से नहीं" ॥ ६ ॥*

---

* उक्त सिद्धांत से यह स्पष्ट हुआ कि आरंभ में सबको कर्म-योग में युक्त होना चाहिए, क्योंकि इसी मार्ग से शीघ्र निष्कर्मता प्राप्त होती है। और जब प्रथम कर्म-योग से निष्कर्म भाव प्राप्त होने लग जाय, तब फिर वह यदि बाह्य कर्म छोड़कर एकांत में तत्त्वचिंतन से ही उस (नैष्कर्म्य रूप संन्यास) को पाने का यत्न करे, तो सुगमता से पा सकता है; अन्य रीति से अर्थात् प्रथम में ही बाह्य कर्म-त्याग से पाना सुगम और शीघ्र नहीं। दूसरे शब्दों में ऐसे कि कर्म-निष्ठ पुरुष तो ज्ञान-निष्ठा से उस संन्यास को शीघ्र और सुखपूर्वक पा सकता है, अन्य पुरुष नहीं।

संबंध—(१) "कर्मणा बध्यते जन्तुः" इत्यादि वचनों से कर्म तो बंधन का हेतु होते हैं, फिर कर्म-योगी कैसे इन बंधनों से छूट जाता है? अथवा कर्म-योगी कैसे कर्म-बंधन से निर्लिप्त अवस्था अथवा निर्द्वंद्व वा नैष्कर्म्य रूप संन्यास को प्राप्त होता है? इसे भगवान् अब स्फुट करते हैं—

अथवा (२) यदि यह कहा जाय कि "कर्म करना ही बंधक है" तो यह आक्षेप भी निष्काम कर्म के विषय में नहीं किया जा सकता, ऐसा भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

अथवा (३) कर्म-योग किस प्रकार कर्म-त्यागरूप हो जाता है, इसे भगवान् अब स्फुट करते हैं—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा * विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

योग[1]-युक्तः[2], विशुद्ध[3]-आत्मा[4]	योग[1] से युक्त[2], शुद्ध[3] आत्मा[4]	सर्व[2]-भूत[3]- आत्म[4]-भूत[5]- आत्मा[1]	आत्मा[1] करके सब[2] भूतों[3] का आत्मा[4] रूप[5] हुआ
विजित[2]-आत्मा[1] जित[4]-इन्द्रियः[3]	अपने[1] आपको जीता[2] हुआ, इन्द्रियों[3] को जीता[4] हुआ	कुर्वन्[1], अपि[2], न[3], लिप्यते[4]	(कर्म) करता[1] हुआ भी[2] नहीं[3] लिप्त[4] होता है

---

* "विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रियः" इन तीन पदों से भगवान् ने मनोदंड, कायदंड, वाग्दंडवाले (इन तीन दंडों से युक्त त्रिदंडी) का वर्णन किया है। इस विषय में मनु भगवान् ऐसे कहते हैं—"वाग्दण्डोथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च। यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डीति कथ्यते॥"

अन्वयार्थ—(कर्म-) योग से युक्त, शुद्धात्मा, अपने आपको जीता हुआ, जितेंद्रिय और अपने आत्मा करके सब भूतों का आत्मा हुआ पुरुष कर्म करते हुए भी लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! यद्यपि साधारण पुरुषों के कर्म सकाम होने के कारण उनके बंधन का हेतु हो जाते हैं, परंतु जो पुरुष कर्मयोग से युक्त है, अर्थात् समत्वबुद्धि और निरासक्त मन करके निष्काम कर्म में जो प्रवृत्त होता है, उसका चित्त वा अंतःकरण इस रीति से कर्म करते-करते अवश्य शुद्ध हो जाता है, इससे वह अपने आपको तथा सारी इंद्रियों को जीत जाता है; अर्थात् शुद्ध अंतःकरण, निष्काम कर्म और समत्वबुद्धि के प्रभाव से उसकी इंद्रियाँ और मन इत्यादि अपने वश में हो जाती हैं; और उसका आत्मा फिर सब प्राणियों का आत्मरूप * हो जाता है।

अर्थ—वाग्दंड, मनोदंड, कायदंड, यह तीन दंड जिस पुरुष के नियमपूर्वक हैं, सो त्रिदंडी नाम से कहलाता है।

* "जिसका आत्मा सारे भूतों का आत्मा हुआ हुआ है, जो सब प्राणियों में अपने ही स्वरूप को व्याप्त देख रहा है, अर्थात् जिसका अंतरात्मा ब्रह्मा से लेकर स्तंबपर्यंत संपूर्ण भूतों का आत्मरूप हो गया है, ऐसा सम्यग्दर्शी वा अभेददर्शी (श्रीशंकराचार्य)। सारे भूतों का आत्मभूत है आत्मा जिसका, अर्थात् जो आत्मा की यथार्थता का चिंतन कर रहा है, उसको सारे भूतों का और अपना आत्मा एक तुल्य प्रतीत होता है; जो देव मनुष्यादि भेद हैं, वे प्रकृति के परिणाम विशेष होने से आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकते, प्रकृति से अलग आत्मा सर्वत्र ज्ञानरूप होने से एक रूप है, जैसा कि कहेंगे 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' (५, १९), (श्रीरामानुज)। जिसका आत्मा सारे भूतों का आत्मा हुआ हुआ है, अर्थात् जिसको सबमें अपने आत्मा के तुल्य प्रेम है, जैसा कि आगे (५, १८)

अर्थात् कर्म-योग के नियमानुसार "मैं अकर्त्ता, अभोक्ता, साक्षी और सर्वव्यापक आत्मा हूँ" इस निश्चय से कर्म करते-करते जब निश्चय की परिपक्वता को वह पहुँचता है, तब सब प्राणी उसको अपना आत्मा ही भान होने लग जाते हैं, या सब प्राणियों में वह फिर अपना आत्मा ही देखता वा महसूस करता है, अर्थात् वह फिर समदर्शी और अभेददर्शी हो जाता है। ऐसा शुद्धात्मा, वशी, जितेंद्रिय और समदर्शी वा अभेददर्शी कर्म-योगी पुरुष कर्तृत्वभाव से रहित होने के कारण कर्म करते हुए भी कर्म के बंधन में फँसने नहीं पाता, बल्कि सदा कर्म-फल से निर्लिप्त ही रहता है॥ ७॥ *

में कहेंगे। अथवा सारे भूतों का प्रेम-स्थान, जिसको सब भूत चाहते हैं (देखो बृह०, १, ४, १६) (आर्यसमाजी पं० राजाराम)। सब भूतों का आत्मभूत जो परमेश्वर, वह है आत्मा जिसका, अर्थात् उसको ही अपने आत्मवत् जो प्रिय मानता है (आर्यसमाजी पं० आर्यमुनि)। सब प्राणियों वा मनुष्यों में योग के बल ऐश्वर्य तथा तेज प्रतापों से जिसका स्वरूप प्रसिद्ध वा प्रकाशित है ऐसा पुरुष (आर्यसमाजी पं० भीमसेन)। जिसने सकल जीवों के आत्मा के साथ अपने आत्मा की अभिन्नता देख ली है (भा० ध० म० मंडल के श्री स्वामी दयानंद)। सब प्राणियों का आत्मा ही जिसका आत्मा हो गया है (श्रीतिलक महाराज)।

* इस श्लोक में आत्मा शब्द तीन स्थान पर अलग-अलग अर्थ रखता है। आत्मा उसको कहते हैं जिससे जगत् की सर्वप्रकार की चेष्टा करनेवाली शक्ति का विकास होता है। इसलिए प्राण भी आत्मा है, मन भी आत्मा है; क्योंकि इन दोनों की शक्ति से शरीर में चेष्टा होती है। शरीर भी आत्मा है, इंद्रियाँ भी आत्मा हैं, क्योंकि इनके द्वारा जगत् के अन्य पदार्थों में चेष्टा हो जाती है। परमेश्वर को परमात्मा इसलिए कहते हैं कि इस ब्रह्मांड में व्यष्टि रूप और समष्टि रूप जितनी चेष्टा है, उस सबका

संबंध—(१) उक्त अर्थ को, वा उक्त फल के हेतु को, दो श्लोकों से भगवान् और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) जो कर्म-योगी उक्त लक्षणों से युक्त तो नहीं किंतु कर्म से निर्लिप्त होना चाहते हैं, उनको भगवान् (उक्त लक्षणों वा फल की प्राप्ति-निमित्त) ऐसे उपदेश करते हैं—

अथवा (३) कर्म-योगी सिद्ध पुरुष की निर्लिप्तता के लक्षण भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (४) अब भगवान् यह दर्शाने लगे हैं कि वह कौन सी युक्ति वा बुद्धि है जिसके अनुसार सब कर्म करता हुआ भी प्राणी कर्म से लिपायमान वा बंधायमान नहीं होता—

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपन् श्वसन् ८
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥ *

आदिकारण ईश्वर है। पहले स्थान पर यहाँ आत्मा का अर्थ चित्त वा अंतःकरण है, दूसरे स्थान पर शरीर वा मन (वा मन सहित अहंकार) है, और तीसरे स्थान पर सर्वव्यापक आत्मतत्त्व है जो प्रति प्राणी का वास्तविक स्वरूप अर्थात् अपना आप है।

* योगवासिष्ठ (३. ९. ४) में यह विषय इस प्रकार वर्णित है—

"बोधैकनिष्ठतां यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत् ।
य आस्ते व्यवहर्त्तैव जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥"

अर्थ—जो सब कर्म करता हुआ भी यह समझता है कि मैं कुछ नहीं करता और जगत् में सुषुप्त के समान रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

न[३], एव[२], किञ्चित्[१], करोमि[४], इति[५]	मैं कुछ[१] ही[२] नहीं[३] करता हूँ[४], ऐसा[५]
युक्तः[३], मन्येत[४], तत्त्व[१]-वित्[२]	तत्त्व[१]-वेत्ता[२] कर्म[३]-योगी मानता[४] है (अथवा माने[४])
पश्यन्[१], शृण्वन्[२], स्पृशन्[३], जिघ्रन्[४], अश्नन्[५], गच्छन्[६], स्वपन्[७], श्वसन्[८]	देखता[१] हुआ, सुनता[२] हुआ, स्पर्श[३] करता हुआ, सूँघता[४] हुआ, खाता[५] हुआ चलता[६] हुआ, सोता[७] हुआ, श्वास[८] लेता हुआ
प्रलपन्[१], विसृजन्[२], गृह्णन्[३], उन्मिषन्[४], निमिषन्[५], अपि[६]	बोलता[१] हुआ, त्यागता[२] हुआ, ग्रहण[३] करता हुआ, (नेत्र) खोलता[४] हुआ, मीचता[५] हुआ भी[६]
इन्द्रियाणि[१], इन्द्रिय[२]-अर्थेषु[३], वर्त्तन्ते[४], इति[५], धारयन्[६]	इन्द्रियाँ[१] इन्द्रियों[२] के विषयों[३] में वर्तती[४] हैं, ऐसा[५] धारण[६] करता हुआ

पहला अन्वयार्थ—तत्त्ववेत्ता * कर्मयोगी पुरुष देखता, सुनता,

---

* अज्ञानी पुरुष भी कर्म करने से लोगों में कर्मयोगी कहलाता है। परंतु वह बहुधा सकाम कर्म करता है, निष्काम नहीं; और यदि कोई निष्काम कर्म वह आरंभ कर भी ले, तो अज्ञान के कारण उसमें पुनः-पुनः किसी न किसी प्रकार की नाम इत्यादि की कामना व आसक्ति उत्पन्न हो आती है, जिससे उसके कर्म उसे निर्लिप्त नहीं होने देते। परंतु आत्मा के तत्त्व को समझा हुआ कर्मयोगी ज्ञान के कारण आसक्ति से रहित होकर निष्काम कर्म करता है, जिससे वह लिपायमान होने नहीं पाता। इसलिए कर्मयोगी के साथ तत्त्ववेत्ता विशेषण भगवान् ने दिया है।

छूता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्यागता, ग्रहण करता, (नेत्र) खोलता और मीचता हुआ भी (चित्त में) यह धारण करके कि "इंद्रियाँ इंद्रियों के अर्थों में वर्तती हैं" ऐसा समझता है कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ॥ ८, ९ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी पुरुष देखते, सुनते, छूते, सूँघते, खाते, चलते, सोते, श्वास लेते, बोलते, त्यागते, ग्रहण करते, आँखें खोलते और मीचते हुए भी (चित्त में) ऐसा धारण करते हुए कि "इंद्रियाँ इंद्रियों के विषयों में वर्तती हैं" यह माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ॥ ८, ९ ॥

पहले अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन! उक्त तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी क्यों कर्म करते हुए भी कुछ नहीं करता है, ऐसा जो कहा गया है? इसका कारण यह है कि वह योगी देखते, सुनते, छूते, सूँघते, खाते, चलते, सोते, श्वास लेते, बोलते, मल त्यागते, कुछ पकड़ते, नेत्र खोलते, मीचते इत्यादि सर्वप्रकार के शारीरिक व्यवहार करते हुए भी चित्त में यह धारण किये हुए होता है कि "इंद्रियाँ अपने-अपने विषयों में वर्त रही हैं, मुझे क्या? मैं तो इनके कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ, इत्यादि"। और इसी निश्चय के कारण वह (इन सारे इंद्रियों के कर्मों में) ऐसा कभी नहीं मानता कि "मैं कुछ भी कर रहा हूँ," * बल्कि नित्य इन सब चेष्टाओं के

---

* "मैं कुछ भी नहीं करता हूँ" इस पर श्रीतिलक महाराज ऐसे व्याख्या करते हैं कि "इसका यह मतलब नहीं कि इंद्रियों को चाहे जो करने दे; किंतु मतलब यह है कि 'मैं' इस अहंकार-बुद्धि के छूट जाने से अचेतन इंद्रियाँ आप ही आप कोई बुरा काम नहीं कर सकतीं—और वे आत्मा के क़ाबू में रहती हैं। सारांश, कोई पुरुष ज्ञानी हो जाय तो भी

भीतर वह अपने आपको अकर्त्ता, अभोक्ता, असंग और साक्षी आत्मा समझता है, जिससे वह शरीर के किसी भी कर्म से किंचित् लिपायमान वा बंधायमान होने नहीं पाता बल्कि सदा निर्लिप्त ही रहता मुक्त होता है ॥ ८, ९ ॥

दूसरे अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! जो आत्म-तत्त्व को पुस्तकों वा युक्ति से समझने के कारण तत्त्ववेत्ता है, अर्थात् जो परोऽक्ष-ज्ञानी है और कर्म भी करता है, परंतु पूर्व श्लोक में वर्णित लक्षणों से अभी युक्त नहीं है, जिससे वह कर्म-बंधन से निर्लिप्त होने नहीं पाता, ऐसे तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी को चाहिए कि वह देखते, सुनते इत्यादिक सर्वप्रकार के शारीरिक व्यवहार को करते हुए भी चित्त में यह धारे, अर्थात् ऐसा निश्चय धारण करे कि "ये सब काम इंद्रियों के हैं और इंद्रियाँ ही अपने-अपने विषयों में वर्त रही हैं, मुझे इनके कामों से कोई वास्ता नहीं, मैं तो अपने निज स्वरूप से अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी आत्मा हूँ, इत्यादि" । और इस प्रकार की धारणा से युक्त होकर फिर वह समझे * कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

श्वासोच्छ्वास आदि इंद्रियों के कर्म उसकी इंद्रियाँ करती ही रहेंगी । और तो क्या, पल भर जीवित रहना भी कर्म ही है । फिर यह भेद कहाँ रह गया कि संन्यास-मार्ग का ज्ञानी पुरुष कर्म छोड़ता है और कर्मयोगी करता है ? कर्म तो दोनों को करना ही पड़ता है । पर अहंकारयुक्त आसक्ति छूट जाने से वे ही कर्म बंधक नहीं होते, इस कारण आसक्ति का छोड़ना ही इसका मुख्य तत्त्व है ।"

* यह समझे कि "मैं जो केवल ज्ञानस्वभाव हूँ, मुझमें ऐसा कर्तृत्व इंद्रिय और प्राण जो कर्म की जड़ हैं उनके संबंध से है, न कि स्वरूप से" (श्रीरामानुज) । यह समझे कि "वास्तव में आत्मा कर्त्ता है ही नहीं ।

इस रीति से कर्म उसे लिपायमान नहीं करेंगे ॥ ८, ९ ॥ *

कर्तृत्वादि भेददृष्टि सब मिथ्या ही है, इसलिए मैं कुछ भी नहीं करता हूँ (श्रीशंकराचार्य) ।

* "मन्येत" के अर्थ बहुत टीकाकारों ने "मानता है" किये हैं, और कुछ ने "माने" ऐसा किये हैं । यद्यपि व्याकरण की सहायता से दोनों अर्थ किये जा सकते हैं (केवल पिछला "माने" अर्थ ही बहुधा किया जाता है, और पहला अर्थ "मानता है" कभी-कभी); तथापि पूर्वापर के संबंध से पहला अर्थ ही ठीक बैठता है, पिछला अर्थ निम्नलिखित कारणों से युक्त दिखाई नहीं देता—

(१) अज्ञानी कर्मयोगी को ऐसा उपदेश दिया जा सकता है कि "वह कर्म के बीच में अपने आपको अकर्त्ता-अभोक्ता देखे" जिससे वह तत्त्ववित् हो जाय । पर तत्त्ववित् तो ज्ञान से विवश हुआ स्वाभाविक ही प्रत्येक अवस्था वा कर्म में अपने आपको अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी देखता और मानता है, उसे उपदेश कैसा ? तत्त्ववेत्ता को तो श्रुति भी उपदेश नहीं देती और का तो क्या कहना, क्योंकि तत्त्ववेत्ता स्वाभाविक ही श्रुति के ऊपर वर्तता है "ब्रह्मविद् श्रुतिमूर्धनि ।"

(२) इस समय तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी का वर्णन हो रहा है, न कि अज्ञानी कर्मयोगी का कि जिसे उपदेश की आवश्यकता रहती है ।

(३) "शुद्धात्मा, अपने आपको वश किया हुआ, जितेंद्रिय और सबका आत्मा रूप हुआ-हुआ कर्मयोगी, अर्थात् तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी, कर्म करते हुए भी लिप्त नहीं होता" ऐसा सिद्धांत पूर्व श्लोक में कहा है । अब उसके लिप्त न होने का कारण दर्शाना है, न कि उपदेश । यदि उपदेश देना था तो वह सिद्धांत वा फल निरूपण करने के पहले देना था, न कि पीछे ।

(४) अगले श्लोक १० में भी यह दर्शाया गया है कि "वह कैसे निर्लिप्त रहता है," यह नहीं कि कैसे उसे रहना चाहिए ।

संबंध—(१) उक्त सिद्धांत को भगवान् अब दृष्टांत से स्फुट करते हैं—

> अर्थात् श्लोक ७ में तत्ववेत्ता कर्मयोगी के कर्म-विषयक सिद्धांत निरूपण करके अब भगवान् उस सिद्धांत के समर्थन में यह दर्शाने लगे हैं कि वह कर्मयोगी शारीरिक कर्म से क्यों और कैसे निर्लिप्त रहता है। इसलिए 'मन्येत' का अर्थ यहाँ "मानता है" ही युक्त स्पष्ट है। और यही भाव संक्षेप रूप से पूर्व (३, २८ में) ऐसे वर्णन हो चुका है कि—"तत्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥"

पर श्रीस्वामी शंकराचार्य तथा एक-दो और प्रसिद्ध संस्कृत-भाष्यकारों के हिंदी-अनुवादकों ने 'मन्येत' का अर्थ केवल 'माने' किया है, इसलिए हमने दूसरा अर्थ भी सहित व्याख्या के दे दिया है।

प्रसिद्ध योगेश्वर श्रीज्ञानदेवजी भी इन तीनों श्लोकों (८, ९, १०) की व्याख्या विचित्र रूप से ऐसे करते हैं—(योगी कर्म करते क्यों अकर्त्ता होता है ?) "कारण, हे पार्थ ! उसे "मैं देह हूँ" इस बात का स्मरण नहीं है। फिर कहो, उसे क्या कर्त्तृत्व बाक़ी रह जाता है ? इस प्रकार योग-युक्त पुरुषों में देह त्याग के बिना ही परब्रह्म के संपूर्ण गुण दिखाई देते हैं। यों तो अन्यों के समान वह भी एक देहधारी है और अशेष कर्मों में व्यवहार करते दिखाई देता है, वह भी नेत्रों से देखता है, कानों से सुनता है; परंतु आश्चर्य देखो कि वह उन इंद्रियों में सर्वथा आसक्त नहीं रहता। उसे स्पर्श का ज्ञान होता है, वह नाक से सुगंध सूँघता है, समयोचित भाषण भी कर सकता है, आहार का स्वीकार करता है, जिसका त्याग करना चाहिए सो छोड़ता है, निद्रा के समय सुख से सोता है, अपनी इच्छानुसार चलते हुए दिखाई देता है, ऐसे सब कर्मों में वह निश्चय से व्यवहार करता है, इन एक-एक बातों का क्या वर्णन करूँ, देखो श्वास और उच्छ्वास इत्यादि और पलक मूँदना-खोलना इत्यादि ये सब बातें हे पार्थ ! उसमें होती हैं,

अथवा (२) उक्त उपदेश के फल को भगवान् अब दृष्टांत से स्फुट करते हैं—

अथवा (३) सिद्ध के समान साधक भी जैसे निर्लिप्त रहता है, उसको दृष्टांत से भगवान् अब समझाते हैं—

अथवा (४) परंतु जो तत्त्वज्ञानी नहीं किंतु कर्मयोग में लगा हुआ है, उसका भी परिणाम भगवान् अब दृष्टांत से दर्शाते हैं—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

ब्रह्मणि, आधाय, कर्माणि, संगं, त्यक्त्वा, करोति, यः	कर्मों को ब्रह्म (या प्रकृति) में अर्पण करके और संग को त्यागकर जो करता है
लिप्यते, न, सः, पापेन	वह पाप से लिप्त नहीं होता
पद्म-पत्रं, इव, अम्भसा	जल से जैसे पद्म का पत्ता

* पहला अन्वयार्थ—कर्मों को जो मनुष्य ब्रह्म में समर्पण करके

परंतु वह अनुभव बल के कारण इन सब कर्मों का कर्ता नहीं कहा जाता। कारण, जब वह भ्रांतिरूपी शय्या पर सोया था तब उसे स्वप्नरूपी सुख का अनुभव होता था, परंतु अब वह ज्ञानोदय काल में जाग्रत् हो गया है। अब उसकी संपूर्ण इंद्रियों की वृत्तियाँ अपने-अपने विषयों में अधिष्ठान के सान्निध्य से वर्तती हैं। जैसे दीपक के प्रकाश में घर के सब व्यापार होते हैं, वैसे ही योग-युक्त के देह से सब कर्म होते हैं। वह सब कर्म करता है; परंतु जैसे जल में उगा हुआ कमल-पत्र जल से नहीं भीगता, वैसे ही वह कर्मबंध के वश नहीं होता ॥ ८, ९, १० ॥”

* श्रीशंकराचार्य, श्रीधर स्वामी, आनंदगिरि, मधुसूदन स्वामी, चिद्‌घनानंद और श्रीशंकरानंद इत्यादि सबने पहले अर्थ किये हैं। और

संग को त्यागकर करता है, वह पाप से (ऐसे) लिप्त नहीं होता, जैसे पद्म का पत्ता जल से ॥ १० ॥

दूसरा अन्वयार्थ—जो मनुष्य संग को त्यागकर कर्मों को प्रकृति पर डालकर करता है, वह पाप से (ऐसे) लिपायमान नहीं होता, जैसे पद्म का पत्ता जल से ॥ १० ॥

पहले अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त सिद्धांत का समुच्चय यह है (वा उक्त कथन का सार यह है) कि तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी के विषय तो क्या ही कहना है, वह तो अवश्य कर्म से निरासक्त और निर्लिप्त रहता ही है; परंतु उससे अतिरिक्त अन्य भी जो कोई शारीरिक कर्मों तथा उनके फलों के साथ कर्तृत्वादि संग (लगाव) को छोड़कर कर्मों को ईश्वरार्पण-बुद्धि (वा ईश्वरार्पण के उद्देश्य) से करता है, वह पुरुष भी कर्म करते हुए कर्म से ऐसे लिपायमान नहीं होता जैसे जल में रहता हुआ कमल का पत्ता

श्रीरामानुज तथा उनके अनुयायी श्रीबलदेवजी ने दूसरे अर्थ किये हैं, और ब्रह्म से अभिप्राय जो प्रकृति लिया है उसमें वे यह कारण दर्शाते हैं कि—भगवान् स्वयं इस गीता में आगे ("मम योनिर्महद्ब्रह्म," १४. ३) ब्रह्म के अर्थ प्रकृति करते हैं। और इंद्रियाँ प्रकृति का परिणाम हैं, इसलिए समस्त कर्मों को प्रकृतिरूप इंद्रियों पर डालकर और कर्म-फल के संग को त्यागकर इस निश्चय से "कि मैं कुछ नहीं करता हूँ" जो पुरुष कर्मों को करता है, वह इस प्रकृति के संसर्ग से कर्म करता हुआ भी प्रकृति में आत्माभिमान रूप जो पाप है, उससे ऐसे लिप्त नहीं होता, जैसे कमल का पत्ता जल में होते हुए भी जल से लिप्त नहीं होता। (यह अभिप्राय पूर्वोक्त ३, २७-२८ और आगे के श्लोक १४ के आश्रय से लिया गया है)। ये दोनों अर्थ अपने-अपने स्थान पर युक्त दीखते हैं, और उक्त सिद्धांत वा उपदेश का समर्थन ही करते हैं; इसलिए दोनों ही यहाँ दे दिये गये हैं।

जल से लिपायमान नहीं होता। अर्थात् जैसे कमलपत्र को (यद्यपि वह जल में ही उगता और लहराता है) जल स्पर्श नहीं करता, वैसे इस पुरुष को, जो कर्तृत्वादि संग को छोड़कर भगवत्-निमित्त कर्म करता रहता है, कर्म के पापरूप वा पुण्यरूप फल लिपायमान नहीं करते ॥ १० ॥

दूसरे अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त सिद्धांत तथा फल का अब दृष्टांत सुन। जैसे कमल का पत्ता यद्यपि जल में उगता और फलता-फूलता दिखाई देता है, परंतु जल के संग से न गलता है, न भीगता है, बल्कि नित्य सूखा का सूखा ही रहता है, वैसे ही जो पुरुष कर्मों को प्रकृति (अथवा इंद्रियों के स्वभाव) पर डालकर और उनका संग त्यागकर करता है। अर्थात् जो पुरुष कर्म करते समय यह धारणा (निश्चय) रखता है कि—"प्रकृति के गुणों से सब कर्म किये जाते हैं, अतएव इंद्रियाँ ही अपने-अपने स्वभावानुसार अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं, पर मैं वास्तव रूप से कुछ नहीं करता, केवल इंद्रियों के संग-दोष (उपाधि) से कर्त्ता दिखाई देता हूँ," और इस प्रकार की धारणा से कर्म के साथ कर्तृत्वादि संग जिसके छोड़े हुए (या स्वाभाविक छूटे हुए) होते हैं, वह पुरुष यद्यपि शरीर से कर्म करता दिखाई देता है, तथापि भीतर से नितांत अकर्त्ता और साक्षी होने के कारण वह कर्म के पुण्य-पापरूपी फल से लिपायमान या बंधायमान नहीं होता, बल्कि कमलपत्रवत् निर्लिप्त, निर्विकार, असंग और अचल ही रहता है ॥ १० ॥

संबंध—(१) उक्त रीति से कर्म करने में भगवान् अब सदाचार दिखलाते हैं—

अथवा (२) पर ऐसे अज्ञानी वा साधक कर्मयोगी के कर्मों का फल अंतःकरण की शुद्धिमात्र होता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ ११॥

कायेन^{1}, मनसा^{2}, बुद्ध्या^{3}	शरीर^{1}, मन^{2} और बुद्धि^{3} से	योगिनः^{1}, कर्म^{2}, कुर्वन्ति^{3}	योगी^{1} लोग कर्म^{2} करते^{3} हैं
केवलैः^{1}, इन्द्रियैः^{2}, अपि^{3}	केवल^{1} इंद्रियों^{2} से भी^{3}	संगं^{3}, त्यक्त्वा^{4}, आत्म^{1}-शुद्धये^{2}	आत्म^{1}-शुद्धि^{2} के लिए संग^{3} को त्याग^{4} कर

अन्वयार्थ—योगी लोग संग को त्यागकर आत्म-शुद्धि के लिए शरीर से, मन से, बुद्धि से और केवल इंद्रियों से भी कर्म करते हैं॥ ११॥

व्याख्या—हे अर्जुन! क्योंकि कर्म-संग ही पुरुष के अंतःकरण को मलिन करता है, और संग-त्याग उसे शुद्ध पवित्र रखता है; और ऐसे ही कर्म का नितांत त्याग अंतःकरण को विक्षिप्त और मलिन करता है, और उसका निष्काम भाव से करते रहना ही उसे शुद्ध और शांत बनाता है। इसलिए योगी अर्थात् कर्मयोगी (विशेषतः साधक कर्म-योगी) लोग ऐसा जानकर न कर्म के साथ किसी प्रकार का कर्तृत्व अभिमान आदि संग रखते हैं, और न कर्म को नितांत त्यागते ही हैं, बल्कि कर्म और कर्म-फल दोनों के संग-दोष को त्यागकर केवल * शरीर से, अथवा केवल

---

* कायिक, वाचिक, मानसिक आदि कर्मों के भेदों को लक्ष्य कर इस श्लोक में शरीर, मन और बुद्धि शब्द आये हैं। श्लोक में यद्यपि "केवलैः" विशेषण "इंद्रियैः" शब्द के पीछे आया है; तथापि शरीर, मन और बुद्धि इन तीनों को भी लागू है (गीता ४, २१ देखो)। इसी लिए व्याख्या में उसे "इंद्रिय" शब्द के समान ही अन्य (मनादि) शब्दों के साथ भी लगा दिया है। मंतव्य इससे यह है कि जो कर्म इनसे किया

मन से वा केवल बुद्धि से, या केवल इंद्रियों से ही कर्म करते रहते हैं, ताकि अंतःकरण नित्य शुद्ध और शांत रहे। अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि वा इंद्रियों से वे बेकार (निकम्मे) नहीं बैठते, किंतु कर्तृत्वादि भाव को त्यागकर अपने अंतःकरण की शुद्धि के लिए ईश्वरार्पण बुद्धि से और निरासक्त मन द्वारा कर्म करते ही रहते हैं॥ ११ ॥

संबंध—(१) अपने उक्त सिद्धांत वा उपदेश को और स्पष्ट करने के लिए भगवान् अब युक्त और अयुक्त पुरुष के कर्मों की विधि तथा फल में परस्पर भेद दर्शाते हैं—

अथवा (२) प्रसंगानुसार कर्मयोगी की उन्नत स्थिति भगवान् अब बता रहे हैं—

अथवा (३) इसी कर्म से कोई मुक्ति को क्यों प्राप्त होता है और कोई बंधन को क्यों ? इसे भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

अथवा (४) अंतःकरण की शुद्धि का विचार भी तो एक कामना है, सो फिर ऐसी कामनावाला पुरुष कैसे शांति वा शुद्धि पा सकता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

युक्तः, कर्म-फलं, त्यक्त्वा	युक्त पुरुष कर्म-फल को त्यागकर	अयुक्तः, काम-कारेण	अयुक्त पुरुष कामना करके
शांतिं, आप्नोति, नैष्ठिकीं *	निरंतर (परम) शांति को पाता है	फले, सक्तः, निबध्यते	फल में आसक्त हुआ बंध जाता है

जाय, वह इनकी चेष्टामात्र हो, और उस चेष्टा में किसी प्रकार की ममता न हो। अर्थात् कर्म के साथ यह वृत्ति न हो कि "मैं करता हूँ," और न यह कि "कर्म मेरे, अर्थात् अहंकार के, लिए हैं।"

* नैष्ठिकीम्=निष्ठा में होनेवाली मोक्षरूप शांति अर्थात् प्रथम अंतःकरण

अन्वयार्थ—युक्त पुरुष कर्म-फल को त्यागकर नैष्ठिकी शांति को पाता है। और अयुक्त पुरुष कामना करके फल में आसक्त हुआ बंध जाता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! उक्त प्रकार समत्वबुद्धि से कर्म में युक्त पुरुष जो हैं, अथवा जो कर्म-संग को त्यागकर केवल अंतःकरण की शुद्धि के लिए वा अपनी सर्वप्रकार की शुद्धि के लिए ईश्वर-निमित्त कर्म करनेवाले योगी पुरुष हैं, वे सबके सब कर्म-फल की कामना को त्यागकर ही उस शांदि को पाते हैं कि जो सदा रहनेवाली, परम, निरंतर और ब्रह्म निष्ठावाली होती है, और जिसके पाने पर फिर परम गति वा निरुपद्रव पद की प्राप्ति होती है. अन्य रीति से नहीं। और जो अयुक्त पुरुष हैं, अर्थात् जो उक्त रीति से कर्म में न लगनेवाले पुरुष हैं, वे नाना प्रकार की कामनाओं की प्रेरणा से आसक्त बुद्धि के साथ कर्म में प्रवृत्त होते कर्म के फल में फँस जाते हैं, और इस हेतु से जन्ममरण के बंधन में बँधे रहते हैं, अर्थात् जन्म-मरणरूप संसार से मुक्त होने नहीं पाते बल्कि आवागमन के चक्र में फँसे रहते हैं ॥ १२ ॥*

की शुद्धि; इसके अनंतर नित्यानित्य वस्तु का विवेक; इसके अनंतर कर्म संन्यासपूर्वक ज्ञान-निष्ठा, इस क्रम से जो (सबके अनंतर) मोक्षरूप शांति (श्रीशंकराचार्य)। सदा स्थिर रहनेवाली आत्मानुभवरूप निवृत्ति (श्रीरामानुज)।

* श्रीज्ञानदेवजी ने युक्त शब्द के अर्थ केवल ज्ञानी लेकर इस श्लोक की ऐसी व्याख्या की है—"जो आत्मज्ञान से संपन्न है, जिसे कर्म के फल का तिरस्कार उत्पन्न हुआ है, सो मनुष्य संसार में शांति के घर में घुसकर उसे वर लेता है। और हे किरीटी! जो आत्मयोगी नहीं है, सो कर्म-बंधन के कारण फलभोगरूपी खूँटी से फलेच्छा की गाँठ दे बाँधा जाता है।"

संबंध—(१) नैष्ठिकी शांति को प्राप्त हुए युक्त पुरुष के भीतर की स्थिति को भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) जिस प्रकार की एकरस निष्ठा को कर्मयोगी प्राप्त होता है, उसे भगवान् अब स्फुट करते हैं—

अथवा (३) उक्त तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी के भीतर, कर्म करते समय, किस निश्चय की एकरस धारणा होती है जिससे वह कर्म से निर्लिप्त और निरंतर शांत रहता है, इसे भगवान् अब तीन श्लोकों में खोलकर वर्णन करते हैं—

अथवा (४) यहाँ तक भगवान् के सिद्धांत वा उपदेश के अनुसार यह सिद्ध हुआ कि जो कर्म आसक्त मन से अथवा फल की कामना से प्रेरित होकर किया जाता है, वह अंतःकरण को मलिन करता पुनः-पुनः जन्म-मरण दिलाता है, जिससे बंधन का हेतु होता है। और जो कर्म निरासक्त मन तथा निष्काम भाव से केवल ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाता है, वह अंतःकरण को शुद्ध करता अपरोऽक्षज्ञान की प्राप्ति का हेतु होता है, जिससे परम शांति मिलती है, और वह कर्म मोक्षद्वार कहलाता है। परंतु इस सिद्धांत में यह भ्रम स्वतः उत्पन्न हो आता है कि "अंतःकरण तथा इंद्रियाँ तो स्वयं जड़ हैं, जिससे अपने आप तो वे कुछ कर ही नहीं सकते, जो कुछ भी वे करते हैं सब अपने स्वामी (देही अथवा ईश्वर) की सहायता से ही करते हैं (चाहे कर्म आसक्त मन से वा कामना-युक्त हों, और चाहे निरासक्त मन तथा निष्कामचित्त वा ईश्वरार्पण के भाव से हों; पर वे सबके सब वास्तव में आत्मदेव वा ईश्वर की सहायता अर्थात् चेतनता के आश्रय ही होते हैं); तो ऐसी दशा में इन सब कर्मों का कर्त्ता देही वा ईश्वर क्यों नहीं ठहरता; जड़ इंद्रियादि क्यों ? और फिर इन सारे कर्मों का प्रभाव (असर) केवल इंद्रियों या अंतःकरण पर ही क्यों पड़ता है, सबके स्वामी प्रभु वा देही पर क्यों नहीं ? अर्थात् ये सब कर्म केवल इंद्रियों वा अंतःकरण को ही अपने प्रभाव से लिपायमान वा बंधायमान क्यों करते हैं, सबके मालिक ईश्वर अथवा देही को क्यों नहीं करते ?" इस भ्रम के निवारणार्थ भगवान्

अब इस विषय में निर्णीत सिद्धांत वा गुह्य रहस्य को अपने उक्त उपदेश वा सिद्धांत के क्रम में स्वयं खोलकर वर्णन करते हैं—

अथवा (५) इस प्रकार युक्त और अयुक्त पुरुष की अंतिम गति का भेद दर्शाकर अब भगवान् कर्मयोग का फलरूप जो सांख्ययोग अर्थात् निष्कर्मता वा कर्मसंन्यास है, उसकी आभ्यंतर दशा वा फल को अध्याय पर्यंत सविस्तर वर्णन करते हैं—

अथवा (६) आत्मशुद्धि-निमित्त कर्म करनेवाले कर्मयोगियों के फल को निरूपण करने के बाद अब भगवान् जो यथार्थ ज्ञानी वा तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी हैं, उनकी आभ्यंतर दशा वा फल को अध्याय पर्यंत निरूपण करते हैं—

अथवा (७) परमार्थदर्शी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ की स्थिति सर्वदा एकरस हो जाती है, इसे भगवान् अब सविस्तर स्पष्ट करते हैं—

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥*

सर्व^{1}-कर्माणि^{2}, मनसा^{3}, संन्यस्य^{4}	सब^{1} कर्मों^{2} को मन^{3} से त्याग^{4} कर	नव^{1}-द्वारे^{2}, पुरे^{3}, देही^{4}, न^{5}, एव^{6}, कुर्वन्^{7}, न^{8}, कारयन्^{9}	नौ^{1} द्वारों^{2} के पुर^{3} में देही^{4} न^{5} ही^{6} करता^{7} हुआ और न^{8} कराता^{9} हुआ (रहता है)
आस्ते^{3}, सुखं^{2}, वशी^{1}	वशी^{1} सुख^{2} से रहता^{3} है		

अन्वयार्थ — अपने को वश में रखनेवाला देहधारी मन से सब

---

* उपनिषद् (श्वेताश्वतर ३. १८) में इस विषय का ऐसा मंत्र है—

"नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥

अर्थ—सब चर-अचर लोकों को वश में रखनेवाला हंसरूपी देही नवद्वारों की पुरी में बाह्य विषयों को जिह्वावत् भोगता है ।

कर्मों को छोड़कर (स्वयं) न (कुछ) करता हुआ, न कराता हुआ नौ द्वारों के पुर में सुखपूर्वक रहता है ॥ १३ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी जो कर्मों से निर्लिप्त रहनेवाला और नैष्ठिकी शांति को पानेवाला ऊपर वर्णन हुआ है, वह अपने आपको अपने वश किया हुआ होता है, ऐसा अपने आपको वश में रखनेवाला (जितेंद्रिय) देहवान् पुरुष सब कर्मों को शरीर वा इंद्रियों से नहीं किंतु मन से त्यागकर इस नौ द्वारोंवाले पुर (शरीर) में स्वयं न कुछ करता हुआ और न कराता हुआ सुखपूर्वक वास करता है । अर्थात् यद्यपि वशी देहधारी अपने शरीर से सब कर्म करता दिखाई देता है, परंतु तत्त्वविवेक के बल से उसकी कर्म के साथ नितांत निरासक्ति भीतर से होती है (क्योंकि मन से उसने कर्म के कर्तृत्वादि संग-दोष नितांत त्याग कर रक्खे हैं), इसलिए इंद्रियों अर्थात् शरीर से सब कुछ करता और कराता हुआ भी वह स्वयं अपने को अकर्त्ता, अभोक्ता और असंगात्मा निश्चय करता है, जिससे वह (अपने स्वरूप से) न कुछ करता और न कराता हुआ इस शरीर में, जिसके (दो नेत्र, दो कान, दो नासिका, एक मुख और मूत्र-मल के त्यागने के दो स्थान, ऐसे) नौ द्वार हैं, आनंदपूर्वक रहता है ॥ १३ ॥*

---

* शरीर में तो सभी देहधारी रहते हैं, जितेंद्रिय हों या अजितेंद्रिय और कर्मासक्त हों वा निरासक्त ; फिर तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी के साथ ही यह विशेषण क्यों ? इसका कारण यह है कि सामान्य मनुष्य देह को एक निवासस्थान या पुर के तुल्य नहीं मानते, किंतु अपना आत्मा (अपना आप) ही करके समझते हैं, और देह की रक्षा आदि भी इस प्रकार से करते हैं कि मानों वे स्वयं देह ही हैं, और "देह से अलग, देह का स्वामी, देह से पहले वा पीछे भी रहनेवाला इत्यादि" वे अपने को

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी क्यों निष्कर्मी, निर्लिप्त और शांत रहते हैं ? इसलिए, कि उनके चित्त में यह धारणा होती है कि "यह देही (देहधारी जीव वा आत्मा) जिसके वश में ये सब इंद्रियाँ प्राणादि हैं, वह मन से सब कर्मों को त्याग कर, अर्थात् मन के अधीन कोई कर्म न करने से, न किसी कर्म का कर्त्ता होता है, न प्रेरक, बल्कि अपने स्वरूप से कर्मातीत होने के कारण वह न कुछ करता और न कराता हुआ आनंद से इस नौ द्वार की पुरी (देह) में रहता है" ॥ १३ ॥

तीसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! यदि तू यह पूछे कि "जड़ इंद्रियों के कर्म जो चेतन आत्मा ही की चेतनता के आश्रय होते हैं और अपने आप नहीं हो सकते, वे क्यों इंद्रियों तक ही अपना प्रभाव डालते हैं ? क्यों नहीं अपने असली आधार (आत्मा) को लिपायमान वा बंधायमान करते ?" तो उसका कारण यह है कि आत्मा (देही) जिसके वश में अर्थात् जिसके आश्रय ये इंद्रियाँ इत्यादि सब व्यापार करती हैं, वह स्वयं इस केंद्ररूप मन से अलग वा परे होने से इंद्रियों के किसी कर्म के साथ न वास्ता रखता है, और न संबंध. बल्कि स्वरूप से कर्मातीत वा कर्मों का अधिष्ठान होने के कारण वह वास्तव में न कुछ करता है और न कराने का भाव ही रखता है, इसलिए शरीर के सब

नहीं समझते । परंतु यह तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी तो अपने आपको देह से अलग, देह का धारण करनेवाला (देही) मानता है और इसी प्रकार उसकी रक्षा वा पालन-पोषण करता है, जैसे घर का मालिक वा किरायादार घर की सफ़ाई वा रक्षा करता है । इसीलिए तत्त्ववेत्ता योगी के साथ ऐसा विशेषण दिया गया है कि वह देहरूपी पुर में उससे नितांत निःसंबंध हुआ (घर में बसनेवाले वा किरायेदार के समान) निश्चित वा सुखपूर्वक रहता है ।

कर्मों से निर्लिप्त हुआ सुखपूर्वक वह इस नौ द्वार की पुरी (देह) में रहता है ॥ १३ ॥ *

---

* आत्मा सब चेष्टाओं का आधारभूत (Substratum and source of all energies. powers and movements) होता हुआ भी क्यों शारीरिक कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता और प्रेरक नहीं माना जाता ? कारण इसमें यह है कि आधार वा आधार-चेष्टा पर आधेय वा आधेय-चेष्टा कभी हावी (प्रभुत्ववान्) नहीं हो सकते । आधेय का काम तो अपने आधार की सेवा करना और उसके अधीन रहना होता है, न कि आधार पर आक्रमण करना वा उसको अपने अधीन करना; इसलिए आधेय-चेष्टा अपने आधार को न लिपायमान कर सकती है, न बंधायमान, और न उसे कर्त्ता, भोक्ता वा प्रेरक ही बनाती है । यह कर्त्ता-भोक्ता वा प्रेरक रूप उपाधि तो आधेय-चेष्टा के कारण उत्पन्न हो जाती है, आधार-चेष्टा के कारण नहीं । चेष्टा के आधार को चेतनात्मा (Substratum or Source of all energies and movements معدن حرکت یا منبع حرکت) कहते हैं, और इसी चेतनात्मा की स्वतः वा स्वाभाविक चेष्टा को आधार-चेष्टा कहा जाता है, और इसी को कोई स्फुरणमात्र वा तरंगमात्र भी कहते हैं । और इसी (चेष्टा) के आधेय को अचेतनात्मा वा जड़ वस्तु, अथवा चेष्टा का बिंदु वा केंद्र (Point or centre of motion نقطۂ حرکت یا مرکز حرکت) कहते हैं; और इसी अचेतनात्मा की परतंत्र वा प्रेरित चेष्टा का नाम आधेय-चेष्टा है, और इसी को फिर कर्म नाम देते हैं । अर्थात् आधार-चेष्टा का नाम केवल चेष्टामात्र वा स्फुरणमात्र होता है, और आधेय-चेष्टा को कर्म वा क्रिया कहते हैं । आधार-चेष्टा स्वतः वा स्वाभाविक होने से न अपने आधार को और न अपने आपको लिपायमान वा बंधायमान कर सकती है, और न कर्त्ता-भोक्ता की उपाधि से युक्त होती है । और आधेय-चेष्टा परतंत्र वा प्रेरित होने से उस अचेतनात्मा (आधेय) को, जिसके द्वारा वह प्रकट होती है, अपना कर्त्ता-भोक्ता बनाती उसे आसक्त करती और लिपायमान

चौथी व्याख्या—हे अर्जुन ! तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी जब निष्काम कर्म द्वारा नैष्ठिकी शांति को प्राप्त हो जाता है, तब वह वास्तव

वा बंधायमान करती है। पर यह चेष्टा (कर्म) भी अपने असली आधार अर्थात् आधार-चेष्टा पर अपना कुछ प्रभाव नहीं डाल सकती और न उसमें विकार ही उत्पन्न कर सकती है । इसलिए जड़ इंद्रियों वा मन के कर्मों का प्रभाव केवल इंद्रियों वा मन पर ही पड़ता है, चेतनात्मा पर नहीं ; और यही मन वा इंद्रियाँ कर्मों की कर्त्ता-भोक्ता होती हैं, चेतनात्मा नहीं । और इन्हीं इंद्रियों वा अंतःकरण की उपाधि के कारण वह चेतनात्मा अज्ञानी पुरुषों से कर्त्ता, भोक्ता और प्रेरक समझा जाता है, वास्तव में न वह कर्त्ता है, न भोक्ता और न प्रेरक ही है । और इन्हीं इंद्रियों वा मन के द्वारा यह आधेय-चेष्टा 'कर्म' नाम पाती है, चेतनात्मा की स्वाभाविक चेष्टा तो केवल स्फुरणमात्र कहलाती है, कर्म नहीं ।

दृष्टांत—जैसे सूर्य जो प्रकाश वा तेज का पुञ्ज (Source of light and heat) है, अपने स्वभाव से ही प्रकाशता वा उष्णता देता है। और यह स्वभाव (अपने आधार वा मालिक) सूर्य पर कुछ प्रभाव नहीं डालता, यद्यपि दूसरों पर वह अवश्य डालता है । परंतु सूर्य का यही स्वाभाविक तेज वा प्रकाश (जो आधार-चेष्टा है) जब किसी बीज द्वारा चेष्टा करता है, अर्थात् जब किसी वृत्त इत्यादि के बीज में परिच्छिन्न होता उसे उपजने वा फलने-फूलने में सहायता देता है, तो बीज में उपजने वा फलने-फूलने की क्रिया उत्पन्न होती है, जिस (क्रिया) का कर्त्ता वह जड़ बीज ही ठहरता है, प्रकाश वा प्रकाश का आधार (सूर्य) नहीं; क्योंकि वृक्ष के बढ़ने, सड़ने इत्यादि का सब प्रभाव (असर) केवल बीज पर ही पड़ता है, सूर्य वा प्रकाश पर नहीं । जब वृत्त उग रहा हो, तो कोई पुरुष यह नहीं कहता कि प्रकाश या सूर्य उग रहा है, बल्कि सब यही कहते और मानते हैं कि बीज उग रहा है, यद्यपि बीज स्वयं जड़ है और विना सूर्य की सहायता के कदापि उग ही नहीं सकता ।

रूप से अर्थात् भीतर से पूर्ण संन्यासी वा निष्कर्मी हो जाता है। ऐसे संन्यासी को फिर कुछ करना-कराना शेष नहीं रहता।

ऐसे ही जड़ चक्षु जब सूर्य के प्रकाश की सहायता से कुछ देखती है, तो कोई यह नहीं कहता कि सूर्य या प्रकाश देख रहा है, बल्कि यही कहा जाता वा निश्चय किया जाता है कि चक्षु देख रही है। फिर चक्षु यदि अपने भीतर के रोग के कारण बाह्य प्रकाश की सहायता से मध्यम, उत्तम अर्थात् अधिक या न्यून देखे, तो उस सबका प्रभाव चक्षु पर पड़ता है, बाह्य प्रकाश पर नहीं। इस प्रकार प्रकाश का पुञ्ज सूर्य वा सूर्य का तेज न तो वृक्ष के उगने में सहायता देने के कारण उसकी किसी क्रिया का कर्त्ता-भोक्ता होता है, और न चक्षु की ही किसी क्रिया का कर्त्ता-भोक्ता होता है, बल्कि इन दोनों की समस्त क्रियाओं से नित्य निर्लिप्त और असंग रहता है, जिससे बंधायमान होने नहीं पाता।

दार्ष्टान्त—ऐसे ही चेतनात्मा जो सूर्यों का सूर्य और चैतन्यस्वरूप है, अपनी चेतनता से (जो उसकी स्वाभाविक चेष्टा वा क्रिया है) न किंचित् लिपायमान होता है और न बंधायमान, बल्कि नित्य निर्लिप्त और साक्षी ही रहता है। और जब इस चेतनता, अर्थात् आत्मा की स्वाभाविक चेष्टा, से जड़ मन, बुद्धि वा इंद्रियों द्वारा कुछ क्रिया हो जाती है, अर्थात् जब ये इंद्रियाँ वा मन बुद्धि आदि चेतनात्मा की सहायता से कुछ देखने, सूँघने, सोचने इत्यादि का कर्म कर बैठते हैं, तो इन सब कर्मों के कर्त्ता-भोक्ता, यही जड़ इंद्रियाँ वा मन बुद्धि आदि होते हैं, चेतनात्मा नहीं। या दूसरे शब्दों में ऐसे कि जब आत्मा की चेतनता (स्वाभाविक चेष्टा) मनरूप बीज में परिच्छिन्न होकर कोई कर्म कर बैठती है, तो उस समस्त कर्म का कर्त्ता-भोक्ता मन होता है, आत्मा वा आत्मा की चेतनता नहीं। इसलिए उस कर्म से मन ही लिपायमान वा बंधायमान होता है, न कि आत्मा। इस प्रकार मन ही मनुष्यरूपी वृक्ष में उक्त बीजवत् ऐसा केंद्र (बीज) है कि जिस पर मनुष्य का बंध और मोक्ष निर्भर है, और इसीलिए श्रुति में स्पष्ट रूप से ऐसे आया है कि—

जो कुछ भी उसके शारीरिक कर्म होते हैं, वे या तो स्वाभाविक और या प्रारब्धवश होते हैं। अपने चित्त से उसका फिर एक कर्म

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" । इस प्रकार इसी बीजरूप केंद्र में परिच्छिन्न होने से जब आत्मसत्ता कुछ कर बैठती है, तब मनुष्य का मन उस कर्म का कर्त्ता-भोक्ता होता है, जो (कर्म) फिर उसके बंधन का हेतु होता है। और जब कर्म विना इस केंद्र में आसक्त होने के केवल शरीर से उस आत्मसत्ता की सहायता द्वारा होते हैं, तब वे कर्म एक प्रकार से स्वाभाविक व प्रारब्ध-भोग के वश होते हैं, जिससे उनका कर्त्ता और भोक्ता मनुष्य का मन नहीं होता किंतु इंद्रियाँ होती हैं, और ऐसे कर्मों का प्रभाव भी इंद्रियों पर ही पड़ता है, मन और आत्मा पर नहीं। इसलिए ऐसे सब कर्म न मनुष्य को लिपायमान करते हैं और न उसके बंधन का हेतु होते हैं, और न वह मनुष्य (देहधारी) उनका कर्त्ता-भोक्ता ही ठहरता है । यही कारण है कि जब सुषुप्ति-काल में इंद्रियाँ, मन, बुद्धि आदि संकुचित हो जाते (सो जाते) हैं और भोजन का पचना, प्राणों का चलना, बालों का बढ़ना, रोम-रोम और नस-नस में रुधिर का पहुँचना इत्यादि सारी चेष्टाएँ शरीर के भीतर विना बीजरूप मन के केंद्र द्वारा सीधा आत्मसत्ता की सहायता से स्वतः वा स्वाभाविक होती हैं, तब जागकर मनुष्य उन सब चेष्टाओं का कर्त्ता-भोक्ता न अपने आपको ठहराता है, और न किसी अन्य को, बल्कि यही कहता है कि "ये सब चेष्टाएँ स्वाभाविक हुई और होती हैं, मैं उनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं" । या जब सहज स्वभाव से किसी पुरुष से कोई वस्तु उठाई गई और बेख़बरी से जेब में डाली गई हो, तब भी वह पुरुष अपने आपको उस चेष्टा (क्रिया) का कर्त्ता-भोक्ता महीं मानता, और न अन्य पुरुष ही ऐसी दशा में उसे कर्त्ता-भोक्ता मानते वा चोर ठहराते हैं । पर जब वैसी ही क्रिया मनुष्य के मन-बुद्धिरूप केंद्र द्वारा, अर्थात् जान-बूझकर वा संकल्प की आसक्ति से हो, तब वह मनुष्य झट उस कर्म का कर्त्ता

रूप से अर्थात् भीतर से पूर्ण संन्यासी वा निष्कर्मी हो जाता है। ऐसे संन्यासी को फिर कुछ करना-कराना शेष नहीं रहता।

ऐसे ही जड़ चक्षु जब सूर्य के प्रकाश की सहायता से कुछ देखती है, तो कोई यह नहीं कहता कि सूर्य या प्रकाश देख रहा है, बल्कि यही कहा जाता वा निश्चय किया जाता है कि चक्षु देख रही है। फिर चक्षु यदि अपने भीतर के रोग के कारण वाह्य प्रकाश की सहायता से मध्यम, उत्तम अर्थात् अधिक या न्यून देखे, तो उस सबका प्रभाव चक्षु पर पड़ता है, वाह्य प्रकाश पर नहीं। इस प्रकार प्रकाश का पुञ्ज सूर्य वा सूर्य का तेज न तो वृक्ष के उगने में सहायता देने के कारण उसकी किसी क्रिया का कर्त्ता-भोक्ता होता है, और न चक्षु की ही किसी क्रिया का कर्त्ता-भोक्ता होता है, बल्कि इन दोनों की समस्त क्रियाओं से नित्य निर्लिप्त और असंग रहता है, जिससे बंधायमान होने नहीं पाता।

दार्ष्टान्त—ऐसे ही चेतनात्मा जो सूर्यों का सूर्य और चैतन्यस्वरूप है, अपनी चेतनता से (जो उसकी स्वाभाविक चेष्टा वा क्रिया है) न किंचित् लिपायमान होता है और न बंधायमान, बल्कि नित्य निर्लिप्त और साक्षी ही रहता है। और जब इस चेतनता, अर्थात् आत्मा की स्वाभाविक चेष्टा, से जड़ मन, बुद्धि वा इंद्रियों द्वारा कुछ क्रिया हो जाती है, अर्थात् जब ये इंद्रियाँ वा मन बुद्धि आदि चेतनात्मा की सहायता से कुछ देखने, सूँघने, सोचने इत्यादि का कर्म कर बैठते हैं, तो इन सब कर्मों के कर्त्ता-भोक्ता, यही जड़ इंद्रियाँ वा मन बुद्धि आदि होते हैं, चेतनात्मा नहीं। या दूसरे शब्दों में ऐसे कि जब आत्मा की चेतनता (स्वाभाविक चेष्टा) मनरूप बीज में परिच्छिन्न होकर कोई कर्म कर बैठती है, तो उस समस्त कर्म का कर्त्ता-भोक्ता मन होता है, आत्मा वा आत्मा की चेतनता नहीं। इसलिए उस कर्म से मन ही लिपायमान वा बंधायमान होता है, न कि आत्मा। इस प्रकार मन ही मनुष्यरूपी वृक्ष में उक्त बीजवत् ऐसा केंद्र (बीज) है कि जिस पर मनुष्य का बंध और मोक्ष निर्भर है, और इसीलिए श्रुति में स्पष्ट रूप से ऐसे आया है कि—

जो कुछ भी उसके शारीरिक कर्म होते हैं, वे या तो स्वाभाविक और या प्रारब्धवश होते हैं। अपने चित्त से उसका फिर एक कर्म

“मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः” । इस प्रकार इसी बीजरूप केंद्र में परिच्छिन्न होने से जब आत्मसत्ता कुछ कर बैठती है, तब मनुष्य का मन उस कर्म का कर्त्ता-भोक्ता होता है, जो (कर्म) फिर उसके बंधन का हेतु होता है। और जब कर्म विना इस केंद्र में आसक्त होने के केवल शरीर से उस आत्मसत्ता की सहायता द्वारा होते हैं, तब वे कर्म एक प्रकार से स्वाभाविक व प्रारब्ध-भोग के वश होते हैं, जिससे उनका कर्त्ता और भोक्ता मनुष्य का मन नहीं होता किंतु इंद्रियाँ होती हैं, और ऐसे कर्मों का प्रभाव भी इंद्रियों पर ही पड़ता है, मन और आत्मा पर नहीं। इसलिए ऐसे सब कर्म न मनुष्य को लिपायमान करते हैं और न उसके बंधन का हेतु होते हैं, और न वह मनुष्य (देहधारी) उनका कर्त्ता-भोक्ता ही ठहरता है। यही कारण है कि जब सुषुप्ति-काल में इंद्रियाँ, मन, बुद्धि आदि संकुचित हो जाते (सो जाते) हैं और भोजन का पचना, प्राणों का चलना, बालों का बढ़ना, रोम-रोम और नस-नस में रुधिर का पहुँचना इत्यादि सारी चेष्टाएँ शरीर के भीतर विना बीजरूप मन के केंद्र द्वारा सीधा आत्मसत्ता की सहायता से स्वतः वा स्वाभाविक होती हैं, तब जागकर मनुष्य उन सब चेष्टाओं का कर्त्ता-भोक्ता न अपने आपको ठहराता है, और न किसी अन्य को, बल्कि यही कहता है कि “ये सब चेष्टाएँ स्वाभाविक हुई और होती हैं, मैं उनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं”। या जब सहज स्वभाव से किसी पुरुष से कोई वस्तु उठाई गई और बेख़बरी से जेब में डाली गई हो, तब भी वह पुरुष अपने आपको उस चेष्टा (क्रिया) का कर्त्ता-भोक्ता नहीं मानता, और न अन्य पुरुष ही ऐसी दशा में उसे कर्त्ता-भोक्ता मानते वा चोर ठहराते हैं। पर जब वैसी ही क्रिया मनुष्य के मन-बुद्धिरूप केंद्र द्वारा, अर्थात् जान-बूझकर वा संकल्प की आसक्ति से हो, तब वह मनुष्य झट उस कर्म का कर्त्ता

भी नहीं होता। अर्थात् किसी इच्छा और स्वार्थ के अधीन हुए चित्त से वह फिर कुछ नहीं करता बल्कि सुखपूर्वक अकर्त्ता-

---

ठहरता है, और कर्त्ता होने से चोर कहलाता है, जिससे दंड का भागी हो जाता है ।

सिद्धांत—उक्त सारे कथन से यह सिद्ध हुआ कि—

(१) जो चेष्टा अपने आधार (substratum) से स्वतः उठती है, वह स्वाभाविक चेष्टा वा स्फुरणमात्र कहलाती है, कर्म नहीं। अतएव कोई उसका कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता। और आत्मा जो समस्त चेष्टा वा स्फुरण का आधार (Source or Substratum) है, वह इसीलिए अपनी स्वाभाविक चेष्टा का न कर्त्ता होता है, न भोक्ता और न उससे चलायमान, लिपायमान वा बंधायमान ही होता है।

(२) जब स्वाभाविक चेष्टा (आधार-चेष्टा) से किसी केंद्र (जड़ पदार्थ) द्वारा क्रिया होती है, तब वह क्रिया कर्म कहलाती है; और जिस केंद्र द्वारा वह कर्मरूपी क्रिया प्रकट होती है, वही (केंद्र) उस कर्म का कर्त्ता-भोक्ता होता है, अन्य नहीं; क्योंकि उस कर्म की उत्पत्ति और फल का कारण वह केंद्र है।

(३) मन इस अर्थात् अंतःकरण (जिसके कारण यह प्राणी मनुष्य कहलाता है) इस मनुष्य-देह में जड़ बीजवत् केंद्र है, जिस पर मनुष्य का बंध और मोक्ष निर्भर है। जब आधाररूप आत्मा की स्वाभाविक चेष्टा से इस मन अर्थात् अंतःकरणरूपी केंद्र द्वारा कुछ क्रिया होती है, तो वह क्रिया कर्म कहलाती है, और यह मन उस कर्म का कर्त्ता-भोक्ता होता है, जिससे मनुष्य के बंधन का हेतु हो जाता है। और जब मन अर्थात् अंतःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) की संगति के विना ही सीधा आत्मसत्ता की सहायता से शारीरिक क्रियाएँ होती हैं, तब वे (क्रियाएँ) वास्तव में स्फुरणमात्र वा चेष्टामात्र कहलाती हैं, कर्म नहीं; अतएव वे स्वाभाविक क्रियाएँ

अभोक्तारूप से स्थित होता है, यद्यपि कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म उससे स्वतः (प्रारब्धवश) और स्वाभाविक होते ही रहते हैं। इसलिए सिद्धांत यह है कि जब कर्मयोगी नैष्ठिकी शांति को प्राप्त हो जाता है, तब वह वशी (स्वाधीन वा स्वतंत्र) और पूर्ण संन्यासी हुआ चित्त से न कुछ करता हुआ और न कराता हुआ (सर्वप्रकार के परिश्रम से रहित हुआ) सुखपूर्वक इस नवद्वार की पुरी अर्थात् देह में प्रारब्ध भोग तक रहता है ॥१३॥

संबंध—(१) अपने उक्त कथन को भगवान् अब और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) उक्त सिद्धांत को पहले जीवात्मा की दृष्टि से वर्णन किया गया, अब उसे ईश्वर की दृष्टि से भगवान् वर्णन करते हैं—

होने से न कोई उनका वास्तव में कर्त्ता होता है और न भोक्ता। ऐसी स्वाभाविक क्रियाएँ क्योंकि कुछ करने वा कराने के संकल्प या भाव से नहीं किंतु स्वतः होती हैं, इसलिए इन क्रियाओं के होते हुए भी पुरुष भीतर से न कुछ वास्तव में करता होता और न कराता होता है। इसी गूढ़ तत्व को भगवान् अब ऐसे स्पष्ट करते हैं कि वह देही (आत्मा) जिसके वश में सब चेष्टाएँ हैं, या वह समत्वबुद्धि से युक्त कर्मयोगी जिसके वश में मन बुद्धि इत्यादि हैं, जब वह मन से सब कर्मों को छोड़ देता है, अर्थात् जब उसकी समस्त क्रियाएँ बिना मनरूपी केंद्र के द्वारा होती हैं, अर्थात् बिना अहंकार आदि की आसक्ति के होती हैं, तब शरीर चाहे कर्म में प्रवृत्त ही दीख रहा हो, परंतु वह मनुष्य (वा देही) वास्तव में न कुछ करता होता है और न कराता होता है, बल्कि सुखपूर्वक इस नौ द्वार की देह में स्थित हुआ होता है, यद्यपि चैतन्यस्वरूप होने से उसका स्वभाव बराबर क्रिया में प्रवृत्त रहता ही है। इसी अभिप्राय (सिद्धांत) को भगवान् अगले श्लोक १४ में अधिक स्पष्ट करते हैं।

भी नहीं होता। अर्थात् किसी इच्छा और स्वार्थ के अधीन हुए चित्त से वह फिर कुछ नहीं करता बल्कि सुखपूर्वक अकर्त्ता-

---

ठहरता है, और कर्त्ता होने से चोर कहलाता है, जिससे दंड का भागी ो जाता है।

सिद्धांत—उक्त सारे कथन से यह सिद्ध हुआ कि—

(१) जो चेष्टा अपने आधार (substratum) से स्वतः उठती है, वह स्वाभाविक चेष्टा वा स्फुरणमात्र कहलाती है, कर्म नहीं। अतएव कोई उसका कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता। और आत्मा जो समस्त चेष्टा वा स्फुरण का आधार (Source or Substratum) है, वह इसीलिए अपनी स्वाभाविक चेष्टा का न कर्त्ता होता है, न भोक्ता और न उससे चलायमान, लिपायमान वा बंधायमान ही होता है।

(२) जब स्वाभाविक चेष्टा (आधार-चेष्टा) से किसी केंद्र (जड़ पदार्थ) द्वारा क्रिया होती है, तब वह क्रिया कर्म कहलाती है; और जिस केंद्र द्वारा वह कर्मरूपी क्रिया प्रकट होती है, वही (केंद्र) उस कर्म का कर्त्ता-भोक्ता होता है, अन्य नहीं; क्योंकि उस कर्म की उत्पत्ति और फल का कारण वह केंद्र है।

(३) मन इस अर्थात् अंतःकरण (जिसके कारण यह प्राणी मनुष्य कहलाता है) इस मनुष्य-देह में जड़ बीजवत् केंद्र है, जिस पर मनुष्य का बंध और मोक्ष निर्भर है। जब आधाररूप आत्मा की स्वाभाविक चेष्टा से इस मन अर्थात् अंतःकरणरूपी केंद्र द्वारा कुछ क्रिया होती है, तो वह क्रिया कर्म कहलाती है, और यह मन उस कर्म का कर्त्ता-भोक्ता होता है, जिससे मनुष्य के बंधन का हेतु हो जाता है। और जब मन अर्थात् अंतःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) की संगति के बिना ही सीधा आत्मसत्ता की सहायता से शारीरिक क्रियाएँ होती हैं, तब वे (क्रियाएँ) वास्तव में स्फुरणमात्र वा चेष्टामात्र कहलाती हैं, कर्म नहीं; अतएव वे स्वाभाविक क्रियाएँ

अभोक्तारूप से स्थित होता है, यद्यपि कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म उससे स्वतः (प्रारब्धवश) और स्वाभाविक होते ही रहते हैं। इसलिए सिद्धांत यह है कि जब कर्मयोगी नैष्ठिकी शांति को प्राप्त हो जाता है, तब वह वशी (स्वाधीन वा स्वतंत्र) और पूर्ण संन्यासी हुआ चित्त से न कुछ करता हुआ और न कराता हुआ (सर्वप्रकार के परिश्रम से रहित हुआ) सुखपूर्वक इस नवद्वार की पुरी अर्थात् देह में प्रारब्ध भोग तक रहता है ॥१३॥

संबंध—(१) अपने उक्त कथन को भगवान् अब और स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) उक्त सिद्धांत को पहले जीवात्मा की दृष्टि से वर्णन किया गया, अब उसे ईश्वर की दृष्टि से भगवान् वर्णन करते हैं—

होने से न कोई उनका वास्तव में कर्त्ता होता है और न भोक्ता। ऐसी स्वाभाविक क्रियाएँ क्योंकि कुछ करने वा कराने के संकल्प या भाव से नहीं किंतु स्वतः होती हैं, इसलिए इन क्रियाओं के होते हुए भी पुरुष भीतर से न कुछ वास्तव में करता होता और न कराता होता है। इसी गूढ़ तत्त्व को भगवान् अब ऐसे स्पष्ट करते हैं कि वह देही (आत्मा) जिसके वश में सब चेष्टाएँ हैं, या वह समत्वबुद्धि से युक्त कर्मयोगी जिसके वश में मन बुद्धि इत्यादि हैं, जब वह मन से सब कर्मों को छोड़ देता है, अर्थात् जब उसकी समस्त क्रियाएँ विना मनरूपी केंद्र के द्वारा होती हैं, अर्थात् विना अहंकार आदि की आसक्ति के होती हैं, तब शरीर चाहे कर्म में प्रवृत्त ही दीख रहा हो, परंतु वह मनुष्य (वा देही) वास्तव में न कुछ करता होता है और न कराता होता है, बल्कि सुखपूर्वक इस नौ द्वार की देह में स्थित हुआ होता है, यद्यपि चैतन्यस्वरूप होने से उसका स्वभाव बराबर क्रिया में प्रवृत्त रहता ही है। इसी अभिप्राय (सिद्धांत) को भगवान् अगले श्लोक १४ में अधिक स्पष्ट करते हैं।

अथवा (३) देही (आत्मा) का साक्षात् स्वरूप जो प्रकृति के संसर्ग से अलग है, उसका भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (४) नैष्ठिकी शांति को पाया हुआ तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी भीतर से पूर्ण संन्यासी, देह का स्वामी (मालिक) और स्वतंत्र हुआ होता है, ऐसे स्वतंत्र प्रभु की वास्तविक स्थिति वा धारणा को भगवान् अब स्फुट करते हैं—

अथवा (५) आत्मा की इस निर्लिप्त स्थिति को भगवान् अब प्रभु की स्थिति के नाम से वर्णन करते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

न^{2}, कर्तृत्वं^{3}, न^{4},	संसार^{1} के न^{2} कर्तृत्व^{3}	न^{1}, कर्म^{2}-फल^{3}-	न^{1} कर्म^{2}-फल^{3}
कर्माणि^{5}, लोकस्य^{1},	को और न^{4} कर्मों^{5}	संयोगं^{4}	के संयोगों^{4} को
सृजति^{7}, प्रभुः^{6}	को प्रभु^{6} रचता^{7} है	स्वभावः^{2},	किंतु^{1} स्वभाव^{2}
		तु^{1}, प्रवर्तते^{3}	प्रवृत्त^{3} होता है

अन्वयार्थ—संसार के न कर्तृत्व को, न कर्मों को और न कर्म-फल के संयोग को प्रभु रचता है, किंतु (यह सब) स्वभाव प्रवृत्त होता है ॥ १४ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! देह इंद्रियादि (सब संघात) का स्वामी रूप यह देही (आत्मा), अथवा मन, बुद्धि आदि सबको अपने वश में रखनेवाला होने के कारण उनका मालिक रूप यह तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी, अर्थात् जो इंद्रियों के अधीन नहीं बल्कि इंद्रियाँ जिसके अधीन होने से उनका स्वामी है, ऐसा तत्त्ववित् योगी संसार के न कर्म को, न कर्तृत्व को, और न कर्म-फल के संयोग को रचता वा निर्माण करता है, बल्कि यह सब स्वभाव है,

जो प्रवृत्त हो रहा है। अर्थात् यह प्रभु (आत्मा वा आत्मवेत्ता कर्मयोगी) देह-इंद्रियादि से निरासक्त होने के कारण इंद्रियों की किसी भी क्रिया का, उसके कर्त्ताभाव का, वा उसके फल का निर्माणकर्त्ता नहीं होता। तात्पर्य यह कि उससे इस भाव के साथ कि "मैं इंद्रियों से अमुक कर्म अवश्य करूँ वा कराऊँ, या अमुक फल-निमित्त कुछ करूँ, अथवा अमुक कर्म-फल लाभ करूँ वा कराऊँ," इत्यादि कोई चेष्टा नहीं होती, बल्कि यह सब उसकी पुरी (देह, इंद्रियादि) ही का स्वभाव है जो इन कर्त्ता, कर्म, करणादि उपाधियों में प्रवृत्त होता है, अर्थात् देह, इंद्रियों के स्वभाव इंद्रियों को अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त करते रहते हैं, आत्मा वा आत्मवेत्ता योगी उनको प्रवृत्त करने वा कराने का कोई संकल्प नहीं रखता। अथवा आत्मा (वा योगी) की यह सहज स्वभावरूप चेष्टा है जो सर्वत्र प्रवृत्त है, या उस प्रभु की यह स्वाभाविक सत्ता है कि जिसके आश्रय ये देह इंद्रियादि स्वतः प्रवृत्त होते और कर्त्ता कर्मादि भाव उत्पन्न करते हैं, पर वह प्रभु इनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं ॥ १४ ॥*

---

* "आत्मा स्वरूप से न कर्त्ता है, अतएव स्वरूप से न कर्म उसके हैं, न कर्मों का फल उसका है, क्योंकि वह ज्ञानैक स्वरूप है और अविकार्य (विकाररहित) है। यदि कर्म की उत्पत्ति उसके स्वरूप में हो, तो विकार्यवान् (बदलनेवाला) ठहरता है। जब स्वरूप से उसमें कर्म नहीं; तो वह स्वरूप से कर्त्ता भी नहीं; अतएव कर्म-फल का संबंध भी उसमें नहीं होता। (प्रश्न) तब यह जो कर्तृत्व आदि देखा जाता है, यह किसमें है, और इसको कौन रचता है? (उत्तर) इसका रचनेवाला स्वभाव है। पूर्वके ज्ञान और कर्म की वासनाएँ जो अंतःकरण में हैं, वे इस सजीव मनुष्यादि को करने में प्रेरती हैं, इसलिए परमार्थ में कर्तृत्व, कर्म और कर्म-फल का संयोग इन वासनाओं से रचित है,

अथवा (३) देही (आत्मा) का साक्षात् स्वरूप जो प्रकृति के संसर्ग से अलग है, उसका भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (४) नैष्ठिकी शांति को पाया हुआ तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी भीतर से पूर्ण संन्यासी, देह का स्वामी (मालिक) और स्वतंत्र हुआ होता है, ऐसे स्वतंत्र प्रभु की वास्तविक स्थिति वा धारणा को भगवान् अब स्फुट करते हैं—

अथवा (५) आत्मा की इस निर्लिप्त स्थिति को भगवान् अब प्रभु की स्थिति के नाम से वर्णन करते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

न, कर्तृत्वं, न, कर्माणि, लोकस्य, सृजति, प्रभुः	संसार के न कर्तृत्व को और न कर्मों को प्रभु रचता है	न, कर्म-फल- संयोगं	न कर्म-फल के संयोग को
		स्वभावः, तु, प्रवर्तते	किंतु स्वभाव प्रवृत्त होता है

अन्वयार्थ—संसार के न कर्तृत्व को, न कर्मों को और न कर्म-फल के संयोग को प्रभु रचता है, किंतु (यह सब) स्वभाव प्रवृत्त होता है ॥ १४ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! देह इंद्रियादि (सब संघात) का स्वामी रूप यह देही (आत्मा), अथवा मन, बुद्धि आदि सबको अपने वश में रखनेवाला होने के कारण उनका मालिक रूप यह तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी, अर्थात् जो इंद्रियों के अधीन नहीं बल्कि इंद्रियाँ जिसके अधीन होने से उनका स्वामी है, ऐसा तत्त्ववित् योगी संसार के न कर्म को, न कर्तृत्व को, और न कर्म-फल के संयोग को रचता वा निर्माण करता है, बल्कि यह सब स्वभाव है,

जो प्रवृत्त हो रहा है। अर्थात् यह प्रभु (आत्मा वा आत्मवेत्ता कर्मयोगी) देह-इंद्रियादि से निरासक्त होने के कारण इंद्रियों की किसी भी क्रिया का, उसके कर्त्ताभाव का, वा उसके फल का निर्माणकर्त्ता नहीं होता। तात्पर्य यह कि उससे इस भाव के साथ कि "मैं इंद्रियों से अमुक कर्म अवश्य करूँ वा कराऊँ, या अमुक फल-निमित्त कुछ करूँ, अथवा अमुक कर्म-फल लाभ करूँ वा कराऊँ," इत्यादि कोई चेष्टा नहीं होती, बल्कि यह सब उसकी पुरी (देह, इंद्रियादि) ही का स्वभाव है जो इन कर्त्ता, कर्म, करणादि उपाधियों में प्रवृत्त होता है, अर्थात् देह, इंद्रियों के स्वभाव इंद्रियों को अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त करते रहते हैं, आत्मा वा आत्मवेत्ता योगी उनको प्रवृत्त करने वा कराने का कोई संकल्प नहीं रखता। अथवा आत्मा (वा योगी) की यह सहज स्वभावरूप चेष्टा है जो सर्वत्र प्रवृत्त है, या उस प्रभु की यह स्वाभाविक सत्ता है कि जिसके आश्रय ये देह इंद्रियादि स्वतः प्रवृत्त होते और कर्त्ता कर्मादि भाव उत्पन्न करते हैं, पर वह प्रभु इनका कर्त्ता-भोक्ता नहीं ॥ १४ ॥*

---

* "आत्मा स्वरूप से न कर्त्ता है, अतएव स्वरूप से न कर्म उसके हैं, न कर्मों का फल उसका है, क्योंकि वह ज्ञानैक स्वरूप है और अविकार्य (विकाररहित) है। यदि कर्म की उत्पत्ति उसके स्वरूप में हो, तो विकार्यवान् (बदलनेवाला) ठहरता है। जब स्वरूप से उसमें कर्म नहीं; तो वह स्वरूप से कर्त्ता भी नहीं; अतएव कर्म-फल का संबंध भी उसमें नहीं होता। (प्रश्न) तब यह जो कर्तृत्व आदि देखा जाता है, यह किसमें है, और इसको कौन रचता है? (उत्तर) इसका रचनेवाला स्वभाव है। पूर्व के ज्ञान और कर्म की वासनाएँ जो अंतःकरण में हैं, वे इस सजीव मनुष्यादि को करने में प्रेरती हैं, इसलिए परमार्थ में कर्तृत्व, कर्म और कर्म-फल का संयोग इन वासनाओं से रचित है,

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! पूर्व जो कर्मों से निर्लिप्त रहने के विषय में इंद्रियों के स्वामी (तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी) की आत्म-विषयक धारणा दर्शायी कि "आत्मा निज स्वरूप से तो किसी भी कर्म का कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता, बल्कि सदैव अकर्त्ता-अभोक्ता और साक्षी ही रहता है" । अब उसी की ईश्वर-विषयक धारणा को सुन । जैसे वह अपने को आत्मारूप से "अकर्त्ता-अभोक्ता" निश्चय करता है, वैसे वह अपने को ईश्वररूप से भी समझता है कि "मैं जो जगत् का प्रभु हूँ, वह (प्रभु) न किसी से कर्म कराता है, न आप कर्म करता है, न कर्म के फल का संबंध निर्माण करता है, और न किसी के किये कर्म का फल ही भोगता है, अर्थात् संपूर्ण रूप से वह अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी रहता है; किंतु मुझ प्रभु की यह स्वाभाविक चेतन सत्ता है कि जिसके आश्रय सब प्राणी कार्य के करने और कराने में प्रवृत्त होते हैं ; अथवा

अतएव प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी वासनाओं के अनुसार ही चेष्टा करता है, मनुष्य मनुष्य के सदृश और पशु पशु के सदृश चेष्टा करता है। यदि ये चेष्टाएँ सीधी आत्मा से हों, तो आत्मा सर्वत्र सम होने से (उसकी) सबमें सम ही चेष्टाएँ होनी चाहिएँ । फिर मनुष्यों में भी हरएक अपनी-अपनी ही वासनाओं के सदृश चेष्टा करता है, और जैसी वासनाओं की उसमें अधिकता होती है, वही काम उससे उत्तम बनता है । अतएव स्वभावतः एक एक विषय में और दूसरा दूसरे विषय में रुचि रखता है, "भिन्नरुचिर्हि लोकः", और किसी से एक काम अच्छा हो सकता है, दूसरा नहीं । दूसरे से दूसरा अच्छा हो सकता है और वह पहला नहीं । एक एक में योग्य और दूसरे में अयोग्य है, दूसरा दूसरे में योग्य और पहले में अयोग्य है, सर्वथा अयोग्य कोई भी नहीं; अतएव कहा है—"अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः" =पुरुष कोई अयोग्य नहीं, हाँ जोड़नेवाला दुर्लभ है । सो यह कर्तृत्वादि वासनाकृत है ।" (आर्यसमाज के पं० राजाराम)

यह जो अज्ञानरूपी दैवी माया है, यह मायारूपी प्रकृति ही कार्य के करने और कराने में प्रवृत्त होती है"। तात्पर्य यह है कि जगत् का स्वामी प्रभु सूर्य की न्याईं सबका प्रकाशकमात्र है, किसी भी कर्मादि व्यापार में प्रवर्त्तक नहीं। किंतु जिस-जिस वस्तु का जैसा-जैसा स्वभाव होता है, वह स्वभाव ही वैसा-वैसा प्रवृत्त होता है। जैसे एक ही सूर्य के उदय होने पर कमल फूल का विकास उसके अपने स्वभाव से ही होता है, वा सूर्यमुखी पुष्प अपने स्वभाव से ही सूर्य की ओर मुख कर लेता है, और कुमुद पुष्प स्वभाव से ही संकुचित होता है, पर सूर्य स्वयं किसी का विकास तथा संकोच नहीं करता, जिससे किसी के विकास और संकोच का वह कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता। वैसे एक ही परमात्मा के प्रकाशमान हुए जड़ घटादि पदार्थ तो चेष्टा करते नहीं, और चेतन मनुष्यादि प्राणी नाना प्रकार की चेष्टा करते हैं, परंतु परमात्मा आप किसी भी पदार्थ को न प्रवृत्त करता है, और न निवृत्त, बल्कि स्वयं नित्य अकर्त्ता, अभोक्ता और साक्षी ही स्थित रहता है। पूर्व (आत्मविषयक) धारणावत् इस (ईश्वर-विषयक) धारणा में युक्त होने के कारण भी वह तत्त्ववित् कर्मयोगी कर्मों से नित्य निर्लिप्त और असंग ही रहता है ॥ १४ ॥

तीसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! पूर्व श्लोक में जो सिद्धांत दर्शाया गया है कि "देह का स्वामी (देही) मन अर्थात् अंतःकरणरूपी केंद्र द्वारा कोई कर्म न करने से शारीरिक किसी भी कर्म का कर्त्ता, भोक्ता और प्रवर्त्तक नहीं होता, बल्कि सब चेष्टाओं का आधारभूत होने से सब देहों में आनंदपूर्वक साक्षी स्थित रहता है"। उसी सिद्धांत को अब जगत् के स्वामी (ईश्वर) की दृष्टि से शास्त्र वा तत्त्ववेत्ता ऐसे कहते हैं कि प्रभु जगत् के किसी कर्म, कर्तृत्व और कर्म-फल के संयोग को नहीं रचता है। यह

इस आधाररूप प्रभु की स्वाभाविक सत्ता है जिसके आश्रय यह सब प्राणी प्रवृत्त होते कर्म, कर्त्ता, कर्म-फल इत्यादि की उपाधियाँ उत्पन्न करते हैं। अथवा यह सब इस प्रभु की स्वाभाविक चेष्टा है जो मन अर्थात् अंतःकरणरूपी केंद्र द्वारा प्रकट होने से कर्त्ता, कर्म और करणरूप उपाधियाँ उत्पन्न करके उन कर्मों के फल की प्राप्ति-निमित्त प्रवृत्त है। तात्पर्य यह है कि जैसे प्रकाश का आधार सूर्य सारे जगत् को प्रकाश देता है, पर वह उस प्रकाश का कर्त्ता-भोक्ता नहीं होता; क्योंकि वह प्रकाश उसका स्वतः और स्वाभाविक होने से उस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता; किंतु जब वह स्वाभाविक प्रकाश किसी बीज द्वारा चेष्टा करता है, तब वृक्ष के उगने, फलने और फूलने की उपाधि उत्पन्न हो जाती है, विना बीज द्वारा चेष्टा करने के ये उपाधियाँ प्रकट नहीं होतीं। वैसे सूर्यों का सूर्य चैतन्यस्वरूप परमात्मा जो संसार की संपूर्ण चेतनता (चेष्टाओं) का आधार है, यद्यपि जगत् को चेतनता उसी भंडार से प्राप्त होती है, और उसी की चेतन सत्ता से यह समस्त स्थावर-जंगमरूप जगत् स्थित है और चेष्टा करता है; पर इस सत्ता के कारण वह प्रभु इस समस्त चेष्टा तथा उसके फल का कर्त्ता-भोक्ता नहीं हो जाता, क्योंकि यह चेतन सत्ता उसकी स्वाभाविक है, किसी संकल्प-विकल्प से उत्पन्न नहीं होती, जिससे अपने आधाररूप परमात्मा पर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकती, अर्थात् उसमें कोई विकार नहीं उत्पन्न कर सकती। पर हाँ, जब इस स्वाभाविक चेतन सत्ता के प्रभाव वा आश्रय से यह बीजरूप जड़ अंतःकरण (केंद्र) इंद्रियों द्वारा कुछ कर बैठता है, तो वह क्रिया कर्म कहलाती है, जिसके कारण "कर्त्ता" और "फल" रूप उपाधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार यही स्वाभाविक सत्ता प्रभु की है जो अंतःकरण की

संगति से सर्वत्र प्रवृत्त हुई कर्त्ता, कर्म, करण और कर्म-फलरूप उपाधियाँ उत्पन्न करती हैं। परमात्मदेव तो अपने स्वरूप से न जगत् के किसी कर्म को, न कर्त्ता को और न कर्म-फल के संबंध को उत्पन्न करता है। वह तो सर्वत्र सब देहों में अकर्त्ता, अभोक्ता, साक्षी और असंगात्मास्वरूप से स्थित है ॥ १४ ॥

संबंध—(१) अब उक्त सिद्धांत को अन्य रीति से भगवान् स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) जब स्वभाव ही सर्वत्र प्रवृत्त होता है और प्रभु किसी कर्म तथा कर्त्ता इत्यादि का रचनेवाला नहीं है, तो फिर यह पुण्य और पाप किसको लगते और किससे प्रवृत्त होते हैं? इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) "यह सब स्वभाव ही प्रवृत्त होता है" कैसे माना जाय, जब कि श्रुति और स्मृति में इसके विरुद्ध ईश्वर को सर्व कर्मों में प्रेरक और जीव को कर्म का कर्त्ता कहा है, जैसा कि—"एष उह्येव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ ह्येवासाधुकर्म कारयति तं यमधो निनीषत इति।"=यह परमात्मा जिस पुरुष को ऊपर के लोकों (स्वर्गादि) में ले जाना चाहता है उससे प्रेरणा करके पुण्यकर्म कराता है, और जिसको नीचे के लोकों (नरकादि) में ले जाना चाहता है, उससे प्रेरणा करके पापकर्म कराता है। इति श्रुति ॥ "असौ जन्तुरनीशोयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।" =यह अज्ञानी जीव अपने सुख-दुःख दोनों के उत्पन्न करने में असमर्थ ही है, किंतु ईश्वर की प्रेरणा से यह जीव (अपने पुण्यपाप के वश से) स्वर्ग-नरकादि को प्राप्त होता है। इति स्मृति। इस प्रकार ईश्वर में तो पुण्य-पापकर्मों का कारयितृत्व और जीव में उनका कर्तृत्व श्रुति-स्मृति ने कहा है जिससे इन दोनों (ईश्वर, जीव) में पुण्य-पापकर्मों का लेप अवश्य और स्पष्ट है। इस संशय की निवृत्ति के लिए भगवान् ऐसा कहते हैं कि—

अथवा (४) "वासनाएँ भी तो आत्मा पर होती दीखती हैं, इसलिए

फिर भी कर्तृत्व आदि का रचनेवाला आत्मा ही ठहरता है।" इस प्रश्न वा संदेह का उत्तर भगवान् ऐसे देते हैं कि—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

न, आदत्ते^{4}, कस्यचित्^{2}, पापं^{3}	न किसी^{2} के पाप^{3} को लेता^{4} है	अज्ञानेन^{1}, आवृतं^{2}, ज्ञानं^{3}	अज्ञान^{1} से ज्ञान^{2} ढका^{3} हुआ है
न^{2}, च^{1}, एव^{3}, सुकृतं^{5}, विभुः^{4}	और^{1} न^{2} ही^{3} विभु^{4} पुण्य^{5} को (लेता है)	तेन^{1}, मुह्यन्ति^{3}, जन्तवः^{2}	उस^{1} से लोग^{2} धोखा^{3} खाते हैं

अन्वयार्थ—विभु न किसी के पाप को लेता है, और न ही पुण्य को। अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, उससे लोग धोखा खाते हैं ॥ १५ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन! ऊपर के श्लोकों में यह दर्शाया जा चुका है कि "तत्त्ववित् कर्मयोगी अथवा चेष्टा का आधार ईश्वर वा आत्मा किसी भी कर्म का कर्त्ता या भोक्ता नहीं होता, किंतु उस (आधार या योगी) की स्वतः वा स्वाभाविक चेष्टा जब मन अर्थात् अंतःकरणरूपी केंद्र द्वारा प्रकट होती है, तब कर्म नाम पाती है, जो कर्म फिर पुण्य वा पापरूप फल के उत्पन्न करनेवाला होता है और जिस (कर्म तथा फल) का कर्त्ता वा भोक्ता केवल जड़ अंतःकरण वा मन ही ठहरता है, ईश्वर या आत्मा नहीं।" इसी उक्त सिद्धांत की दृष्टि से शास्त्रकार वा तत्त्ववेत्ता पुरुष ऐसा कहते हैं कि विभु अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा वा परमेश्वर अथवा सबका आत्मरूप हुआ हुआ कर्मयोगी

अकर्त्ता होने से न किसी के पाप को और न किसी के पुण्य को ग्रहण करता है, अर्थात् न वह किसी पाप वा पुण्य-कर्म का कर्त्ता होता है, और न इसलिए वह किसी पाप वा पुण्य-कर्म के फल का भोक्ता होता है। वह तो नित्य अकर्त्ता, अभोक्ता, अविकारी और असंग आत्मा है। इसी अभिप्राय को लेकर "असंगो ह्ययं पुरुषः" (बृह० ४, ३, १५-१६)=निःसंदेह यह पुरुष असंग है, ऐसा श्रुति ने कहा है। सो अविकारी आत्मा वस्तुतः इन सारे पुण्य-पापादि विकारों से असंग रहता है, वे विकार सब अंतःकरण में ही होते हैं, और इनका फल भी उसी को प्राप्त होता है, अन्य को नहीं, यह तत्त्व है। पर सर्वसाधारण लोग इस तत्त्व को न जानकर ऐसा समझने लग जाते हैं कि "अंतःकरण तो स्वयं जड़ है, सारे कर्म केवल एक विभु (आत्मा वा ईश्वर) के आश्रय होते हैं, अतएव कर्मों का कर्त्ता और उनके पुण्य वा पापरूपी फलों का भोक्ता वही एक विभु ही होता है, अन्य नहीं"। ऐसी समझ का नाम ही अज्ञान है। इसी अज्ञान से उनके अपने स्वरूप का ज्ञान ढका होता है जिसके कारण अपने आपको कर्त्ता-भोक्ता मानते हुए वे लोग भटकते फिरते हैं और भ्रांति का शिकार बने रहते हैं ॥ १५ ॥*

---

* वास्तव में विभु (परमेश्वर) किसी भक्त के भी पाप को और पुण्य को ग्रहण नहीं करता है। फिर क्यों भक्ति भरी पूजा से दान, याग, होमादि, शुभ कर्म इन भक्तों से किये जाते हैं? इसलिए कि अज्ञान से ज्ञान (विवेक-शक्ति) ढका हुआ है, उससे मनुष्य धोखा खा जाते हैं, और "मैं करता हूँ वा कराता हूँ, तथा ऐश्वर्यादि भोग मैं भोगता हूँ और दूसरों को भुगाऊँगा" इस प्रकार अविवेकी जन भ्रम को प्राप्त होते हैं (श्रीशंकराचार्य)।

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन! सर्वत्र व्यापक होने से निष्क्रिय जो परमेश्वर है वह विभु किसी भी मनुष्य के पाप को वा पुण्य को ग्रहण नहीं करता, क्योंकि परमार्थ दृष्टि से उसमें पुण्य-पाप का कर्त्तापन तथा कारयितापन नहीं है। जब ऐसा सिद्धांत है, तो उक्त ("एष उ ह्येव साधुकर्म कारयति।" वा "ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।") श्रुति-स्मृति-वाक्य और यह लोकप्रसिद्ध उक्ति कि "ईश्वर की प्रसन्नता के वास्ते भले पुरुष शुभ कर्म करते हैं, और बुरे कर्मों को उसके भय से नहीं करते हैं," ये सबके सब असंगत होंगे। इस असंगति के दूर करने के ख़्याल से कहा जाता है कि आवरण विक्षेप शक्तिवाला जो मायारूप मिथ्या अज्ञान है, अथवा अपने अकर्त्ता-अभोक्ता स्वरूप को कर्त्ता-भोक्ता रूप करके जानना जो अज्ञान है, इस अज्ञान से अपने वास्तवस्वरूप का ज्ञान अथवा परमार्थ सत्यरूप ज्ञान ढका हुआ है; इस कारण से लोग मोह को प्राप्त होते हैं; अर्थात् प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय; कर्त्ता, कर्म, करण; भोक्ता, भोग्य, भोग; इस नव प्रकार के संसारभ्रम को उक्त अज्ञान के कारण जंतु प्राप्त होते हैं; अथवा "यह जीव पुण्य-पापरूप कर्मों का कर्त्ता है, और ईश्वर इन कर्मों का करानेवाला है" इत्यादि इस भेद-भ्रम को लोग अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण प्राप्त होते हैं। ऐसे अज्ञानी (मूढ़ वा अविवेकी) पुरुषों के वचन वा भ्रांतिज्ञान को उक्त श्रुति-स्मृति-वाक्य अनुवादमात्र करते हैं, इस भेद-भ्रम के बोधन में उनका तात्पर्य नहीं है ॥१५॥*

---

* उक्त दोनों श्लोकों पर सुप्रसिद्ध महाशय तिलकजी अपना ऐसा विचार प्रकट करते हैं कि—"इन दोनों श्लोकों का तत्त्व असल में सांख्य-शास्त्र का है। वेदांतियों के मत में आत्मा का अर्थ परमेश्वर है, अतः वेदांती लोग परमेश्वर के विषय में भी 'आत्मा अकर्त्ता है' इस तत्त्व का

संबंध—(१) अज्ञानी पुरुष तो धोखा खाते हुए भटकते फिरते हैं, परंतु ज्ञानवान् पुरुष की क्या दशा रहती है, उसे भगवान् अब पुनः खोलकर वर्णन करते हैं—

अथवा (२) जब सब जीव अनादि अज्ञान से आवृत हैं, तो संसार से निवृत्ति इनकी क्योंकर होगी? इसका भगवान् अब समाधान करते हैं—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥*

ज्ञानेन^{3}, तु^{1}, तत्^{4}, अज्ञानं^{5}, येषां^{6}, नाशितं^{7}, आत्मनः^{2}	परंतु^{1} आत्मा^{2} के ज्ञान^{3} से वह^{4} अज्ञान^{5} जिनका^{6} नाश^{7} हो गया है	तेषां^{1}, आदि^{2}- त्यवत्^{3}, ज्ञानं^{4}	उनका^{1} सूर्य^{2}वत्^{3} ज्ञान^{4}
		प्रकाशयति^{3}, तत्^{1}, परम्^{2}	उस^{1} परम^{2} को प्रकाशता^{3} है

उपयोग करते हैं । प्रकृति और पुरुष ऐसे दो मूल तत्त्व मानकर सांख्यमतवादी समग्र कर्तृत्व प्रकृति का मानते हैं और आत्मा को उदासीन कहते हैं । परंतु वेदांती लोग इसके आगे बढ़कर यह मानते हैं कि इन दोनों ही का मूल एक निर्गुण परमेश्वर है और वह सांख्यवालों के आत्मा के समान उदासीन और अकर्त्ता है, एवं सारा कर्तृत्व माया (अर्थात् प्रकृति) का है । अज्ञान के कारण साधारण मनुष्य को ये बातें जान नहीं पड़तीं; परंतु कर्मयोगी कर्तृत्व और अकर्तृत्व का भेद जानता है; इस कारण वह कर्म करके भी अलिप्त ही रहता है ।

* इस विषय का भागवत (१. २. २४) में श्लोक इस प्रकार से है—

"यद्येषोपरता दैवी माया वैशारदी मतिः ।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते ॥'

अर्थ—जब मोहनेवाली दैवी माया ब्रह्मविद्या से नष्ट हो जाती है, तब जीव ब्रह्मभाव को प्राप्त होता परम शांति को पाता है ।

अन्वयार्थ—परंतु जिनका वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान से नाश हो गया है, उनका ज्ञान सूर्यवत् उस परम (तत्त्व) को प्रकाशित करता है ॥ १६ ॥

व्याख्या—परंतु हे अर्जुन! जिन पुरुषों का वह अज्ञान (जो आवरण, विक्षेप शक्तिवाला है, अनादि है, अनिर्वचनीय है, सब अनर्थों का मूल है, स्वाश्रय अभिन्नविषयक है; अर्थात् जैसे अंधकार जिस घर के आश्रित रहता है उसी घर को वह ढक लेता है, वैसे अज्ञान भी जिस आत्मदेव के आश्रित रहता है उसी आत्मदेव को ढक लेता है, इस प्रकार जो आत्मज्ञान को ढककर पुरुष को धोखा देता वा मोहता है, और जो शास्त्रों में माया, अविद्या, प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त शक्ति इत्यादि नामों से कहा जाता है) अपने आत्मविषयक ज्ञान से नाश हो गया है। अर्थात् जो ज्ञान निरासक्त मन और समत्वबुद्धि से कर्म करते-करते शुद्ध अंतःकरण में अनुभव होता है; अथवा जो ज्ञान ब्रह्मवेत्ता पुरुषों से उपदिष्ट वेदांत-वाक्य द्वारा उत्पन्न होता है; वा जो ज्ञान श्रवण मनन निदिध्यासन की परिपक्वता से निर्मल अंतःकरण की वृत्तिरूप है; अथवा जो ज्ञान शोधित 'तत्त्वं' पदार्थों का अभेदरूप जो शुद्ध सच्चिदानंद, अखंड, एकरस वस्तु है, उस वस्तुमात्र को विषय करनेवाला है, ऐसे ज्ञान से जिनका अज्ञान नाश हो गया है। उन महात्मा पुरुषों का वह ज्ञान उस परमतत्त्व अर्थात् उनके निजस्वरूप को ऐसे प्रकाशता है जैसे जगत् के पदार्थों को सूर्य। तात्पर्य यह है कि उन ज्ञानवानों के यहाँ तो नित्य तत्त्वज्ञान का सूर्य उदय रहता है, जिससे वे अपने स्वरूप से चलायमान न होते हुए किसी भी कर्म में आसक्त होने नहीं पाते; अतएव कर्मों के वे कर्त्ता-भोक्ता नहीं होते, बल्कि कर्म करते

हुए भी अकर्त्तास्वरूप निजानंद में ही स्थित रहते हैं ॥ १६ ॥ [*]

संबंध—(१) जिनका आत्मज्ञान परमतत्त्व को सूर्यवत् प्रकाशता रहता है, उनकी जो अंतिम गति होती है, उसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) अज्ञान नष्ट हुए कर्मयोगी कभी भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते, इस सिद्धांत को भगवान् अब दर्शाते हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥ [†]

---

[*] श्रीज्ञानदेव अपने विचित्र ढंग से इस श्लोक पर ऐसे व्याख्या करते हैं—

“यह अज्ञान जब संपूर्ण नष्ट हो जाता है, तब भ्रम का अंधकार मिट जाता है, और मुक्त ईश्वर की निष्कर्मता प्रकट होती है। एतावता ‘ईश्वर अकर्त्ता है’ ऐसा यदि चित्त में ज्ञान हो, और स्वभावतः आरंभ से ‘मैं ही ईश्वर हूँ’ यह विवेक यदि चित्त में उदय हो, तो उस मनुष्य को तीनों जगतों में काहे का भेद रहेगा ? वह स्वानुभव के कारण सब जगत् को मुक्त समझेगा, जैसे पूर्व दिशा के घर में सूर्य का उदय होते ही दिवाली हो जाती है तथा उसी समय अन्य दिशाओं के अंधकार का भी नाश हो जाता है।”

[†] योगवासिष्ठ (३. ६. १, २) में इस विषय पर ऐसे श्लोक हैं—

“तच्चित्तास्तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च तन्नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ १ ॥
तेषां ज्ञानैकनिष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम् ।
सा जीवन्मुक्ततोदेति विदेहान्मुक्तैव या ॥ २ ॥”

अर्थ—उस (आत्मा वा ब्रह्म) में ही जिनका चित्त व प्राण है, जो परस्पर उस (आत्मा व ब्रह्म) को ही बोधन करते हैं, जो उसी के कथन में संतुष्ट होते हैं, और जो उसी में रमण करते हैं ; ऐसी ज्ञाननिष्ठा और

* तत्^{1}-बुद्धयः^{2}, तत्^{3}-आत्मानः^{4}	उस^{1} ही में बुद्धि^{2}वाले, उस^{3} ही में आत्मा^{4} (मन) वाले	गच्छन्ति^{3}, अ^{1}पुन^{2}रावृत्तिं	न^{1} लौटने^{2} को जाते^{3} हैं
तत्^{1}-निष्ठाः^{2}, तत्^{3}-पर^{4}-अयनाः^{5}	उस^{1} ही में निष्ठा^{2}वाले, उस^{3} ही में परम^{4} आश्रय^{5} रखनेवाले	ज्ञान^{1}-निर्धूत^{2}-कल्मषाः^{3}	ज्ञान^{1} से धोये^{2} हुए (झाड़े हुए) पाप^{3}वाले

अन्वयार्थ—उस ही में बुद्धिवाले, उस ही में आत्मा (मन) वाले, उस ही में निष्ठावाले, उस ही में परम आश्रय रखनेवाले और ज्ञान से धुले हुए पापोंवाले पुरुष फिर न लौटने † को जाते हैं॥ १७॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त ज्ञान से प्रकाशित जो परमतत्त्व (सच्चिदानंदस्वरूप) है, उस तत्त्व में अथवा उक्त आत्मज्ञान में ही जिन विचारवानों की बुद्धियाँ हैं, अर्थात् उसी तत्त्व के विचार में ही जिनकी बुद्धियाँ युक्त रहती हैं। उसी (सच्चिदानंदस्वरूप) में ही है आत्मा जिनका; अर्थात् जो अपने आपको सच्चिदानंद स्वरूप

आत्मज्ञान के विचारवालों की निष्ठा जीवन्मुक्तावस्था कहलाती है, जो फिर (बढ़ते-बढ़ते) विदेहमुक्त अवस्था होती है।

* 'तद्बुद्धयः' से भगवान् का तात्पर्य ब्रह्मसाक्षात्कार, 'तदात्मानः' से निदिध्यासन, 'तन्निष्ठा' से श्रवण-मननरूप वेदांत-विचार और 'तत्परायणाः' से लोक-परलोक के विषय-सुखों से तीव्र वैराग्य है। इसमें उत्तर-उत्तर साधन को पूर्व पूर्व साधन का हेतु दर्शाया गया है। इस प्रकार उक्त चार विशेषणों से युक्त जो संन्यासी हैं, वे अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं, अर्थात् विदेहमुक्ति को पा लेते हैं। (श्री मधुसूदन स्वामी)

† "फिर न लौटने (अपुनरावृत्ति) को जाते हैं"=फिर देह के संबंध को प्राप्त नहीं होते हैं, अर्थात् विदेह मुक्ति को प्राप्त होते हैं (श्रीशंकराचार्य)। फिर नहीं लौटते, अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, जहाँ से फिर नहीं

ही निश्चय कर रहे हैं, या उसी तत्त्व के श्रवण-मनन में जिनके मन लगे रहते हैं, अथवा उस परमस्वरूप में ही जिनका अंतःकरण रमा रहता है। उसी परमस्वरूप में जिनकी दृढ़ स्थिति है, अर्थात् जिनका चित्त अपने परमस्वरूप के निश्चय में दृढ़ स्थित है। जो नित्य उसी परमतत्त्व के परायण हैं, अर्थात् जो बात-बात में उस परमतत्त्व (परमात्मदेव) का ही आश्रय लेते हैं। और "मैं शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म हूँ" इस प्रकार के तत्त्वज्ञान से जिनके समस्त पाप वा देह के संबंधकारक पुण्य-पापरूप कल्मष धुल गये वा झड़ गये होते हैं। ऐसे पुण्य-पाप से रहित हुए महापुरुष अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं; अर्थात् ऐसे विद्वान् महात्मा जब शरीर को छोड़ते हैं, तो पुनः जन्ममरण को प्राप्त नहीं होते, बल्कि सीधा मोक्ष को ही पाते हैं॥ १७॥

संबंध—(१) परमतत्त्वपरायण पुरुषों को अंतिम गति कहकर अब भगवान् उनका लौकिक व्यवहार और दृष्टि वर्णन करते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार जिसका अज्ञान नष्ट हो गया हो, उस तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी की ब्रह्मभूत वा जीवन्मुक्त अवस्था का भगवान् अब अधिक वर्णन करते हैं—

अथवा (३) अब भगवान् तत्त्वज्ञानी पुरुष की उत्तम अद्वैत स्थिति का वर्णन करते हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

लौटना होता। यह फिर न लौटने का अभिप्राय महाप्रलय तक ही युक्तियुक्त हो सकता है (आर्यसमाजी पं० राजाराम)।

विद्या[१]-विनय[२]-सम्पन्ने[३], ब्राह्मणे[४], गवि[५], हस्तिनि[६]	विद्या[१] और विनय[२] से संपन्न[३] ब्राह्मण[४], गौ[५] और हाथी[६] में	शुनि[२], च[१], एव[४], श्वपाके[५], च[३]	और[१] कुत्ते[२] में और[३] ऐसे[४] ही चांडाल[५] में
		पण्डिताः[१], समदर्शिनः[२]	पंडित[१] समदर्शी[२] होते हैं

अन्वयार्थ—विद्या-विनय * युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और ऐसे ही चांडाल में पंडित लोग समदर्शी होते हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! वेद के अर्थ का सम्यक् ज्ञानरूप जो विद्या है, अथवा अद्वितीय ब्रह्म को प्रतिपादन करनेवाली ब्रह्मविद्यारूप जो विद्या है, ऐसी विद्या से संपन्न और विनय (निरहंकारता व नम्रता) से युक्त जो ब्राह्मण है, अर्थात् पहले ही ब्राह्मण अन्य जातियों से उत्तम है, परंतु विद्या और विनय से संपन्न होने से अत्युत्तम जो सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मण है; और मनुष्यों की अपेक्षा से मध्यम तथा संस्कारों से रहित जो राजस गौ है, और मनुष्यों तथा पशुओं में अत्यंत अधम वा अत्यंत तमोगुण युक्त जो हाथी, कुत्ता और चांडाल हैं। इन सबों में पंडित लोग (परमात्मपरायण पुरुष) सदा समदृष्टि † रखते हैं। अर्थात् वे पुरुष जिनका आत्मविषयक ज्ञान द्वारा अपने स्वरूप का अज्ञान नाश हो गया है, जिन्होंने इस तत्त्व को जान

---

* यहाँ विद्या-विनय-संपन्न ब्राह्मण और चांडाल में तो कर्म की विषमता है, और गौ, हाथी आदि में जाति की विषमता है।

† सबमें सम, अर्थात् सबमें जो सत्त्वादि गुणों तथा उनके संस्कारों से नितांत स्पर्श न किया जानेवाला एक निर्विकार ब्रह्म है, उसको देखते हैं (श्रीशंकराचार्य)। (इससे आगे पृष्ठ ६३७ पर फ़ुटनोट देखो)

लिया है कि आत्मस्वरूपी परमेश्वर अकर्त्ता है और सारा खेल प्रकृति का है, और जो नित्य अपने स्वरूप के ध्यान में दृढ़ स्थित, तृप्त और मग्न रहते हैं, ऐसे परमात्म-परायण ज्ञानवान् वा ब्रह्मसंस्थ पुरुष गुणों से संपन्न ब्राह्मण तथा गौ, हाथी, कुत्ता और चांडाल इन सबको ब्रह्मदृष्टि वा अपने आत्मा की दृष्टि

"यथा गंगातोये तडागे सुरायां मूत्रे वा प्रतिबिम्बितस्यादित्यस्य न तद्गुणदोषसम्बन्धस्तथा ब्रह्मणोऽपि चिदाभासद्वारा प्रतिबिम्बितस्य नोपाधिगतगुणदोषसम्बन्धः ।"=जैसे गंगाजल, तालाब, मदिरा और मूत्र में प्रतिबिंबित जो सूर्य है, उसका इन वस्तुओं के गुण-दोषों से कोई संबंध नहीं होता ; इसी प्रकार ब्रह्म भी जो चिदाभास के द्वारा प्रतिबिंब को प्राप्त हुआ है, उसका उपाधि के गुण-दोषों से कोई संबंध नहीं होता, इस भाव से जो ब्रह्म को सबमें सम देखते हैं (श्रीमधुसूदनस्वामी) ।

प्रकाशतः ब्राह्मण, गौ आदि से आत्मा अत्यंत विषम (uneven, dissimilar, असम) प्रतीत होता है, पर आत्मवेत्ता पंडित लोग ज्ञानस्वरूप से सर्वत्र समदर्शी होते हैं । वे देखते हैं कि यह विषमता प्रकृति की है, आत्मा की नहीं । आत्मा तो सर्वत्र ज्ञानस्वरूप सम (एक समान) है (श्रीरामानुज) ।

उत्तम, मध्यम, अधमरूप जितने भी सात्त्विक, राजस, तामस प्राणी हैं, इन सब ऊँच-नीच प्राणियों में वे ज्ञानवान् पुरुष समदर्शी ही होते हैं, अर्थात् सात्त्विकादिक गुणों से वा गुणजन्य संस्कारों से स्पर्श न किया हुआ जो परब्रह्म है उस परब्रह्म का नाम सम है, उसको ही विद्वान् सर्वत्र देखते हैं । यह वार्ता अन्य शास्त्र में भी कथन करी है—"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम् । आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥" अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप यह पाँच अंश ही सर्वत्र व्यापक हैं ; उनमें आद्य के तीन अंश तो ब्रह्मरूप हैं, और अंत के दो अंश जगत् रूप हैं, इति । इस प्रकार विद्वान् पुरुष सर्वत्र अस्ति-भाति-प्रिय रूप ब्रह्म को ही देखते हैं (श्रीचिद्घनानंद) ।

से एक समान देखते हैं, और क्षुद्र भेददृष्टि उनमें नहीं रखते। अथवा वे ऐसे उदारचित्त हुए होते हैं कि विद्याविनय-संपन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता, चांडाल अपितु प्राणिमात्र का एक समान कल्याण चाहते हैं, परमात्मा की सारी प्रजा को एक दृष्टि से देखते हैं। उनमें घृणा किसी के लिए नहीं रहती ॥ १८ ॥

संबंध—(१) उक्त समदर्शी पुरुषों का माहात्म्य और स्थिति भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) उक्त समदर्शी पुरुष इस रीति से तो पाप के भागी होंगे, क्योंकि धर्मशास्त्र में कहा है कि—"तस्यान्नमभोज्यं भवति समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः इति"। "पूजयिता प्रतिपत्तिविशेषमकुर्वन्धर्माद्धनाच्च हीयते इति"।=जो पुरुष वेद जाननेवाले ब्राह्मणों में एक की अधिक और दूसरे की न्यून (कम) पूजा करता है, उसके घर का अन्न न खाना चाहिए, क्योंकि सम पुरुषों की ऐसी असम पूजा से दोष प्राप्त होता है। और जो पूजा करनेवाला, विना इस बात के विचारे कि यह उत्तम है या अधम, किसी की पूजा करता है, तो उसका धर्म और धन दोनों नाश हो जाते हैं (गौतमस्मृति)। ऐसे समदर्शी पुरुष भी पाप को प्राप्त होने चाहिए, न कि मुक्ति को। इस भ्रम के निवारणार्थ भगवान् अब ऐसे कहते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

इह^{1}, एव^{2}, तैः^{3}, जितः^{5}, सर्गः^{4}	इस^{1} जन्म में ही^{2} उससे^{3} संसार^{4} जीता^{5} गया है	निर्दोषं^{3}, हि^{1}, समं^{4}, ब्रह्म^{2}	क्योंकि^{1} ब्रह्म^{2} निर्दोष^{3} और सम^{4} है
येषां^{1}, साम्ये^{3}, स्थितं^{4}, मनः^{2}	जिनका^{1} मन^{2} समता^{3} में स्थित^{4} है	तस्मात्^{1}, ब्रह्मणि^{2}, ते^{3}, स्थिताः^{4}	इसलिए^{1} ब्रह्म^{2} में वे^{3} स्थित^{4} हैं

अन्वयार्थ—जिनका मन समता में स्थित है, उनसे इसी जन्म में ही संसार जीता गया है। क्योंकि ब्रह्म (स्वयं) निर्दोष * और सम है, इसलिए वे (समदर्शी) ब्रह्म में स्थित हैं ॥ १९ ॥

पहली व्याख्या--हे अर्जुन ! उक्त समता की दृष्टि में जिनका मन दृढ़ स्थित है, अर्थात् जो मन से सबमें समता भाव रखते हैं, उन्होंने इस जन्म में अर्थात् यहाँ जीते जी ही परस्पर विषम भाववाले संसार (मृत्युलोक) को जीत लिया होता है; अर्थात् संसार की विषम दृष्टि से ऊपर वे वर्तने लग जाते हैं। क्योंकि दोषों से रहित और एक समान अवस्था का नाम ब्रह्म है, इसलिए जो पुरुष मन करके समता में स्थित हैं, वे निःसंदेह ब्रह्मभाव में ही स्थित हैं, और इसलिए वे किसी भी कर्म से दोषी वा बंधायमान नहीं होने पाते, किंतु मोक्ष को ही प्राप्त होते हैं॥१९॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! परस्पर विषम भाववाले पदार्थों में जो ब्रह्म अस्ति, भाति, प्रियरूप करके एक समान वर्त रहा है, उस 'समभावरूप ब्रह्म' में या ब्रह्म के समभाव में जिन विद्वानों का शुद्ध मन निश्चल हुआ है, वे जीते जी ही इस संसार को तर गये होते हैं। क्योंकि ब्रह्म जन्म-मरणादि सब विकारों से रहित होने से निर्दोष और कूटस्थ, नित्य एकरस, तथा अद्वितीय रूप होने से सर्वत्र सम है; इसलिए जो विद्वान् समता में स्थित हैं,

---

* दोषवाले चांडालादि में आत्मा को उनके दोषों से दोषवाला केवल मूढ़ पुरुष समझते हैं, पर वह उन दोषों से रहित सबमें सम (एक) है (श्रीशंकराचार्य) । ब्रह्म अर्थात् आत्मा, प्रकृति के संसर्ग दोषों से पृथक् हुआ सबमें सम (एक समान) है; जब आत्मा की समता में वह स्थित है, तो ब्रह्म में स्थित है ; और ब्रह्म में स्थिति ही संसार का जय है। (श्रीरामानुज)

वे निःसंदेह ब्रह्म में ही अभेद रूप से स्थित हैं; और इसी कारण उन्हें कोई कर्म नहीं बांधता, बल्कि सब कर्मों के फल से निर्लिप्त हुए वे सीधा मोक्ष को ही प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि "असङ्गो ह्ययं पुरुषः इति। असङ्गो नहि सज्जते इति। सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः इति।"=यह आत्मा असंग है। और असंग होने से किसी भी पदार्थ से बंधायमान वा लिपायमान नहीं होता। जैसे सब प्रपंच का नेत्ररूप सूर्य बाह्य चक्षुओं के दोषों से लिपायमान नहीं होता, वैसे सब पदार्थों का अंतरात्मारूप एक अद्वितीय ब्रह्म भी लोगों (देहादि) के दुःखरूप धर्मों से लिपायमान नहीं होता। और काम-क्रोधादि भी अंतःकरण के धर्म हैं, आत्मा के नहीं (कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा इति श्रुति), जिससे दुष्ट उपाधियों वा अंतःकरण के धर्मों से आत्मा दुष्टता वा काम-क्रोधादि धर्मों (दोषों) को प्राप्त नहीं होता, बल्कि "साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च" इस श्रुति के अनुसार वह आत्मा साक्षी और केवल निर्गुण ही रहता है। इसलिए जो पुरुष इस समरूप आत्मा में मन से स्थित होते हैं, वे भी बाह्य पदार्थों के दोषों या अंतःकरण के धर्मों से दूषित वा लिपायमान नहीं होते हैं। पस, यह उक्त स्मृति-वचन इन समदर्शी पुरुषों के विषय में नहीं, किंतु अज्ञानी और असमदर्शी पुरुष के लिए कहा गया है ॥ १९ ॥*

---

* आर्यसमाजी पं० राजाराम इस श्लोक पर अपने ढंग की ऐसे व्याख्या करते हैं—"जो सारे संसार के भले में है, उसने सारे संसार को जीत लिया है "यथाह्वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवꣳ हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति।"=जैसे कोई अपने लोक के लिए भला चाहे, इस प्रकार इस (रहस्य) के जाननेवाले के लिए सारे भूत भला चाहते हैं

संबंध—(१.) इस निर्दोष और सम ब्रह्म में स्थित हुए समदर्शी पुरुष के लक्षण भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) इसी समता को दृढ़ करने के लिए भगवान् अब फिर समत्वबुद्धि वाले का लक्षण वर्णन करते हैं—

अथवा (३) जिस प्रकार वर्तते हुए तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी को समदर्शिता प्राप्त होती है, उसे भगवान् अब कथन करते हैं—

अथवा (४) उक्त तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी को समदर्शिता प्राप्त होने के पश्चात् अपना जीवन कैसे व्यतीत करना होता है, उसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

न[4], प्रहृष्येत्[3], प्रियं[1], प्राप्य[2]	प्यारी[1] (वस्तु) को पाकर[2] प्रसन्न[3] नहीं[4] होता (अथवा न[5] हो जाय)	स्थिर[1]-बुद्धिः[2], असंमूढः[3], ब्रह्म[4]-वित्, ब्रह्मणि[5], स्थितः[6]	स्थिर[1] बुद्धि[2], भूल[3]रहित (या अज्ञान से शून्य), ब्रह्म[4]वेत्ता ब्रह्म[5] में स्थित[6] है
न[5], उद्विजेत्[4], प्राप्य[3], च[1], अप्रियं[2]	और[1] अप्रिय[2] (वस्तु) को पाकर[3] दुःखी[4] नहीं[5] होता (अथवा न[5] होवे)		

पहला अन्वयार्थ—स्थिर-बुद्धि, भूल से रहित, ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्म में स्थित पुरुष प्रिय (वस्तु) को पाकर प्रसन्न नहीं होता और अप्रिय को पाकर दुःखी (विषादी वा खिन्न) नहीं होता है ॥ २० ॥

(बृह० १, ४, १६)। ऐसे पुरुष संसार (दुनिया) में रहते हुए भी ब्रह्म में रहते हैं, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष है और सम है । सदोष होना और विषम होना संसार का रूप है, निर्दोष होना और सम होना ब्रह्म का ।"

दूसरा अन्वयार्थ—जो प्रिय (इष्ट वस्तु) को पाकर प्रसन्न न हो, और अप्रिय (अनिष्ट वस्तु) को पाकर दुःखी न हो, (ऐसा) स्थिर-बुद्धि और मोह से शून्य ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में स्थित है, (ऐसा समझो) ॥ २० ॥

तीसरा अन्वयार्थ—(पस, समता से युक्त कर्मयोगी पुरुष) प्रिय को पाकर प्रसन्न न हो, और अप्रिय को पाकर खेदित न हो, (बल्कि सदैव) स्थिर-बुद्धिवाला, अज्ञान से शून्य, ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्म में स्थित हो ॥ २० ॥

पहले अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! जैसा ऊपर कहा उस प्रकार जिसकी बुद्धि (अपने आत्मतत्त्व के निश्चय या समता में) दृढ़ स्थिर है, अर्थात् ठहरी हुई है, डाँवाडोल नहीं है ; जो मोह (भूल वा अज्ञान या भ्रम) से रहित है, अर्थात् जो अपने आपको भूला हुआ नहीं किंतु आत्मवेत्ता है ; और इस प्रकार जो ब्रह्मवेत्ता है और ब्रह्म में स्थित है, अर्थात् ऐसे जो ब्रह्म के जाननेवाला और चित्त-वृत्ति से निर्दोष और समरूप ब्रह्म के ध्यान (वा ब्रह्मभाव) में स्थित है, उसका यह लक्षण है कि वह प्रिय (इष्ट) वस्तु को पाकर फूलता नहीं और अप्रिय (निकम्मी वा अनिष्ट) वस्तु को पाकर उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् रंज, दुःख, खेद वा खिन्नता को प्राप्त नहीं होता किंतु प्रत्येक अवस्था में एकरस रहता है ॥ २० ॥

दूसरे अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! जो विद्वान् कर्मयोगी प्रिय (सुखदायक वा रुचिकर) वस्तु को पाकर फूले नहीं, और अप्रिय (दुःखदायक वा अरुचिकर) को पाकर खिन्न न हो अर्थात् खेद को न प्राप्त हो, किंतु इन दोनों के प्राप्त होने पर सर्वदा एकरस ही रहे ; ऐसा एकरस (समता में) स्थिर रहनेवाला

पुरुष स्थिर-बुद्धि (परिपक्क निश्चयवाला), अज्ञान से शून्य व ब्रह्मवेत्ता है, और निर्दोष वा सम ब्रह्म में स्थित है, ऐसा समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि पूर्व जो अध्याय २ के श्लोक ५६ में कहा है (दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥=दुःखों में न घबराये हुए मनवाला और सुखों में दूर हुई इच्छावाला, और राग, भय तथा क्रोध से रहित मुनि स्थिर-बुद्धि कहलाता है), इस प्रकार जो पुरुष आत्मानात्मा के विवेक के कारण दुःख-सुखदायक वस्तुओं के पाने पर अथवा दुःख-सुखरूप द्वंद्व के प्राप्त होने पर किंचित् चलायमान नहीं होता किंतु एकरस रहता है, वही वास्तव में स्थिर-बुद्धि है, वही अज्ञान वा अज्ञानजन्य भ्रम से शून्य है, और अज्ञान से शून्य होने के कारण वही आत्मवेत्ता अर्थात् ब्रह्मवित् है, और ब्रह्म क्योंकि सम और निर्दोष अवस्था का नाम है, इसलिए वह (सर्वदा एकरस रहनेवाला उक्त स्थिर-बुद्धि पुरुष) नित्य ब्रह्म में ही स्थित है। ऐसा तू निश्चय कर ॥ २० ॥*

तीसरे अर्थ की व्याख्या—पस, हे अर्जुन! जो पुरुष ब्रह्म के परोऽक्षज्ञान से तो संपन्न हो और कर्मयोग में भी युक्त रहता हो,

---

* किसी व्याख्याता ने इस श्लोक के पहले अर्थ किये हैं और किसी ने दूसरे। केवल श्रीरामानुज आदि एक-दो ने ही तीसरे अर्थ किये हैं। हमारे विचार में पहले दोनों अर्थ अपने-अपने स्थान पर युक्त और उत्तम बैठते हैं, तीसरे अर्थ तो खैंचातानी का परिणाम दीखते हैं, और पूर्वापर के संबंध से ऐसे ठीक नहीं बैठते जैसे कि पहले दो। परंतु व्याकरण के बल से तीसरे अर्थ भी निकल सकते हैं, और किसी अंश में उक्त दोनों के सहकारी भी हो सकते हैं, इसलिए तीसरा अर्थ भी सहित व्याख्या के हमने दे दिया है।

परंतु अभी तक समदर्शिता को प्राप्त न हुआ हो (या किसी समय अकस्मात् समदर्शिता को प्राप्त हो भी गया हो, तो भी), ऐसे तत्त्ववित् कर्मयोगी को चाहिए कि वह प्यारी वस्तु को पाकर फूले नहीं और अप्रिय वस्तु को पाकर झिझके नहीं, अर्थात् उद्वेग को प्राप्त न हो, बल्कि इन दोनों के पाने पर वह एकरस रहे, नित्य निश्चल बुद्धि हो अर्थात् नित्य आत्मतत्त्व के निश्चय में अपनी बुद्धि दृढ़ स्थिर रखे, भूल वा अज्ञान को प्राप्त न होता हुआ निर्दोष और समरूप ब्रह्म में नित्य स्थित रहे, और एवं ब्रह्मवित् हो ॥ २० ॥ *

संबंध—(१) केवल बाह्य विषयों में निरासक्त पुरुष और ब्रह्मध्यान में युक्त पुरुष, इन दोनों के सुख का परस्पर भेद भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) तत्त्ववित् कर्मयोगी ब्रह्मानंदरूप अक्षय सुख को भोगने के कब समर्थ होता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

बाह्य^{1}-स्पर्शेषु^{2}, अ^{3}-सक्त^{4}-आत्मा^{5}	बाह्य^{1} विषयों^{2} में न^{3} फँसे^{4} हुए आत्मा^{5} (मन वा चित्त) वाला
विन्दति^{4}, आत्मनि^{1}, यत्^{2}, सुखं^{3}	आत्मा^{1} (अपने) में जो^{2} (जब) सुख^{3} पाता^{4} है
सः^{1}, ब्रह्म^{2}-योग^{3}-युक्त^{4}-आत्मा^{5}	वह^{1} ब्रह्म^{2}-योग^{3} में युक्त^{4} आत्मा^{5} (चित्त वा मन) वाला
सुखं^{2}, अक्षय्यं^{1}, अश्नुते^{3}	नाश^{1} न होनेवाले सुख^{2} को भोगता^{3} है

---

* इस पर श्रीज्ञानदेव विचित्र रूप से ऐसे व्याख्या करते हैं—“मृगजल की बाढ़ से जैसे पर्वत नहीं डिगते, वैसे ही भला या बुरा प्रसंग आ पड़ने

पहला अन्वयार्थ—बाह्य विषयों में निरासक्त मनवाला पुरुष जब अपने में सुख पा लेता है, तब वह ब्रह्मयोग-युक्त चित्तवाला होकर अक्षय सुख को भोगता है ॥ २१ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—बाह्य विषयों में निरासक्त मनवाला पुरुष जो सुख अपने में (है) पाता है, (और) वह ब्रह्मयोग-युक्त चित्तवाला पुरुष अक्षय सुख को भोगता है ॥ २१ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! श्रोत्रादिक इंद्रियों से ग्रहण करने योग्य जो विषय हैं, वे बाह्य विषय कहलाते हैं, उनमें जिनका चित्त आसक्त नहीं है, अर्थात् चक्षुश्रोत्रादि बाह्य इंद्रियों को अपने अधीन करके उन (इंद्रियों)-के शब्द-स्पर्शादि विषयों में जो योगी लोग मोह नहीं रखते हैं (या नहीं फँसते हैं); ऐसे निरासक्त वा निष्कामात्मा पुरुष अपने विरक्त और शुद्ध चित्त में बाह्य विषयों की अपेक्षा से रहित जो उपशमरूप सुख है, उस सुख को पाते हैं, अर्थात् अपने निर्मल अंतःकरण की वृत्ति द्वारा अनुभव करते हैं। और जब इस उपशमरूप सुख का पानेवाला अपने निरासक्त और शुद्ध चित्त से ब्रह्मध्यान से युक्त होता है, तब ब्रह्मध्यान में लीन होने से, अर्थात् ब्रह्मस्वरूप अनुभव होने से वह कदापि नाश न होनेवाले सुख को भोगता है। तात्पर्य यह है कि बाह्य इंद्रियों के विषय-सुख जिन्हें कामजन्य सुख भी कहते हैं नाना प्रकार के प्रयत्न से प्राप्त होते हैं, उनकी रक्षा में राजा चोरादि का भय होता है, उनके जाते रहने से अथवा उनके वियोग से अत्यंत दुःख होता है, जिससे अंत में वे दुःख-

---

से भी जिसे विकार नहीं उत्पन्न होता, वही सच्चा, वही तत्त्वतः समदृष्टि है। श्रीकृष्ण कहते हैं, हे पांडुसुत ! वही ब्रह्म है।"

दायी होते हैं, और उनसे तृष्णा भी नहीं मिटती, बल्कि तृष्णा का मिटना तो कहाँ, उलटा वह इन विषयसुखों से दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है । इस तृष्णावाले सुख की अपेक्षा से जो तृष्णा-रहित संतोषरूपी अंतरीय सुख है, अथवा निष्काम वा निर्मल अंतःकरण में जो उपशमरूप सुख है, वह अत्युत्तम है। महाभारत में भी ऐसे आया है "यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्य महत्सुखम् । तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥"=इस लोक में जो काम-जन्य सुख हैं, तथा स्वर्गादि लोकों में महान् दिव्य सुख हैं, वे सबके सब तृष्णा की निवृत्ति-जन्य सुख के सोलहवें भाग के तुल्य भी नहीं होते हैं । इस प्रकार जो पुरुष विषय-सुख की तृष्णा से रहित होकर उनसे निरासक्त होते हैं, वे अपने अंदर उपशमरूप सुख को (जो विषय-सुख से कई गुणा अधिक और उत्तम होता है) पाते हैं । और जब इस उपशमरूप सुख के पाने से उनकी वृत्ति अत्यंत निर्मल और शांत होकर ब्रह्मध्यान में युक्त हुई लीन हो जाती है, या उनका अंतःकरण ब्रह्माकार वृत्ति से समाहित स्थिर होता है, तब वे निजानंदरूप नित्य सुख को भोगने लग जाते हैं, और यही जीवन्मुक्ति का आनंद है ॥ २१ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! सुख दो प्रकार का होता है—(१) एक बिंबरूप सुख, अर्थात् आत्मिक वा पारमार्थिक, (२) दूसरा प्रतिबिंबरूप सुख, अर्थात् लौकिक वा मानसिक। जब किसी उपाय तथा यत्न से मन शांत और एकाग्र होता है, अर्थात् अंतःकरण क्षोभ और चंचलता से रहित होता है, तब अंतःकरण में बिंबरूप आत्मा (जो आनंदस्वरूप है) का स्पष्ट रूप से प्रतिबिंब पड़ता है, जिससे आनंद भान होता है । क्योंकि यह आनंद प्रतिबिंबरूप तथा शांत मन के कारण से प्रकट होता है, इसलिए

परिच्छिन्न और नाशवान् होता है, और लौकिक वा मानसिक आनंद कहलाता है। और जब अपने आत्मस्वरूप के ध्यान में अत्यंत युक्त वा लवलीन होने से चित्तवृत्ति ऐसी निरोधावस्था को प्राप्त होती है कि अपना वृत्तिभाव छोड़ देती है (अथवा देहासक्ति से रहित होकर अपने अधिष्ठानस्वरूप आत्मा से तद्रूप अर्थात् अभिन्न होती है), तब आत्मसाक्षात्कार होता है, और बिंबरूप आत्मा अपने आनंद को आप भोगता वा अनुभव करता है। क्योंकि यह आनंद बिंबरूप होता है, और मन में नहीं किंतु अपने स्वरूप में ही भान होता है, इसलिए अपरिच्छिन्न और नाशरहित होता है, और ब्रह्मानंद वा निजानंद वा बिंबरूप आनंद अथवा आत्मिक वा पारमार्थिक आनंद कहलाता है। यद्यपि दोनों प्रकार के आनंद (सुख) अपने भीतर अपने आत्मा से ही प्रकट होते हैं, परंतु एक अपने स्वरूप से अलग प्रतिबिंबरूप से शांत अंतःकरण में प्रकट होता है, और दूसरा अपने शुद्धस्वरूप में ही बिंबरूप से अनुभव होता है। प्रतिबिंबरूप आनंद तो विषयभोगों में न फँसने से, अथवा विषयभोग से भी, अंतःकरण की क्षोभरहित दशा के प्राप्त होने पर प्रकट होता है (यद्यपि विषयभोग से चित्त ऐसा क्षोभरहित नहीं होता जैसा कि विषय के त्याग से अर्थात् विषय की तृष्णा से रहित होने से होता है, जिससे तृष्णा की निवृत्ति-जन्य सुख इन काम-जन्य सुखों वा स्वर्गादि के दिव्य भोग-जन्य सुखों से कई गुणा अधिक और उत्तम होता है), परंतु बिंबरूप आनंद (निजानंद) विना निजस्वरूप के ध्यान में लवलीन होने के अर्थात् विना आत्मसाक्षात्कार के कदापि अनुभव नहीं होता। और यह भी स्पष्ट है कि पहले दीर्घ काल तक विषयभोगों में न फँसने से जब अंतःकरण शुद्ध, शांत और निर्मल हो जाता है

और इस कारण वह निरासक्त पुरुष दीर्घ काल तक उपशमरूप अंतरीय सुख को पाता है, तब इस (तृष्णा की निवृत्तिजन्य अर्थात् उपशमरूप वा प्रतिबिंबरूप) सुख से उसमें परमानंद के भोगने की लटक उत्पन्न होती है, और फिर उस (निरासक्त पुरुष) की शुद्ध और शांतवृत्ति शीघ्र अपने परम स्वरूप के ध्यान से युक्त होती तद्रूप अर्थात् उसमें लवलीन हो जाती है। इसलिए हे अर्जुन! जो (उपशमरूप) सुख (तृष्णा के निवृत्त होने पर) अपने में अर्थात् अंतःकरण में प्रकट हो आता है, उसे केवल बाहर के विषयों में न फँसनेवाला पुरुष लाभ करता है; और जो अक्षय अर्थात् नाशरहित सुख ब्रह्मध्यान में लवलीन होने से अनुभव होता है, उसे वह ब्रह्मयोगयुक्तात्मा पुरुष, अर्थात् "ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः"=ऐसा जो ब्रह्मध्यान से ब्रह्मस्वरूप हुआ पुरुष है वह, अपने निज स्वरूप में भोगताहै। इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वैराग्य से तृष्णा की निवृत्ति द्वारा शांत अंतःकरण में ज़ब उपशमरूप सुख का लाभ हो तो इतने पर अपने को कृतकृत्य समझकर वह बस न कर दे बल्कि जब तक शांत चित्त से ब्रह्मध्यान में लवलीन होकर ब्रह्मसाक्षात्कार न कर ले, तब तक ब्रह्माभ्यास न छोड़े ॥ २१ ॥ *

---

* इस श्लोक से दोनों ही तात्पर्य सिद्ध होते हैं। प्रथम यह—"जिस सुख को विषयों में न फँसनेवाला पुरुष अपने निर्मल और क्षोभरहित अंतःकरण में पाता है, वह यद्यपि अपने भीतर आत्मा से ही प्रकट होता है, परंतु प्रतिबिंबरूप होने से परिच्छिन्न और नाशवान् होता है; और जिस सुख को ब्रह्मवेत्ता अपने ब्रह्मध्यान में पूर्ण युक्त वा लीन होने से भोगता है, वह बिंबरूप वा पारमार्थिक होने से अपरिच्छिन्न और नाशरहित होता है"। और दूसरा यह कि—"जब पुरुष विषयों में न फँसने से अपने निर्मल और शांत अंतःकरण में सुखलाभ करने लग जाता है,

संबंध--(१) जब प्रतिबिंबरूप सुख विषयभोग वा विषयत्याग दोनों रीति से प्राप्त हो सकता है, तो फिर विषयभोग अर्थात् विषयों में फँसने से ही उसे क्यों न लाभ किया जाय ? विषयत्याग अर्थात् विषयों से निरासक्त होने से क्यों ? इसका कारण भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) जब विषयभोगों द्वारा सुख जो मिलता है, वह भी आत्मानंद से ही प्रकट होता है, और कहीं से नहीं; तो फिर इसी की ही प्राप्ति पर क्यों न संतोष किया जाय ? बिंबरूप सुख की अधिक आवश्यकता फिर क्या है ? इसका उत्तर भगवान् अब स्पष्ट रूप से कहते हैं—

तब चित्तवृत्ति अपने परमस्वरूप के ध्यान में भी ठीक युक्त होने लग जाती है, जिसके पूर्ण युक्त वा लवलीन होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है, और इसी से वह नाश न होनेवाले (बिंबरूप) सुख को भोगता है"। और यह स्पष्ट है कि जो वस्तु अपने संग तो न हो, पर किसी यत्न से किंचित् काल के लिए किसी दूसरे से प्राप्त हो गई हो, तो वह वस्तु लाभ की गई या यत्न से प्राप्त की गई कहलाती है। और जो वस्तु अपने साथ नित्य अपना अंगरूप तो हो, पर किसी कारण दिखाई न देती हो, केवल दूसरे के सुझाने पर वह प्रकट हुई भान हो रही हो, तो वह वस्तु अनुभव की गई अथवा भोगी गई कहलाती है, लाभ की गई नहीं। इसलिए पहले प्रतिबिंबरूप सुख के लिए "विन्दति" शब्द आया है, और दूसरे (बिंबरूप) सुख के लिए "अश्नुते" शब्द आया है।

इसी श्लोक की व्याख्या श्रीज्ञानदेव अपने अनोखे ढंग से ऐसे करते हैं—

"जिसे आत्मस्वरूप छोड़कर इंद्रियसमूह की ओर लौटना नहीं है, सो विषयों का उपभोग नहीं लेता, इसमें क्या आश्चर्य है ? उसका अंतःकरण सहज और अमर्याद आत्मसुख के आनंद से भरा हुआ रहता है, इसलिए वह बाहर की ओर पाँव नहीं डालता। कहो, चंद्रविकासी कमल की थाली में शुद्ध चंद्रकिरणों का जिसने भोजन किया है, सो चकोर क्या

अथवा (३) जब यह सिद्ध हुआ कि जब तक विषयसुख नहीं छूटता तब तक अक्षय सुख नहीं मिलता, और इससे पहले यह भी कहा जा चुका है कि विना इस अक्षय सुख (परमस्वरूप) के अनुभव के विषय-वासना वा तृष्णा निवृत्त नहीं होती; तो इस रीति से इन दोनों (नित्य सुख का अनुभव और विषय की निवृत्ति) की अन्योन्य आश्रयता सिद्ध होती है, अर्थात् परस्पर एक दूसरे पर इनकी अपनी-अपनी स्थिति दीखती है। ऐसी दशा में विषयसुख पहले कैसे छोड़ा जा सकता? अथवा विचारवान् लोगों ने इस अक्षय सुख के अनुभव से पहले विषयसुख को कैसे त्यागा? इस उपाय को भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (४) अब भगवान् बाह्य विषयसुख के मंद परिणाम को दर्शाकर अंतर्सुख की उत्तमता को स्पष्ट करते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

ये, हि, संस्पर्श-जाः, भोगाः	क्योंकि विषय-संबंध से उत्पन्न होनेवाले जो भोग हैं	आदि-अन्त-वन्तः, कौन्तेय	हे अर्जुन ! आदि-अंतवाले हैं
दुःख-योनयः, एव, ते	वे दुःखोंकी योनियाँ (खानें) ही हैं	न, तेषु, रमते, बुधः	बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता

रेत के कण खावेगा? वैसे ही जिसे आत्मसुख उत्पन्न हुआ है, जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है, उससे विषय सहज ही छूट जाते हैं, इसमें क्या कहना है? यों भी तनिक ठीक विचार कर देखो, तो इन विषयों के सुख में कौन फँसता है?"

अन्वयार्थ—विषय-संबंध से उत्पन्न होनेवाले जो भोग (सुख) हैं, वे क्योंकि दुःखों की योनियाँ (खानें) हैं और आदि-अंतवाले हैं, (इसलिए) हे अर्जुन ! बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता है ॥२२॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! शब्दादि विषयों के साथ जो श्रोत्रादि इंद्रियों का संबंध है उसका नाम संस्पर्श है, इस संस्पर्श से उत्पन्न होनेवाले जो भी भोग (विषय-सुख) हैं, वे सब इस लोक वा परलोक में रागद्वेष से व्याप्त होने के कारण दुःखों की ही खानें वा हेतु हैं। अर्थात् जैसे विषवृक्ष की लता देखने में तो बड़ी सुंदर कोमल और सुकुमार प्रतीत होती है, पर सूँघते ही प्राण हर लेती है; वैसे ये विषयभोग यद्यपि बड़े सुंदर, प्रिय और सुखरूप प्रतीत होते हैं, परंतु वास्तव में (भीतर से) ये दुःखरूप ही सिद्ध होते हैं। और देखने में भी आता है कि विषयी पुरुष की आध्यात्मिकादि तीनों प्रकार के दुःखों से निवृत्ति होने नहीं पाती। कभी दैवयोग से किसी एक दुःख की किंचित् काल के लिए निवृत्ति हो भी जाय तो उस समय भी अन्य कोई न कोई दुःख बना ही रहता है, ऐसा ही हाल स्वर्गादि भोगों का भी है, अतएव ये विषय-सुख दुःखों की योनियाँ ही हैं। इसी भाव को विष्णुपुराण का यह श्लोक भी प्रकट करता है—"यावन्तः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्। तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥"=यह जीव (मनुष्य) जितने मन के प्रिय संबंधों को करता है, उतने ही शोकरूपी शंकु (तीर इत्यादि) उसके हृदय में छिद्र करते हैं। फिर ये विषय-सुख केवल दुःख के ही हेतु नहीं हैं किंतु आदि-अंतवाले, अर्थात् नाशवान् वा अनित्य भी हैं, क्योंकि विषय और इंद्रियों का परस्पर संयोग ही विषय-सुख का आदि है, और इस संयोग का वियोग ही विषय-भोग का अंत है। और

जो पहले न हो और अंत में भी न हो, केवल मध्यक्षण में ही प्रतीत होता हो, वह मिथ्या होता है, इसलिए ये विषय-सुख जो विषय इंद्रियों के संयोग से पूर्व नहीं थे, और उनके वियोग के पश्चात् भी नहीं होते, केवल मध्य-मध्य में ही भान होते हैं, वे सबके सब वास्तव में मिथ्या होते हैं। इसी भाव को श्रीगौडपादाचार्य ने ऐसे दर्शाया है —"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा"=जो पदार्थ आदि काल में और अंत काल में न हो, वह वर्त्तमान काल में भी वास्तव में नहीं होता है। और इसी भाव को पूर्व अध्याय २ के श्लोक २८ में भी "अव्यक्तादीनि भूतानि इत्यादि" से स्पष्ट दर्शाया गया है। और इसी संबंध में पूर्व अध्याय २ श्लोक १४ में अर्जुन को ऐसे उपदेश दिया जा चुका है कि—"ये मात्राओं के स्पर्श (इंद्रियभोग) शीतोष्ण और सुख-दुःख के देनेवाले, अनित्य और आने-जानेवाले हैं। हे अर्जुन! तू इनको सहन कर, इनके वश में मत आ"। इन विषय-भोगों को इस प्रकार आदि-अंतवाले और दुःखों के हेतु जानते हुए बुद्धिमान् पुरुष इन विषय-भोगों में प्रीति नहीं रखते, और न विषयों द्वारा सुख पाने का यत्न ही करते हैं, बल्कि इनमें दोषदृष्टि रखकर इन्हें त्यागते रहते हैं, और विषय-प्रीति वा तृष्णा से रहित हुए निजानंद के भोगने की ओर तीव्र जिज्ञासा से प्रवृत्त रहते हैं, जिस प्रवृत्ति से परमानंद के साक्षात्कार होते ही उनकी विषय-वासना नित्य के लिए नितांत निवृत्त हो जाती है॥ २२॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन! श्रोत्रादि इंद्रियों का अपने शब्दादि विषयों से जो संयोगरूप संस्पर्श है, उस संस्पर्श से जो किञ्चित् काल के लिए चित्त एकाग्र और शांत होता है और उसमें फिर प्रतिबिंबरूप सुख भान होता है, उस विषय-सुख का अंतिम परिणाम दुःख और क्षणभंगुरता ही है। जैसे स्त्रीगमन से या मादक द्रव्यों

के पान से अथवा पुत्र की प्राप्ति पर जब चित्त क्षण भर के लिए एकाग्र और क्षोभरहित हो जाता है, तो उस समय अंतःकरण में यद्यपि आनंदस्वरूप आत्मा का प्रतिबिंब अवश्य झलक मारता है जिससे आनंद भान होता है; परंतु भोग के समाप्त होने पर, या मद (नशे) के उतरने पर, अथवा पुत्र के मरने वा दुराचारी निकलने पर मन तो दुर्बल, शोकातुर, दुःखी और अशांत हो जाता है, और शरीर अशक्त और शिथिल पड़ जाता है। बहुत समयों पर तो पुरुष पहले से भी अधिक अधोगति को प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य हानि यह होती है कि मन इन विषयों का अनुचर (दास) हो जाता है जिससे इन विषयों के पुनः न मिलने पर वह अत्यंत क्षुभित, दुःखी और शोकातुर रहता है, जिस कारण जीवन व्यर्थ व भारी हो जाता है । इस प्रकार विषय-भोगों से सुख पाने में प्रथम भी दुःख होता है, और अंत में भी । परंतु जब विषयभोगों द्वारा नहीं किंतु विषयों की तृष्णा की निवृत्ति से मन शांत और निर्मल होता है, तो उस समय भी यद्यपि अंतःकरण में अपने आनंदस्वरूप आत्मा का प्रतिबिंब पड़ता है जिससे सुख भान होता है, तथापि इस (विषय-तृष्णा की निवृत्ति द्वारा) सुख से हानि और दुःख नहीं होते। हानि और दुःख तो कहाँ, उलटा यह लाभ होता है कि प्रथम तो मन विषयों में फँसने नहीं पाता बल्कि निरासक्त हुआ शांत और निर्मल रहता है, दूसरे अंतःकरण की शांति और निर्मलता के कारण चित्तवृत्ति अपने परमस्वरूप के ध्यान में ऐसी एकाग्र वा आरूढ़ होने लग जाती है कि शीघ्र निरोधावस्था को प्राप्त होकर ब्रह्माकार वा ब्रह्मसमुद्र में लीन हो जाती है, जिस पर मनुष्य फिर परमानंद भोगता है । इसलिए अपने अनुभव से अनुभवी पुरुषों ने यह सिद्धांत निकाला हुआ है कि इंद्रियों के स्पर्श अर्थात

इंद्रियों और विषयों के संयोग से जो सुख मिलते हैं, वे यद्यपि आनंदस्वरूप निजात्मा के आनंद की ही झलक हैं परंतु निःसंदेह दुःखों की खानियाँ हैं, अर्थात् दुःखों के हेतु या दुःखरूप योनियों में डालनेवाले और नित्य हानिकारक हैं और सदा आदि-अंत (उत्पत्ति वा नाश) वाले हैं। इसी कारण हे कुंतीपुत्र (अर्जुन)! बुद्धिमान् पुरुष इन विषय-भोगों में रमण नहीं करते। अर्थात् वे न इनमें प्रीति रखते हैं, और न इनके पाने का यत्न ही करते हैं; बल्कि इनमें दोषदृष्टि रखते हुए इनकी तृष्णा को छोड़ते हैं। और यत्न से तृष्णारहित होकर प्रथम वे चित्त को क्षोभरहित और शांत करते हैं, फिर उस शांति से उपशमरूप सुख को पाकर उसी प्रतिबिंबरूप सुख से बिंबरूप सुख के पाने की जिज्ञासा वा लटक उत्पन्न कर लेते हैं, जिस लटक से प्रेरित होकर उनकी निरासक्त, निर्मल और शांत चित्तवृत्ति परमस्वरूप के ध्यान में पूर्ण युक्त होने लग जाती है, और उसी से आत्मसाक्षात्कार करते हुए वे मनुष्य फिर परमानंद को भोगने लग जाते हैं. जिस परमस्वरूप के अनुभव पर कामनाओं वा विषय-तृष्णाओं का मलियामेट हो जाता है, और इस परमानंद के आगे फिर सब विषय-सुख वा विषय-रस फीके पड़ जाते हैं ॥ २२ ॥*

---

* इस पर श्रीज्ञानदेव की व्याख्या विचित्र रूप से सविस्तर ऐसे है—"जिन्होंने आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं किया है, वे ही इन इंद्रियों के विषयों से सुखी होते हैं। जैसे भूखे दरिद्री लोग चूनी का भी सेवन करते हैं, अथवा प्यास की पीड़ा से पीड़ित हुए मृग भ्रम से जल के स्वरूप की जल समझकर पथरीली ज़मीन पर आ पहुँचते हैं, वैसे ही जिसने आत्मस्वरूप नहीं देखा, जिसे सर्वदा आत्मसुख का दारिद्र्य बना है, उसको ये विषय ही सुंदर जान पड़ते हैं। नहीं तो विषयों में सुख है,

संबंध—(१) क्योंकि आत्मसुख ही परमपुरुषार्थ है, और काम-क्रोध का वेग ही उसका शत्रु है, इसलिए जो उस वेग के सहारने में समर्थ है, वही सुखी और ब्रह्मयोग में युक्त हो सकता है, इस सिद्धांत को भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) जब शरीर छोड़ने के अनंतर विषय-भोग अपने आप छूट जायँगे, तब यहाँ जीते जी ही उनके छोड़ने का यत्न करने से क्या

यह कथन योग्य नहीं है। ऐसा हो तो संसार में विद्युत् के प्रकाश से ही क्यों न देखा जाय? यदि हवा, वर्षा और गरमी का निवारण करने के लिए अभ्र की छाया से ही निर्वाह हो सके, तो तिमंजिले मकान क्यों बाँधे जायँ? अतएव विषयों में सुख समझना वृथा अज्ञान से जल्पना करना है। जैसे बचनाग को मधुर कहना, अथवा मंगल ग्रह को मंगल समझना, किंवा मृगजल को जल कहना, वैसे ही यह विषय संबंधी सुख का कथन वृथा है। और जाने दो, यह कहो कि सर्प के फण की छाया चूहे को कहाँ तक शीतल मालूम होगी? हे पांडव! मीन जैसे काँटे से लगे हुए मांस को जब तक मुँह नहीं लगाती, तभी तक भला है; वैसा ही सब विषयों का संग है, यह निश्चय जानो। हे किरीटी! इसे जो विरक्तों की दृष्टि से निहार कर देखो, तो यह पांडुरोग के समान दिखाई देता है। अतएव विषयभोग में जो सुख है सो संपूर्ण दुःख ही जानो। परंतु अज्ञानी क्या करें। विना भोगे उनका निर्वाह नहीं होता। वे बेचारे भीतरी मर्म नहीं जानते, इसलिए उन्हें विषय भोगना ही पड़ते हैं। कहो, क्या पीपरूपी कीचड़ के कीड़ों को कभी उसकी घीक आती है? उन दुःखियों को दुःख ही आत्मसुख है। वे विषयरूपी कीचड़ के दादुर, भोगरूपी जल के जलचर, उस कीचड़ अथवा जल को कैसे छोड़ सकते हैं? और यदि जीव विषयों के विषय विरक्तता धारण करें, तो जो दुःख-योनियाँ हैं सो निरर्थक न हो जायँगी? अथवा गर्भवास इत्यादि संकट तथा जन्म-मरण के आयास यह विना विश्रांति की बाट कौन चलेगा? यदि

लाभ ? इस (विषय-तृष्णा की निवृत्ति के) फल को भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (३) सर्व अनर्थों की प्राप्ति का हेतु रूप, श्रेयमार्ग का विरोधी और अल्पयत्न से दुर्विकार, ऐसा जो काम-क्रोध का वेग वा विषय-सुख की लटक है, वह महान् यत्न से निवृत्त किये जाने योग्य है। इस प्रकार प्रयत्न की अधिकता दर्शाने के लिए भगवान् ऐसे कहते हैं—

अथवा (४) इस निरासक्त और वशी पुरुष के विषय में भगवान् अब अपना निश्चय कथन करते हैं—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

शक्नोति^{5}, इह^{2}, एव^{3}, यः^{1}, सोढुं^{4}	जो^{1} यहाँ^{2} ही^{3} (इसी जन्म में) सहारने के^{4} समर्थ^{5} होता है	काम^{1}-क्रोध^{2}-उद्भवं^{3}, वेगं^{4}	काम^{1}-क्रोध^{2} से उत्पन्न^{3} होनेवाले वेग^{4} को
प्राक्^{3}, शरीर^{1}-विमोक्षणात्^{2}	शरीर^{1} के छूटने^{2} से पहले^{3}	सः^{1}, युक्तः^{2}, सः^{3}, सुखी^{4}, नरः^{5}	वह^{1} युक्त^{2} है और वह^{3} सुखी^{4} मनुष्य^{5} है

अन्वयार्थ—जो मनुष्य शरीर छूटने से पहले ही काम-क्रोध से

विषयासक्त पुरुष विषयों को छोड़ देंगे तो महापाप कहाँ रहेंगे और जगत् में संसार का नाम झूठा न हो जायगा ? अतएव जो मिथ्या अविद्यासमूह है सो उन्होंने सच कर दिखाया है, जिन्होंने विषयरूपी दुःख को सुख जानकर स्वीकार किया है। इसलिए हे उत्तम योद्धा ! विचार कर देखने से विषय निकृष्ट दिखाई देता है। तुम कभी इस मार्ग से भूल कर भी मत जाना। विरक्त जन इसको विष के समान जानकर त्याग देते हैं। उन आशा-रहित लोगों को विषयों में दिखाई देनेवाले दुःखों की चाह नहीं रहती।”

उत्पन्न होनेवाले वेग को सहारने के समर्थ होता है, वही युक्त और वही सुखी नर है ॥ २३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो मनुष्य-शरीर छूटने से पहले (वा मरने तक) इस काम * और क्रोध के वेग † को यहाँ जीते जी (इसी जन्म में) सहारने के समर्थ होता है; वही युक्त (सावधान चित्त, कर्मयोगी वा ब्रह्मयोगयुक्त) है, और वही सुखी नर होता है, अन्य नहीं । अर्थात् काम-क्रोध दोनों की जो उत्कट अवस्था है, वह अवस्था प्राणी को अच्छे-बुरे के विवेक से विमुख करती हुई लोक

---

* इंद्रियों के साथ जिस विषय के संयोग से सुख हुआ है, उस विषय को उसी सुख के कारण फिर पाने की अभिलाषा का नाम काम है । और इसी प्रकार जिन विषयों के संयोग से दुःख हुआ है, उनके नाश करने की इच्छा का नाम क्रोध है । पहले को राग और दूसरे को द्वेष भी कहते हैं । और चूँकि ये दोनों इच्छा ही हैं, इसलिए दोनों का नाम काम भी कहते हैं, और श्री भगवान् ने भी काम-क्रोध की रजोगुण से उत्पत्ति दर्शाकर इन दोनों को कामरूप कहा है ।

यद्यपि स्त्री-पुरुष दोनों की जो विषय-संबंधी अभिलाषा है, उसको बहुधा काम कहा जाता है, और इस अभिप्राय को ही लेकर इस वचन में कि "कामक्रोधस्तथा लोभः" स्त्री के संसर्ग की तृष्णा का नाम काम, धन की तृष्णा का नाम लोभ, इस प्रकार काम-लोभ भिन्न-भिन्न कहे गये हैं; तथापि यहाँ तो काम और लोभ दोनों में जो सामान्य तृष्णा है उसका आशय लेकर केवल काम शब्द कहा गया है । इसलिए अपने अनुकूल विषय में इच्छा का नाम काम और प्रतिकूल विषय में द्वेष का नाम क्रोध है ।

† काम का वेग अंतःकरण की उत्तेजना है । जिस समय यह वेग आता है, तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं, और नेत्र-मुखादि खिल जाते हैं । क्रोध का वेग मन की उत्तेजना है ; इस वेग के आने से अंग काँपते हैं,

वा वेद के विरुद्ध अथवा अनुचित अर्थों में प्रवृत्ति करा देती है, इसलिए वह अवस्था नदी के वेग के समान कही गई है। जैसे वर्षाकाल में नदी का वेग अत्यंत बढ़ जाने से (जो भी प्राणी उस वेग में पड़ जाता है उस) प्राणी को चक्कर में डालकर कभी ऊपर कभी नीचे घुमाता है, वैसे काम-क्रोध का वेग भी विषयों के चिंतनरूपी वर्षाकाल से अत्यंत प्रबल होकर अनुचित और निरिच्छित (न चाहते हुए) विषयों में फँसाता, आवागमन के चक्कर में घुमाता और संसार-समुद्र में गोते लगवाता है। इसी आशय को पहले इस प्रश्न –"अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति पूरुषः" के उत्तर में स्पष्ट वर्णन कर दिया गया है। और यह वेग अवश्य ऐसे नहीं कि एक बार जीता जाने से फिर न उठे, अथवा फिर मनुष्य को अपने वश में करने न पावे, किंतु संभव है कि पदार्थों के सम्मुख आने से यह प्रबल होकर पुनः उठे और वश में कर ले। इसलिए मरने से पहले-पहले इसका जीता जाना उचित है। इस ऐसे प्रबल काम-क्रोध के वेग को जो मनुष्य जीते जी (या मरते दम तक) सहारने की समर्थता रखता है, अर्थात् जो मरण पर्यंत उस वेग को अपने वश में रख सकता है, उसी को कर्मयोग में या ब्रह्मध्यान में युक्त होने की समर्थता है, जिससे वही ठीक योगी है, और वहा ठीक सुखी है, और वही पुरुष है, अन्य नहीं ॥ २३ ॥ *

पसीना आता है, ओष्ठों (होंठों) को दाँतों में चबाता है, नेत्र लाल हो जाते हैं, इत्यादि चिह्न होते हैं।

* श्रीज्ञानदेव ने इस श्लोक की व्याख्या विचित्र रूप से ऐसे की है—

"ज्ञानियों में तो निश्चय से विषयों की बात भी नहीं रहती। उन्होंने देह रहते हुए देह के विकार अपने अधीन कर लिये होते हैं। वे बाह्य

संबंध—(१) इस प्रकार काम-क्रोध के वेग को सहनेवाला पुरुष जब अपने भीतर सुख पाने लग जाता है, फिर इससे आगे जो उसकी गति होती है, उसे भगवान् अब तीन श्लोकों में कथन करते हैं ।

अथवा (२) केवल काम-क्रोध के वेग को सहने मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती बल्कि इससे अतिरिक्त अन्य कर्त्तव्य भी होते हैं, इसको भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) इस काम और क्रोध के वेग को वश में रखनेवाले अर्थात् निरासक्त या वशवर्ती पुरुष के विषय में अपना निश्चय वर्णन करके अब भगवान् उन ब्रह्मवित् महात्माओं की दशा और अंतिम गति को आगे तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं कि जो महात्मा न केवल निरासक्त ही हैं, किंतु इनसे भी आगे टपे हुए अर्थात् निजानंद में तृप्त और मग्न हैं—

अथवा (४) कौन सा पुरुष ब्रह्म में स्थित हुआ ब्रह्म को प्राप्त होता है, इसे भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

विषयों का निःशेष नाम भी नहीं जानते । उनके हृदय में एक सुख भरा रहता है । परंतु उस सुख का भोग निराली स्थिति में रहकर लिया जाता है । जैसे पक्षी फल को चूमते हैं, वैसा यह भोग नहीं है । उसमें भोक्तृ भाव का भी विस्मरण हो जाता है । उस भोग के समय एक ऐसी वृत्ति उठती है जो अहंकार का अंचल दूर कर सुख को दृढ़ आलिंगन देती है । उस आलिंगन से आप ही आप एकरूपता हो जाती है । तब जल में मिला हुआ जल जैसे अलग नहीं दिखाई देता, अथवा आकाश में वायु मिल जाता है, तो आकाश और वायु इस भेद का नाश हो जाता है, वैसे ही उस सुख के समय सुख ही निज स्वरूप से रहता है । इस प्रकार द्वैत का नाम मिट जाता है । उस समय 'ऐक्य हो जाता है' ऐसा यदि कहा जाय, तो उस ऐक्य का जाननेहारा साक्षी भी कौन रह जाता है ? इसलिए यह सब रहने दो, जो अकथनीय है, उसका वर्णन कैसे किया जाय । आत्मा स्वभावतः उस संकेत को पहचान लेगा ।"

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

यः[१], अन्तः[२], सुखः[३], अन्तर्[४] आरामः[५]	जो[१] (अपने) भीतर[२] सुख[३]वाला, भीतर[४] रमण[५] करनेवाला	सः[१], योगी[२], ब्रह्म[५]-निर्वाणं[६], ब्रह्म[३]-भूतः[४], अधिगच्छति[७]	वह[१] योगी[२] ब्रह्म[३]-स्वरूप हुआ[४] ब्रह्म[५] निर्वाण[६] को प्राप्त[७] होता है
तथा[१], अन्तर्[३]-ज्योतिः[५], एव[४], यः[२]	और[१] जो[२] भीतर[३] ही[४] ज्योति-वाला[५]		

अन्वयार्थ—जो अपने भीतर सुखवाला, (अपने ही) भीतर रमण करनेवाला और भीतर ही ज्योतिवाला है, वह योगी ब्रह्मस्वरूप हुआ ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता * है ॥ २४ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! इस प्रकार काम-क्रोध के वेग को वश में कर लेने से जिसको अपने भीतर ही सुख है, अर्थात् बाह्य विषय-भोगों में जिसको सुख नहीं बल्कि विषय-सुख की तृष्णा से रहित होकर जो अपने भीतर ही शुद्ध वा निर्मल अंतःकरण में सुख पाता है; जो अपने भीतर ही रमण करता है, अर्थात् जो विषय-तृष्णा से भटककर बाह्य विषयों में नहीं रमण करता और न उनमें विचरता ही है, बल्कि जो अपने भीतर सुख पाता हुआ अंतःकरण में ही रमण करता वा विश्राम पाता है; और जिसको भीतर ही प्रकाश है, अर्थात् जिसको अपने भीतर अपने

---

* "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"=ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म में लीन होता है (बृह० ४, ४, ६) । ब्रह्मानंद में मग्न होना ही ब्रह्म में लीन होना है (देखो २, ७२ का फ़ुटनोट) ।

शुद्ध और निर्मल अंतःकरण में ही आत्मज्योति भान होती है, न कि बाहर के विषय-भोगों में; ऐसा अपने आपमें निरासक्त, सुखी, शांत (वा विश्राम को पानेवाला) और प्रकाशवान् पुरुष इससे आगे उन्नति करता हुआ अर्थात् ब्रह्मध्यान में निरंतर युक्त होता हुआ ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, अर्थात् अपने आपको ब्रह्मस्वरूप साक्षात्कार करता है, जिस पर वह फिर ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है, अर्थात् ब्रह्म में जो कल्पित वस्तु तथा दुःखों की निवृत्ति है, उस द्वैत प्रपंच अर्थात् अनर्थ की निवृत्ति द्वारा परमानंदरूप मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

दूसरी व्याख्या--हे अर्जुन! केवल काम-क्रोध के वेग को सहनेवाला पुरुष तो केवल योगी और सुखी ही होता है, इससे अधिक नहीं। परंतु ऐसा आत्मवेत्ता पुरुष कि जिसको अपने भीतर ही सुख है, अर्थात् जो केवल अपने आत्मा में ही सुख लेता है, न कि बाह्य विषयों में; जिसको अपने भीतर ही विश्राम है, अर्थात् जो केवल अपने आत्मा में ही विश्राम लेता, खेलता वा रमण करता है, न कि बाह्य विषयों में; और जिसको अपने भीतर ही प्रकाश है, अर्थात् जो केवल अपने आत्मा में ही प्रकाश देखता है, अथवा जिसकी दृष्टि अपने आत्मा में ही है, बाह्य विषयों में नहीं, या जिसे अपने प्रकाशस्वरूप आत्मा का ही अनुभव हो रहा है, वह वास्तव में ब्रह्मस्वरूप हुआ होता है; इसलिए शरीर छोड़ते ही वह ब्रह्म में लीन हो जानेवाले पद (अर्थात् मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

संबंध—(१) ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष को प्राप्त करनेवाले पुरुषों के अन्य साधन अथवा लक्षण भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) उक्त निर्वाण पाये महात्माओं में और क्या-क्या भाव होते हैं, उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (३) उक्त तत्त्ववेत्ता कर्मयोगी के अतिरिक्त अन्य जो पुरुष उक्त ब्रह्मनिर्वाण को पाते वा पा सकते हैं, उन्हें भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (४) निर्वाणब्रह्म की प्राप्तिवाले जो-जो हैं, उन्हें भगवान् अब दर्शाते हैं—

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

लभन्ते[5], ब्रह्म[4]-निर्वाणं, ऋषयः[3], क्षीण[1]-कल्मषाः[2]	क्षीण[1] (दूर) हुए पापों[2]वाले ऋषि[3] ब्रह्मनिर्वाण[4] को प्राप्त[5] होते हैं	छिन्न[1]-द्वैधाः[2], यत[4]-आत्मानः[3]	कटे[1] हुए संशय[2]-वाले, अपने[3] आपको वश[4] में किये हुए
		सर्व[1]-भूत[2]-हिते[3], रताः[4]	सब[1] भूतों[2] के हित[3] में रते[4] हुए

अन्वयार्थ—क्षीण हुए पापोंवाले, कटे हुए संशयोंवाले, अपने आपको वश में किये हुए और सब प्राणियों के हित में लगे हुए ऋषि लोग ब्रह्मनिर्वाण को पाते हैं ॥ २५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! निष्काम कर्मों द्वारा जो सब पापरूप कल्मषों से रहित हो गये हैं; आत्मज्ञान के श्रवण, मनन और निदिध्यासन की परिपक्वता से जो सब संशयों से रहित हो चुके हैं, अथवा आत्मसाक्षात्कार से जिनके समस्त संशय कट चुके हैं; अपने आपको जिन्होंने वश में किया हुआ है, अर्थात् इंद्रियाँ मन इत्यादि जिनके अधीन हैं; और जो सब प्राणियों के हित में निरंतर लगे रहते हैं, अर्थात् जो नित्य सबका भला चाहते रहते हैं;

ऐसे तत्त्वद्रष्टा * ऋषिलोग ब्रह्म में निवृत्तिरूप परमानंद को (अथवा ब्रह्म में लीन होने के पद अर्थात् निर्वाण वा मोक्ष को) पाते हैं ॥ २५ ॥

---

* ऋषि त्रिकालदर्शी वा अनुभवी पुरुष को कहते हैं। देवता, असुर और साधारण मनुष्यों में ये नहीं गिने जाते। इनको मंत्रद्रष्टा कहते हैं जैसे "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो वसिष्ठादयः" यास्कमुनि के अनुसार ऋषि उसे कहते हैं कि जिसकी वाणी वेद हो, वा जिसके हृदय में वेद प्रकाशित हों, "यस्य वाक्यं स ऋषिः"। इसलिए प्रत्येक सूक्त में देवता, छंद और विनियोग के साथ ऋषि का भी वर्णन हुआ है। योगी और ऋषि में इतना भेद है कि ऋषि जन्म से ही शुद्ध अंतःकरण और विचारशील होता है, केवल अंतर्ध्यान से ही उसे सब अनुभव हो जाता है, अंतःकरण की शुद्धि तथा अनुभव के लिए उसे कर्मयोग की आवश्यकता नहीं; वह तो अपने भीतर ध्यानमात्र से सब कुछ देख सकता वा अनुभव कर सकता है, जिससे वह मंत्रद्रष्टा वा अनुभवी कहलाता है। परंतु योगी पुरुष जन्म से ही शुद्ध अंतःकरण नहीं होता; वह तो कर्मयोग द्वारा शुद्ध अंतःकरण करता हुआ अभ्यास और वैराग्य से आत्मानुभव करता है जिससे ऋषि की पदवी पर पहुँचता है, इससे पूर्व वह ऋषि कहलाने के योग्य नहीं होता। क्योंकि योगी जन्मने के पीछे यत्न द्वारा ऋषि-पदवी को प्राप्त होता है, इसलिए वह बहुधा योगी ही कहलाता है, ऋषि नहीं। और ऋषि जन्म से ही ऋषि-अवस्था को पाया हुआ होता है, इसलिए उसे केवल ऋषि ही कहा जाता है। इसीलिए भगवान् ने भी इससे पहले इस अध्याय में (कर्मयोगी के प्रसंग तक तो) योगी वा युक्त शब्द ही वर्ता है, और अब ध्यानावस्थित अनुभवी (वा त्रिकालदर्शी) पुरुषों के विषय में ऋषि वा यति शब्द वर्ता है, क्योंकि कर्मयोग-मार्ग के विना केवल ध्यान से ही शुद्ध, निर्मल, आत्मानुभवी और सर्व-भूत-हित में लगे हुए वे पुरुष ही हो सकते हैं कि जो ऋषि-अवस्था को प्राप्त हुए होते हैं।

और—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥ *

काम^{1}-क्रोध^{2}-वियुक्तानां^{3}	काम^{1}-क्रोध^{2} से रहित^{3} (पुरुषों) का	अभितः^{3}, ब्रह्म^{4}-निर्वाणं, वर्त्तते^{5},	आत्मा^{1} को जानने^{2} वालों के निकट^{3} (वा दोनों ओरसे) ब्रह्म^{4}-निर्वाण वर्तता^{5} है
यतीनां^{3}, यत^{1}-चेतसां^{2}	वशमें^{1} कियेहुए चित्त^{2}-वाले यति^{3} जनों का	विदित^{2}-आत्मनाम्^{1}	

अन्वयार्थ—काम-क्रोध से रहित, वश में किये हुए चित्तवाले और आत्मा को जाननेवाले यतियों के निकट (सब ओर से) ब्रह्म निर्वाण वर्तता है ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! पूर्व जो श्लोक २३ में काम-क्रोध के वेग को सहारने की शक्ति रखनेवाले पुरुषों के विषय में वर्णन हुआ है, ऐसे जो काम-क्रोध के वेग की अधीनता से रहित पुरुष हैं, अर्थात् जिन्होंने अपने काम-क्रोध के वेग को जीत रक्खा है, और इसीलिए जिनका चित्त अपने वश में है, अथवा जिनका अंतःकरण निरोधावस्था को प्राप्त हो गया है ; और फिर अपने आत्मस्वरूप का जिन्होंने साक्षात्कार कर लिया है ; ऐसे यत्नशील अनुभवी पुरुषों के निकट तो जीते जी और शरीर छोड़ने के पीछे भी, अर्थात् दोनों ओर से नित्य ब्रह्मनिर्वाण (मोक्षपद) ही वर्तता है । तात्पर्य यह है कि जिन्होंने काम-क्रोध से निःसंग होकर, अपने आपको सर्वप्रकार से जीत कर, चित्त

---

* एक गीता में यह पद "विदितात्मनाम्" नहीं, किंतु "विजितात्मनाम्" है ।

को निरोध (वा अपने वश) करके अपने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे ब्रह्मनिष्ठ यतियों की यह दशा होती है कि उनके जीते जी तो "यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः" जहाँ-जहाँ उनका मन जाता है वहाँ-वहाँ उनकी समाधि लगती है, और मरने के पीछे वे ब्रह्म में लीन हुए ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। इस प्रकार सर्व ओर से उनके हाँ नित्य मोक्षपद ही वर्तता रहता है। और यदि श्लोक का अंतिम पद "विजितात्मनाम्" हो, तो तात्पर्य ऐसे होगा कि--"जिन्होंने काम-क्रोध से निःसंबंध होकर चित्त को पूर्ण अपने वश में कर लिया है, और जो मोक्ष-मार्ग में यत्नपूर्वक लगे रहते हैं, ऐसे पूर्ण वशवर्ती और यत्नशील पुरुषों के निकट ब्रह्मनिर्वाण ही वर्तता होता है, अर्थात् वे यत्नशील पुरुष मोक्ष (विदेह मुक्ति वा निजानंद) पद के समीप ही पहुँचे हुए होते हैं" ॥ २६ ॥*

संबंध—(१) यहाँ तक कर्मयोग का मुख्य स्वरूप (अकर्त्तापन, ईश्वरपरायणता, निरासक्ति तथा समदर्शिता), और उस द्वारा आत्म-ज्ञान वा परमानंद की प्राप्ति कहकर फिर ब्रह्मवेत्ता कर्मयोगियों की दशा और अंतिम गति विस्तारपूर्वक दर्शायी गई। अब भगवान् इस आत्म-साक्षात्कार का केवल अंतरंग साधन "ध्यानयोग" जो योगारूढ़ (सांख्य-योगी) पुरुषों के बर्ताव में आता है, उसकी विधि तीन श्लोकों में सहित उसके फल के संक्षेप से वर्णन करते हैं—

---

* श्रीज्ञानदेव इस पर ऐसे व्याख्या करते हैं—"जिन्होंने अपना मन विषयों से जुदा कर जीत लिया है सो जहाँ सोये हुए जाग्रत् नहीं होते, वह मोक्ष का स्थान आत्मज्ञानियों का कारण जो परब्रह्म है, सोई हे पांडुकुमर ! उपर्युक्त पुरुष हैं, जानो। यदि तुम पूँछो कि वे ऐसे कैसे बन जाते हैं कि देह रहते ही ब्रह्मत्व को पहुँच जाते हैं, तो मैं उनका संक्षेप से वर्णन करता हूँ।"

अथवा (२) अब भगवान् सम्यक् ज्ञान के अंतरंग साधन को विस्तारपूर्वक कहने के विचार से उसे सूत्र रूप से तीन श्लोकों में स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) पुनरपि इसी उत्तम अनुपम स्थिति का भगवान् अब अन्य रीति से वर्णन करते हैं—

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥ *

---

* महाभारत (१२. १६५. ८ और १४. १६. १७) में इसी विषय के श्लोक इस प्रकार हैं—

"ततो मनसि संगृह्य पञ्चवर्गं विचक्षणः ।
समाध्यान्मनो भ्रान्तमिन्द्रियैः सह पञ्चभिः ॥ ८ ॥"
"इन्द्रियाणि तु संगृह्य मन आत्मनि धारयेत् ।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत् ॥ १७ ॥"

अर्थ—ज्ञानी को चाहिए कि पाँचों इंद्रियों को मन से रोके । और तब अपने भ्रांत (चंचल) मन को पंच इंद्रियों समेत समाधि में लगावे ॥ ८ ॥

इंद्रियों को विषयों से रोककर (खींचकर) मनुष्य को अपना मन आत्मा में लगाना चाहिए और फिर कठिन तप तपते हुए उसे मोक्ष-योग में लगना चाहिए । अर्थात् मोक्षप्राप्ति-निमित्त योग करना चाहिए ।

और भागवत (२. १. २३) में यह विषय इस प्रकार वर्णित है—

"जितासनो जितश्वासो जितसंगो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेद्धिया ॥ २३ ॥"

स्पर्शान्, कृत्वा, बहिः, बाह्यान्	बाह्य स्पर्शों (विषयों) को बाहर करके
चक्षुः, च, एव, अन्तरे, भ्रुवोः	और नेत्रको भ्रुवों के बीच ही में करके
प्राण-अपानौ, समौ, कृत्वा, नासा-अभ्यन्तर-चारिणौ	नासिका के भीतर विचरनेवाले प्राण और अपान दोनों को सम करके

यत-इंद्रिय-मनः-बुद्धिः	इंद्रिय, मन, बुद्धि को वश में किये हुए
मुनिः, मोक्ष-परायणः	मोक्ष-परायण मुनि
विगत-इच्छा-भय-क्रोधः, यः	जो इच्छा, भय, क्रोध से रहित है
सदा, मुक्तः, एव, सः	वह सदा मुक्त ही है

अन्वयार्थ—बाह्य स्पर्शों (विषयों) को बाहर करके, नेत्र को भ्रुवों के बीच में ही स्थित करके, नासिका के भीतर विचरनेवाले दोनों प्राण और अपान को सम करके, और इंद्रिय मन-बुद्धि को वश में किये हुए जो मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर मोक्षपरायण है, वह सदा मुक्त ही है ॥ २७, २८ ॥ *

अर्थ—मनुष्य को चाहिए कि आसन, श्वास, संग और इंद्रियों को जीतते हुए अर्थात् आसन, प्राणायाम करते हुए, संग और इंद्रिय-वश करते हुए मन को भगवान् के स्थूल रूप अर्थात् स्थिर ध्यान में लगावे ।

* इन श्लोकों पर श्रीतिलक महाराज की टिप्पणी इस प्रकार है—

"हमारी राय में टीकाकारों का यह कथन ठीक नहीं कि यह वर्णन संन्यासमार्ग के पुरुष का है । संन्यास और कर्मयोग, दोनों मार्गों में शांति तो एक ही सी रहती है, और उतने ही के लिए यह वर्णन संन्यासमार्ग को उपयुक्त हो सकेगा । परंतु इस अध्याय के आरंभ में कर्मयोग को श्रेष्ठ निश्चित कर फिर २५वें श्लोक में जो यह कहा है कि ज्ञानी पुरुष सब प्राणियों का हित करने में प्रत्यक्ष मग्न रहते हैं, इससे प्रकट होता है कि यह समस्त वर्णन कर्मयोगी जीवन्मुक्त का ही है—संन्यासी का नहीं है ।

व्याख्या--हे अर्जुन! स्वभाव से ही बाहर * रहनेवाले जो शब्द स्पर्शादि विषय हैं, और श्रोत्रादि इंद्रियों तथा अंतःकरण की वृत्ति द्वारा जो चित्त में प्रविष्ट हो गये होते हैं, † उन सब विषयों को बाहर करके, अर्थात् विवेक और वैराग्य के प्रभाव से इन सब प्रविष्ट हुए विषयों को चित्त से बाहर करके; अथवा इंद्रियों का बाहर के विषयों से संग तोड़कर; नेत्र को भ्रुवों के बीच में करके अर्थात् नेत्र की दृष्टि को दोनों भ्रुवों के बीच में स्थित करके; नासिका के भीतर जो विचरनेवाले प्राण-अपान हैं, इनकी गति को सम करके, अर्थात् उन्हें रोककर कुम्भक प्राणायाम करके, अथवा इन दोनों को नासिका के अंदर एक जैसा विचरने

कर्ममार्ग में भी सर्वभूतांतर्गत परमेश्वर को पहचानना ही परम साध्य है, अतः भगवान् अंत में (श्लोक २९वें में) कहते हैं कि "मुझको (सब) यज्ञों और तपों का भोक्ता, (स्वर्गादि) सब लोकों का बड़ा स्वामी एवं सब प्राणियों का मित्र जानता है, वही शांति पाता है।"

* "बाह्यान्" (बाहर रहनेवाले) से तात्पर्य यह है कि शब्द-स्पर्शादि विषय स्वभाव से ही बाहर रहते हैं, मनुष्य के भीतर नहीं। यदि ये विषय स्वभाव से ही मनुष्य के अंदर होते, तो हज़ारों उपायों से भी ये फिर बाहर न किये जा सकते!

† जब कोई मनुष्य श्रोत्रादि इंद्रियों से शब्दादि विषयों का सेवन करता है, तब रागादि उत्पन्न होता है। इस रागादि के वश में आकर जब बुद्धि का संयोग उन विषयों में होता है, तब वे (शब्दादि विषय) बुद्धि में प्रविष्ट हो जाते हैं; इसी से उन विषयों का यह पुरुष रात-दिन स्मरण करता है। फिर जब पुण्यवश सत्संग होने से विवेक (ज्ञान) होता है, तब उन विषयों को अत्यंत झूठा जान स्मरण नहीं करता, इस रीति से वे विषय आप ही मन से बाहर हो जाते हैं। यही यत्न विषयों के बाहर निकालने का है।

वाला करके, या नासिका से बाहर निकलनेवाला प्राण वायु जिस प्रकार बाहर न निकलने पावे, और नासिका के अंदर जानेवाला अपान वायु जिस प्रकार भीतर प्रवेश न करने पावे किंतु नासिका के भीतर ही जैसे दोनों विचरते रहें, इस प्रकार मंद-मंद श्वास से बराबर करके; इंद्रिय, मन और बुद्धि को जीते हुए, अर्थात् इन सबको अपने वश में किये हुए; (अथवा प्राणों के अधीन क्योंकि ये सब इंद्रियाँ हैं, इसलिए जब तक प्राण चलते हैं इंद्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं, और जब प्राण रुक जाते हैं तो ये इंद्रियाँ स्वतः रुक जाती हैं, इस प्रकार प्राणापान के रुक जाने पर जिसकी इंद्रियाँ मन बुद्धि स्वतः रुकी हुई वा अपने वश में आई हुई हैं), ऐसा मननशील पुरुष जो राग-भय-क्रोध से रहित हुआ मोक्ष-परायण है, अर्थात् जो उक्त वीतरागभयक्रोधादि विशेषणों से युक्त मुनि है, और जिसका परम आश्रय वा गति मोक्ष हो गया है, ऐसा तत्त्व के मनन करनेवाला मुनि जो है, वह निःसंदेह सदा * मुक्त ही है ॥ २७, २८ ॥

संबंध—(१) उक्त मोक्षपरायण मुनि को जिस ज्ञान वा ध्यान से शांति (मुक्ति) प्राप्त होती है, उसे भगवान् अब वर्णन करते हुए अध्याय की समाप्ति करते हैं—

अथवा (२) जब ध्यानयोग द्वारा उक्त फल को पुरुष प्राप्त होता है, उससे पहले जो वह अनुभव करता है, वा जो ज्ञान पाता है, उसे भगवान् अब संक्षेप से दर्शाते हैं—

---

* "सदा मुक्त ही है," अर्थात् जीता हुआ भी मुक्त ही है (श्रीधर)। सदा, अर्थात् साधन की अवस्था में भी मुक्त ही है (श्रीरामानुज)। वह सदा मुक्त ही है, उसे अब कोई अन्य मुक्ति प्राप्त नहीं करनी है। (श्रीशंकराचार्य)

अथवा (३) इस प्रकार ध्यानयोग में युक्त होने से क्या फल मिलता है, इसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (४) इस प्रकार समाहित चित्त पुरुष से जानने योग्य फिर क्या है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

भोक्तारं^{३}, यज्ञ^{१}-तपसां^{२}, सर्व^{४}-लोक^{५}-महा^{६}-ईश्वरम्^{७}	यज्ञों^{१} और तपों^{२} के भोगने^{३}वाले और सारे^{४} लोकों^{५} के महान्^{६} ईश्वर^{७} को	सुहृदं^{४}, सर्व^{२}-भूतानां^{३}, ज्ञात्वा^{५}, मां^{१}, शान्तिं^{६}, ऋच्छति^{७}	मुझ^{१} सब^{२} प्राणियों^{३} के सुहृद्^{४} को जान^{५} कर शांति^{६} को प्राप्त^{७} होता है

पहला अन्वयार्थ—मुझ (सारे) यज्ञों और तपों के भोगनेवाले, सारे लोकों के महान् ईश्वर, और सब प्राणियों के सुहृद् * को जानकर वह (मुनि) शांति को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—(इस ध्यानयोग से) वह मुझको यज्ञों और तपों का भोक्ता, सारे लोकों का महेश्वर, सारे प्राणियों का सुहृद् जान लेता है । और (ऐसा जानकर) शांति को पाता है ॥ २९ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! जो मुनि उक्त प्रकार काम, क्रोध और भय से रहित होकर मोक्षपरायण हुआ होता है, वह अपने प्रत्येक काम तथा ध्यान में मुझ सच्चिदानंदस्वरूप को, अर्थात्

---

* सुहृद्=प्रत्युपकार की अपेक्षा न करके उपकार करनेवाला सुहृद् कहलाता है ।

अपने निजस्वरूप को ऐसे जानता वा निश्चय करता (वा ध्याता) है कि—"सर्वप्रकार के यज्ञों और तपों का यजमानादि कर्त्तारूप से तथा इंद्रादि देवतारूप से भोगनेवाला मैं हूँ, सारे लोकों का महान् ईश्वर अर्थात् परमात्मा मैं हूँ, और प्रत्युपकार की अपेक्षा के विना ही सब प्राणियों का उपकार करनेवाला (सुहृद्) मैं हूँ।" इस प्रकार मुझ सर्वान्तर्यामी, सर्व के प्रकाशक, परिपूर्ण, सत्-चित्-आनंदस्वरूप, एकरस और सबके सुहृद् तथा सर्व के आत्मरूप को जानकर, अर्थात् मुझ सच्चिदानंद को अपना आत्मरूप से साक्षात् करके यह उक्त मननशील मुनि मोक्षरूप शांति को प्राप्त होता है॥ २६॥

दूसरी व्याख्या--हे अर्जुन! जो उक्त प्रकार ध्यानयोग में युक्त होकर जब नित्य मुक्त अवस्था को प्राप्त होता है, तब वह ठीक-ठीक जान लेता है कि "समस्त प्रपंच के यज्ञ और तप का भोगनेवाला वास्तव में मैं हूँ, सारे लोकों का महान् ईश्वर अर्थात् परमात्मा मैं हूँ, और प्रत्युपकार की अपेक्षा के विना ही सब प्राणियों का उपकार करनेवाला वास्तव में मैं हूँ"। ऐसा अनुभव करके फिर वह शांति को प्राप्त होता है॥ २६॥

इस पंचम अध्याय के सर्व अर्थ को संक्षेप से प्रतिपादन करनेवाला यह श्लोक है--

"अनेक साधनाभ्यासनिष्पन्नं हरिणेरितम्।
स्वस्वरूपपरिज्ञानं सर्वेषां मुक्तिसाधनम्। इति॥"

अर्थ--अनेक प्रकार के साधनों के अभ्यास से उत्पन्न हुआ तथा सर्व अधिकारी जन की मुक्ति का साधनरूप जो स्वस्वरूप का ज्ञान है, उसको श्रीभगवान् ने इस पंचम अध्याय में कहा है।

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः।

पाँचवें अध्याय का संक्षेप

(१) उक्त अध्याय ४ के अंत में भगवान् ने यद्यपि अपना सिद्धांत (ज्ञान और कर्म का समुच्चय) स्पष्ट रूप से ऐसे कहा कि "हृदय के सब अज्ञान-जन्य संशयों को ज्ञानरूपी खड्ग से काटकर तू कर्मयोग का अनुष्ठान कर," तथापि अध्याय के बीच में कभी कर्मयोग की और कभी ज्ञान वा कर्मसंन्यास की अधिक प्रशंसा सुनकर अर्जुन को संदेह हुआ, जिससे वह ऐसे पूछता है——

हे भगवन् ! कभी आप कर्मत्याग की और कभी कर्मों में लगने की अधिक प्रशंसा करते हैं। इनमें से जो एक उचित हो, उसे कृपा करके आप कहिए।

(२) इस प्रश्न पर भगवान् ऐसे सविस्तर उत्तर देते हैं——

(क) कर्मसंन्यास और कर्मयोग यद्यपि दोनों ही कल्याणकारी हैं, परंतु कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेष कल्याणकारी और उपयोगी है।

(ख) पर नित्य संन्यासी तो उसे समझना चाहिए कि जो न राग करता है, न द्वेष (उसे नहीं कि जो समस्त कर्म छोड़ बैठता है); क्योंकि निर्द्वंद्व पुरुष अनायास कर्म-बंधन से छूट जाता है।

(ग) सांख्य (तत्त्वचिंतनार्थ बाह्य कर्म का त्याग) और योग (समत्वबुद्धि से कर्म में युक्त होना रूप कर्मयोग) को बालक भिन्न-भिन्न कहते हैं, पंडित नहीं। अर्थात् सांख्य शब्द का अर्थ जो परोऽक्षज्ञान की प्राप्ति पर तत्त्वचिंतनार्थ केवल बाह्य कर्म का छोड़ना

नहीं लेते किंतु समस्त कर्मों का नितांत त्याग मानते हैं, ऐसे मूर्ख लोग सांख्य और योग को भिन्न-भिन्न बतलाते हैं। पर जो पुरुष मेरे विचारानुसार सांख्य के अर्थ कर्मों का नितांत त्याग नहीं किंतु तत्त्वचिंतनार्थ बाह्य कर्मों का त्याग लेते हैं, ऐसे विचारवान् पुरुष इन दोनों को भिन्न-भिन्न नहीं बल्कि एक समझते हैं। इसलिए इन दोनों में से एक में भी पूर्ण स्थित हुआ पुरुष दोनों के फल को पा लेता है।

(घ) पस जो फल सांख्यवालों को मिलता है, वही योगियों को मिलता है। इसलिए सांख्य और योग दोनों वास्तव में एक हैं, केवल नाम और रूप वा विधि का भेद है। ऐसा जो समझता है, वही ठीक समझता है।

(ङ) और सांख्य के अर्थ यदि कर्म-संन्यास भी लिये जायँ, तो भी सांख्य और योग दोनों वास्तव में एक होते हैं, क्योंकि कर्म को आप छोड़ देने से कर्मत्याग नहीं प्राप्त होता, किंतु कर्म को निष्काम भाव से करते रहने से ही कर्म-संन्यास अवस्था प्राप्त होती है, इसीलिए नियत हुआ है कि कर्मयोग में पूर्ण युक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्म अर्थात् निर्द्वंद्वरूप संन्यास को प्राप्त होता है।

(च) और यदि यह कहा जाय कि कर्म करना ही बंधन उत्पन्न करना है, तो कर्मयोग के विषयमें ऐसा आक्षेप आ नहीं सकता; क्योंकि कर्मयोग में युक्त होकर जो पुरुष शुद्ध अंतःकरणवाला, मन और इंद्रियों

को अपने अधीन किया हुआ और सब प्राणियों का आत्मरूप हुआ होता है, वह सब कर्म करते हुए भी निर्लिप्त ही रहता है।

(छ) और तत्त्ववित् कर्मयोगी की देखते, चलते इत्यादि संपूर्ण व्यवहारों में ऐसी धारणा होती है कि "इंद्रियाँ अपने-अपने व्यवहारों में प्रवृत्त हो रही हैं, मैं वास्तव में कुछ भी नहीं कर रहा"। इसलिए जो पुरुष कर्मों को निरासक्त वृत्ति से ब्रह्मार्पण-निमित्त करता है, वह उनके पाप-पुण्यरूप फल से वैसे निर्लिप्त रहता है, जैसे कमल का पत्ता जल से।

(ज) इसीलिए योगी लोग चित्त से कर्म का संग-त्याग कर, शरीर, मन, बुद्धि वा केवल इंद्रियों से ही कर्मों को केवल अपने अंतःकरण की शुद्धि-निमित्त करते चले आये हैं।

(३) अब भगवान् युक्त (कर्मयोग के नियमानुसार कर्म करनेवाले) और अयुक्त (कर्मयोग के नियम-विरुद्ध कर्म करनेवाले) पुरुषों की व्यवस्था और फल में भेद दर्शाते हैं—

(क) योग-युक्त पुरुष तो कर्म-फल की अभिलाषा को त्यागकर कर्म करता है, जिससे निरंतर (परम) शांति को पाता है; और अयुक्त पुरुष फल-कामना से कर्म करता है, जिससे फल में आसक्त होता बँध जाता है।

(ख) युक्त पुरुष तो आत्म-वशी होने के कारण मन से सब कर्मों को छोड़कर (ऊपर शरीर से कर्म करता हुआ देखा जाने पर भी वास्तव में) न कुछ करता है और

न कराना होता है बल्कि नौ द्वारों के पुर (देह) में सुख से बैठा होता है। और अयुक्त पुरुष मन से कर्मों को न छोड़ने के कारण (चाहे ऊपर से निष्क्रिय ही दिखाई देता हो, पर भीतर से) कुछ न कुछ करता-कराता ही होता है, जिससे नित्य अशांत और दुःखी ही रहता है।

(ग) युक्त पुरुष जिसको अपने इंद्रिय, मन इत्यादि पर प्रभुत्व प्राप्त हो गया है, वह स्वयं कुछ न करता-कराता होने से और चित्त से सबके साथ अभेद होने के कारण किसी के भी न कर्तृत्व को, न कर्म को और न कर्म-फल-संयोग को रचता है, बल्कि इन सब भेदों में उसके हाँ तो केवल स्वभाव ही वर्तता होता है। इसलिए वह (युक्त पुरुष) न किसी के पाप को अपना बनाता है और न पुण्य को। परंतु अयुक्त पुरुष अज्ञान से ज्ञान ढक जाने के कारण धोखा खा जाते हैं, जिससे कर्त्ता-कर्म के भाव में फँसकर (या किसी के कर्त्ता-कर्म के भाव को अपना बनाते हुए) बँध जाते हैं।

(४) इस प्रकार युक्त और अयुक्त की दशा और फल में भेद दर्शाकर अब जो अज्ञानी कर्मयोगी नहीं बल्कि जो निरासक्त मन तथा समत्वबुद्धि से कर्म करते-करते आत्म-साक्षात्कार किये हुए ज्ञानवान् कर्मयोगी हैं, ऐसे युक्त और अज्ञान से शून्य पुरुषों की बाह्याभ्यंतर दशा का भगवान् अब स्पष्टीकरण करते हैं—

(क) परंतु जिनका अज्ञान अपने आत्मज्ञान से नष्ट हो गया होता है, उनके भीतर तत्त्वज्ञान सूर्यवत् सदा

उदय रहता है, जिस लिए भूल से भी वे किसी कर्म का अपने आपको कर्त्ता-भोक्ता नहीं मानने पाते।

(ख) उसी तत्त्वज्ञान में उनकी बुद्धि उसी में उनका मन, उसी में उनकी निष्ठा और उसी के परायण होने के कारण वे शरीर छोड़ते ही कैवल्य मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं।

(ग) विद्या और नम्रता से संपन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी इत्यादि में वे समदर्शी होते हैं।

(घ) जिनका मन उक्त प्रकार से समता में स्थित हो चुका है, उन्हीं का संसार जीता हुआ है, और वे ही ब्रह्म में स्थित हैं; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है (अथवा क्योंकि निर्दोष और सम अवस्था का ही नाम ब्रह्म है)।

(ङ) ऐसा पुरुष प्रिय वस्तु को पाकर फूलता नहीं और अप्रिय को पाकर झुँझलाता नहीं।

(च) केवल निरासक्त वृत्ति से कर्म में युक्त पुरुष (अथवा केवल बाह्य विषयों में निरासक्त पुरुष) जो सुख विषय निवृत्ति के कारण किंचित् काल के लिए अपने में पाता है, वही पुरुष फिर ब्रह्मध्यान में लवलीन होकर नाशरहित अर्थात् निरंतर सुख को भोगता है।

(छ) इसलिए बुद्धिमान् पुरुष विषय-भोगों से प्राप्त हुए सुखों को वास्तव में दुःख की योनियाँ और अनित्य समझते हुए उनमें रमते नहीं।

(ज) अतएव शरीर छोड़ने से पहले जो पुरुष काम-क्रोध के वेग को सहार सकता है, वही युक्त और सुखी नर होता है।

(झ) इस प्रकार जिस सुखी नर को जब अपने भीतर ही सुख, भीतर ही आराम, और भीतर ही ज्ञान का प्रकाश होता है, ऐसा योगारूढ़ योगी पुरुष ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष को प्राप्त होता है।

(५) उक्त कर्मयोगी पुरुष से अतिरिक्त अन्य जो पुरुष ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं, उन्हें भगवान् अब कहते हैं; अथवा ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष को प्राप्त हुए महात्माओं के और लक्षण भगवान् अब कहते हैं—

(क) केवल कर्मयोगी पुरुष ही नहीं बल्कि जिन ऋषियों के पाप क्षीण हो चुके हैं, संशय कट चुके हैं, (मनादि) इंद्रियाँ सब जीती हुई हैं, और जो नित्य सबका भला चित्त से चाहते रहते हैं, ऐसे यति ऋषि भी ब्रह्मनिर्वाणरूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं। अथवा ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त हुए पुरुषों के ये लक्षण भी होते हैं कि उनके पाप क्षीण हुए, संशय कटे हुए, वे इंद्रिय जीते हुए और सबके भले में तत्पर हुए होते हैं।

(ख) काम-क्रोध से रहित और वश में किये हुए चित्तवाले ज्ञानवान् यतियों के निकट तो सदैव ब्रह्मनिर्वाण ही वर्तता रहता है।

(६) उक्त लक्षणों से संपन्न होने की रीति (ध्यान-योग) जिसे योगी लोग (सांख्ययोगी वा योगारूढ़ पुरुष) अपने बर्ताव में लाते हैं, उसे भगवान् अब संक्षेप से कहते हैं—

बाह्य विषयों को अपने चित्त से बाहर करके, नेत्र

को भ्रूवों के मध्य रखकर, और नासिका के भीतर विचरनेवाले प्राणापान को सम करके, जीते हुए मन-बुद्धि-इंद्रियवाले मुनि जो इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर मोक्ष-परायण होते हैं, वे सदा मुक्त ही हैं।

(७) उक्त मोक्ष-परायण मुनि जिस ज्ञान वा ध्यान द्वारा शांति पाते हैं, उसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

उक्त रीति से अभ्यास करते समय जब मननशील (मुनि) लोग ऐसे ध्यान में आरूढ़ होते हैं (अथवा ऐसा अनुभव करते हैं) कि "मैं ही सारे यज्ञों और तपों का भोगनेवाला, सारे लोकों का महान् ईश्वर (परमात्मा), और सब प्राणियों का सुहृद् हूँ," तब वे शांति को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्म-विद्यांतर्गत योग-शास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, संन्यास-योग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

* * *

ॐ

षष्ठोऽध्यायः

संबंध—पूर्वाध्याय के श्लोक २ में भगवान् ने कर्मसंन्यास और कर्मयोग की फलरूप से एकता दर्शायी ; फिर श्लोक ३ में संन्यास के विषय अपना निश्चय संक्षेप से ऐसे वर्णन किया—"ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति" । इत्यादि=नित्य संन्यासी उसे समझना चाहिए कि जो न राग करता है, न द्वेष (उसे नहीं कि जो समस्त कर्म छोड़ बैठता है), क्योंकि द्वंद्वरहित पुरुष अनायास कर्म-बंधन से छूट जाता है । और तत्पश्चात् श्लोक ४, ५, ६ में यह भाव स्पष्ट किया कि "इस प्रकार की संन्यासावस्था को प्राप्त करानेवाले मार्ग सांख्य और योग दोनों हैं, और इसीलिए इनमें से एक में भी पूर्ण स्थित पुरुष दोनों के फल को पा लेता है ; हाँ, इतना अंतर अवश्य है कि केवल सांख्ययोग से उस (संन्यासावस्था) का पाना अति कठिन है और कर्मयोग से सुगम ; इसीलिए सर्वसाधारण को कर्मयोग का पहले आश्रय लेना चाहिए और सांख्ययोग का पीछे, बल्कि वास्तविक संन्यासावस्था प्राप्त होने पर भी लोकसंग्रह-निमित्त कर्म न हरएक के छूटते हैं और न हरएक को आप छोड़ने चाहिएँ. क्योंकि पूर्व तत्त्ववित् योगी ऐसा ही करते आये हैं ।" इस प्रकार स्पष्ट करके कर्मयोग का विषय सविस्तर वर्णन किया ; और अध्याय के अंत में संक्षेप से तीन श्लोकों में सांख्ययोग अर्थात् ध्यानयोग का विषय

को भ्रूवों के मध्य रखकर, और नासिका के भीतर विचरनेवाले प्राणापान को सम करके, जीते हुए मन-बुद्धि-इंद्रियवाले मुनि जो इच्छा, भय और क्रोध से रहित होकर मोक्ष-परायण होते हैं, वे सदा मुक्त ही हैं।

(७) उक्त मोक्ष-परायण मुनि जिस ज्ञान वा ध्यान द्वारा शांति पाते हैं, उसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

उक्त रीति से अभ्यास करते समय जब मननशील (मुनि) लोग ऐसे ध्यान में आरूढ़ होते हैं (अथवा ऐसा अनुभव करते हैं) कि "मैं ही सारे यज्ञों और तपों का भोगनेवाला, सारे लोकों का महान् ईश्वर (परमात्मा), और सब प्राणियों का सुहृद् हूँ," तब वे शांति को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में, ब्रह्म-विद्यांतर्गत योग-शास्त्र-विषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, संन्यास-योग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

* * *

ॐ

षष्ठोऽध्यायः

संबंध—पूर्वाध्याय के श्लोक २ में भगवान् ने कर्मसंन्यास और कर्मयोग की फलरूप से एकता दर्शायी ; फिर श्लोक ३ में संन्यास के विषय अपना निश्चय संक्षेप से ऐसे वर्णन किया—"ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति" । इत्यादि=नित्य संन्यासी उसे समझना चाहिए कि जो न राग करता है, न द्वेष (उसे नहीं कि जो समस्त कर्म छोड़ बैठता है), क्योंकि द्वंद्वरहित पुरुष अनायास कर्म-बंधन से छूट जाता है । और तत्पश्चात् श्लोक ४, ५, ६ में यह भाव स्पष्ट किया कि "इस प्रकार की संन्यासावस्था को प्राप्त करानेवाले मार्ग सांख्य और योग दोनों हैं, और इसीलिए इनमें से एक में भी पूर्ण स्थित पुरुष दोनों के फल को पा लेता है ; हाँ, इतना अंतर अवश्य है कि केवल सांख्ययोग से उस (संन्यासावस्था) का पाना अति कठिन है और कर्मयोग से सुगम ; इसीलिए सर्वसाधारण को कर्मयोग का पहले आश्रय लेना चाहिए और सांख्ययोग का पीछे, बल्कि वास्तविक संन्यासावस्था प्राप्त होने पर भी लोकसंग्रह-निमित्त कर्म न हरएक के छूटते हैं और न हरएक को आप छोड़ने चाहिएँ. क्योंकि पूर्व तत्त्ववित् योगी ऐसा ही करते आये हैं ।" इस प्रकार स्पष्ट करके कर्मयोग का विषय सविस्तर वर्णन किया ; और अध्याय के अंत में संक्षेप से तीन श्लोकों में सांख्ययोग अर्थात् ध्यानयोग का विषय

निरूपण किया। अब भगवान् उसी ध्यानयोग * को सविस्तर वर्णन करने लगे हैं। परंतु उसे सबसे ऊँचा साधन और केवल ऋषिजनों के ही उपयोगी जानकर भगवान् पहले संन्यास और योग की एकता, फिर कर्मयोग का ध्यानयोग (सांख्ययोग) के साथ संबंध और उनकी परस्पर आधार-आधेयता रूप स्थिति, और इसी प्रकार कर्मयोगी की योगारूढ़ के साथ एकता दर्शाने लगे हैं, ताकि सर्वसाधारण लोग कहीं कर्म से उपराम न हो जायँ। इस समस्त उक्त विषय को भगवान् स्वतः ऐसे आरंभ करते हैं—

---

* छठे अध्याय के आरंभ में उसके साथ पूर्व अध्याय के संबंध को एक-दो टीकाकारों ने ऐसे श्लोकबद्ध किया है—"योगसूत्रं त्रिभिः श्लोकैः पंचमान्ते यदीरितम्। षष्ठ आरभ्यतेऽध्यायस्तद्व्याख्यानाय विस्तरात् ॥" अर्थ—पाँचवें अध्याय के अंत में जो योगसूत्र तीन श्लोकों से कहा गया है, उसी योगसूत्र की विस्तारपूर्वक व्याख्या करने के लिए यह छठा अध्याय आरंभ किया जाता है।

श्रीशंकराचार्यजी इस अध्याय का संबंध इस प्रकार दर्शाते हैं—

"यथार्थ ज्ञान के लिए जो अंतरंग साधन है, उस साधनरूप ध्यानयोग का जो पूर्व अध्याय के अंत में 'स्पर्शान्कृत्वा बहिः' इत्यादि श्लोकों द्वारा सूत्ररूप से उपदेश दिया गया, उन श्लोकों की व्याख्यारूप यह छठा अध्याय आरंभ किया जाता है। परंतु ध्यानयोग का बहिरंग साधन कर्म है, इसलिए जब तक ध्यानयोग पर आरूढ़ होने में असमर्थ हो, तब तक अधिकारी गृहस्थ को कर्म करना चाहिए। अतः भगवान् उस (कर्म) की पहले स्तुति करते हैं।"

श्रीतिलक महाराज इसका संबंध इस प्रकार निरूपण करते हैं कि—"इतना तो सिद्ध हो गया कि मोक्षप्राप्ति होने के लिए और किसी की भी अपेक्षा न हो, तो भी लोकसंग्रह की दृष्टि से ज्ञानी पुरुष को ज्ञान के अनंतर भी कर्म करते रहना चाहिए; परंतु फलाशा छोड़कर उन्हें समबुद्धि से इसलिए करे ताकि वे बंधक न हो जावें, इसे ही कर्मयोग कहते हैं,

श्रीभगवानुवाच—

**अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥***

और कर्मसंन्यासमार्ग की अपेक्षा यह अधिक श्रेयस्कर है । तथापि इतने से ही कर्मयोग का प्रतिपादन समाप्त नहीं होता । तीसरे ही अध्याय में भगवान् ने अर्जुन से काम-क्रोध आदि का वर्णन करते हुए कहा है कि ये शत्रु मनुष्य की इंद्रियों में, मन में, और बुद्धि में घर करके ज्ञान-विज्ञान का नाश कर देते हैं (३. ४०)। अतः तू इंद्रियों के निग्रह से इनको पहले जीत ले । इस उपदेश को पूर्ण करने के लिए इन दो प्रश्नों का खुलासा करना आवश्यक था कि (१) इंद्रिय-निग्रह कैसे करें, और (२) ज्ञान-विज्ञान किसे कहते हैं; परंतु बीच में ही अर्जुन के प्रश्नों से यह बतलाना पड़ा कि कर्मसंन्यास और कर्मयोग में अधिक अच्छा मार्ग कौन सा है; फिर इन दोनों मार्गों की यथाशक्य एक वाक्यता करके यह प्रतिपादन किया गया है कि कर्मों को न छोड़कर, निःसंग बुद्धि से करते जाने पर ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्ष क्योंकर मिलता है। अब इस अध्याय में उन साधनों के निरूपण करने का आरंभ किया गया है, जिनकी आवश्यकता कर्मयोग में भी उक्त निःसंग या ब्रह्मनिष्ठ स्थिति प्राप्त करने में होती है । तथापि स्मरण रहे कि, यह निरूपण भी कुछ स्वतंत्र रीति से पातंजल योग का उपदेश करने के लिए नहीं किया गया है । और, यह बात पाठकों के ध्यान में आ जाय, इसलिए यहाँ पिछले अध्यायों में प्रतिपादन की हुई बातों का ही प्रथम उल्लेख किया गया है, जैसे फलाशा छोड़कर कर्म करनेवाले पुरुष को ही सच्चा संन्यासी समझना चाहिए—कर्म छोड़नेवाले को नहीं (५. ३) इत्यादि ।"

---

* महाभारत (१२. १८. ३०) में इस विषय पर ऐसा श्लोक है—

"त्यागान्न भिक्षुकं विद्यान्न मौढ्यान्न च याचनात् ।
ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति न सुखं विद्धि भिक्षुकम् ॥"

दूसरी व्याख्या—पूर्व अध्याय के श्लोक २ में भगवान् ने कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों कल्याण के देनेवाले बताये हैं। और अब भी संन्यास के अर्थ कर्मसंन्यास और योग के अर्थ कर्मयोग लेकर अपने पूर्व कथित भाव को (जो उन्होंने श्लोक ३ में "ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति" इत्यादि से दर्शाया था) भगवान् पुनः स्पष्ट करके ऐसे निरूपण करते हैं कि—हे अर्जुन! क्योंकि मैं कर्मसंन्यास के अर्थ चित्त से कर्मों तथा उनकी फल-कामना का त्याग मानता हूँ, न कि शरीर से कर्म-त्याग; और इसी प्रकार निष्काम चित्त और निरासक्त मन से कर्म करने को ही मैं कर्मयोग कहता हूँ, न कि सकाम चित्त तथा आसक्त मन से कर्म करने को; जिससे ये दोनों शब्द वास्तव में एक ही अर्थ वा तात्पर्य रखते हैं। इसलिए जो पुरुष कर्म-फल की तृष्णा को छोड़कर निरासक्त चित्त से कर्त्तव्य कर्मों को करता है, वही (फलाशा को छोड़ने के कारण) वास्तव में

वास्तविक लक्षण नहीं। पूर्व अध्याय के श्लोक ३ और अब इस श्लोक के अनुसार भगवान् तो उसे संन्यासी मानते हैं कि जो न राग करता है, न द्वेष, और मारे आलस्य वा दुःख के जो क्रियाहीन वा अग्निहीन नहीं होता, किंतु जो कर्म-फल की आशा वा तृष्णा छोड़कर समस्त कर्म समत्वबुद्धि से करता रहता है। तात्पर्य यह कि जो गृहस्थी गृह में अग्नियाँ रखते हुए अपने कर्त्तव्य कर्मों को निष्काम चित्त से करते हैं, वे भी भगवान् के मत में वास्तव में संन्यासी हैं; और जो गृहस्थाश्रम को छोड़कर अग्नि न रखते हुए चतुर्थाश्रम में आते हैं, पर परोपकार में आरूढ़ रहते हैं (लोगों की भलाई के लिए निरासक्त चित्त और समत्वबुद्धि से कुछ न कुछ करते रहते हैं), वे भी संन्यासी हैं। परंतु केवल नितांत कर्महीन और अग्निरहित पुरुष संन्यासी नहीं, अपने इसी भाव को भगवान् ने संपूर्ण गीता में दर्शाया है।

कर्मसंन्यासी, और वही (निरासक्त चित्त से कर्म में युक्त होने के कारण) वास्तव में कर्मयोगी होता है; पर केवल यज्ञ होमादि को त्यागनेवाला (अग्निहीन) और तप-दानादि कर्म छोड़नेवाला (कर्महीन होकर निठल्ला बैठनेवाला) पुरुष वास्तव में न संन्यासी होता है और न कर्मयोगी। इस प्रकार एक ही (निष्काम चित्त से कर्म करनेवाला) पुरुष एक ही समय में दोनों उपाधियों (कर्मसंन्यास और कर्मयोग) से युक्त हुआ होता है॥ १ ॥ *

---

* श्रीज्ञानदेव ने इस श्लोक की व्याख्या अति विचित्र रूप से ऐसे की है—"सुनो, संसार में योगी और संन्यासी एक ही हैं। उन्हें जुदे मत मानो। साधारणतः दोनों का विचार करने से वे एक ही जान पड़ते हैं। दूसरा नाम केवल आरोप है, उसे छोड़ दो तो जो योग वही संन्यास है। ब्रह्मदृष्टि से देखते दोनों में अंतर नहीं दिखाई देता। जैसे अलग-अलग नाम से एक ही मनुष्य को पुकारा जाय, अथवा दोनों मार्गों से जैसे एक ही जगह गंतव्य हो, अथवा पानी स्वभावतः एक है परंतु जैसे जुदे-जुदे घड़ों में भरा हो, वैसी ही भिन्नता योग और संन्यास की जानो। हे अर्जुन! संसार में सबकी यही सम्मति है कि योगी वही समझना चाहिए जो कर्म करके फल में अनुरक्त नहीं रहता। जैसे पृथ्वी सहज ही अहंबुद्धि के बिना वृक्ष इत्यादि उत्पन्न करती है, परंतु उनके बीजों की अपेक्षा नहीं करती; वैसे ही सर्वत्र जो आत्मा व्याप्त है, उसके आधार से तथा जाति के अनुरूप जिस अवसर पर जो कर्म प्राप्त हो सोई उचित जान जो करता है, परंतु शरीर में अहंबुद्धि नहीं रखता, और जिसकी बुद्धि कर्म करके फल की आशा तक नहीं पहुँचती, वही संन्यासी है। हे पार्थ! सुनो, वास्तव में वही योगीश्वर है। अन्यथा जो नैमित्तिक उचित कर्म को बद्धक समझकर छोड़ देता है और तत्काल दूसरा कर्म करने में प्रवृत्त होता है, सो जैसे एक लेप पोंछकर साथ ही दूसरा लगाया जाय ऐसे आग्रह के अधीन हो व्यर्थ विवंचना में पड़ता है, पहले ही

संबंध—कर्मयोगी भला क्यों संन्यासी है ? इसमें जो हेतु है, उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

यं^{१}, संन्यासं^{२}	जिसको^{१} "संन्यास^{२}"	न^{७}, हि^{१}, अ^{२}-संन्य^{३}	क्योंकि^{१} न^{२} त्यागे^{३}
इति^{३}, प्राहुः^{४}	ऐसा^{३} कहते^{४} हैं	स्त-सङ्कल्पः^{४},	हुए संकल्पवाला^{४}
योगं^{३}, तं^{२}, विद्धि^{४},	हे अर्जुन^{५}! उसको^{२}	योगी^{६}, भवति^{८},	कोई^{५} योगी^{६}
पाण्डव^{५}	तू योग^{३} जान^{४}	कश्चन^{५}	नहीं^{७} होता^{८} है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! जिसको संन्यास कहते हैं उसको तू योग जान, क्योंकि न त्यागे हुए संकल्पवाला कोई पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥

स्वभावतः गृहस्थाश्रम का बोझा सिर पर है, सोई बोझा वह संन्यास लेकर अधिक बढ़ाता है । अतएव श्रौत, स्मार्त, होम इत्यादि न छोड़ते कर्म की मर्यादा का उल्लंघन न हो, तो निज में ही सहज योगसुख की प्राप्ति होती है ।"

श्रीतिलक महाराज इस पर अपनी ढंग की व्याख्या ऐसे करते हैं—"पिछले अध्याय में जो कहा है कि 'सांख्य और योग एक हैं' (५. ५), या 'बिना योग के संन्यास नहीं होता' (५. ६), अथवा 'उसे संन्यासी जानना चाहिए जो न द्वेष करता है न आकांक्षा, (५. ३), उसी का यह अनुवाद है और आगे अठारहवें अध्याय (१८. २) में समग्र विषय का उपसंहार करते हुए इसी अर्थ का फिर भी वर्णन किया है । गृहस्थाश्रम में अग्निहोत्र रखकर यज्ञ-याग आदि कर्म करना पड़ते हैं, पर जो संन्यासाश्रमी हो गया हो, उसके लिए मनुस्मृति में कहा है कि उसको इस प्रकार अग्नि की रक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, इस कारण वह 'निरग्नि' हो

व्याख्या—हे पांडु-पुत्र अर्जुन ! जिसको वैदिक * श्रुतियाँ तथा अनुभवी महात्मा "यह संन्यास है" ऐसा कहते हैं, उसी को तू योग समझ; क्योंकि जिस पुरुष ने भीतर से स्वार्थ संबंधीय संकल्पों † का तो त्याग नहीं किया, किंतु बाह्य कर्मों का त्यागकर डाला है, वह चाहे कोई ही क्यों न हो, न कभी वास्तव में योगी होता है और न संन्यासी। बल्कि वही पुरुष वास्तव में कर्मयोगी या संन्यासी होता है कि जो ऊपर से तो कर्म करता

जाय और जंगल में रहकर भिक्षा से पेट पाले—जगत् के व्यवहार में न पड़े (मनु० ६. २५ इत्यादि)। पहले श्लोक में मनु के इसी मत का उल्लेख किया गया है। और इस पर भगवान् का कथन है कि निरग्नि और निष्क्रिय होना कुछ सच्चे संन्यास का लक्षण नहीं है। काम्यबुद्धि का या फलाशा का त्याग करना ही सच्चा संन्यास है। संन्यास बुद्धि में है; अग्नि-त्याग अथवा कर्म-त्याग की बाह्य क्रिया में नहीं है। अतएव फलाशा अथवा संकल्प का त्यागकर कर्त्तव्य कर्म करनेवाले को ही सच्चा संन्यासी कहना चाहिए। गीता का यह सिद्धांत स्मृतिकारों के सिद्धांत से भिन्न है। इस प्रकार सच्चा संन्यास बतलाकर अब यह बतलाते हैं कि ज्ञान होने के पहले अर्थात् साधनावस्था में जो कर्म किये जाते हैं उनमें, और ज्ञानोत्तर अर्थात् सिद्धावस्था में फलाशा छोड़कर जो कर्म किये जाते हैं उनमें, क्या भेद है।"

* "न्यास एवातिरेचयत् । ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति'। इति श्रुतिः। अर्थ—संन्यास ही सबसे बढ़कर है। ब्राह्मण लोग पुत्र की इच्छा, धन की इच्छा और लोकों की इच्छा से रहित होकर भिक्षाटन से निर्वाह करते हैं। इस श्रुति से यही सिद्ध होता है कि सर्वप्रकार की इच्छा से रहितवाले का नाम संन्यासी है, अन्य का नहीं।

† संकल्प मन का स्वरूप है। इसका अर्थ दो वृत्तियों को मिलाना है। इस (संकल्प) का एक परिणाम तो चित्तवृत्ति का लहराना होता है

है परंतु भीतर से न कर्तृत्वादि संकल्प और न फल-कामना रखता है, बल्कि ऐसे सर्वप्रकार के संकल्पों को त्यागे हुए होता है ॥ २ ॥ *

संबंध—(१) इस प्रकार कर्मयोगी और कर्मसंन्यासी की बाह्याभ्यंतर रूप से एकता दर्शाकर अब भगवान् कर्मयोगी का योगारूढ़ (ध्यानयोगी वा सांख्ययोगी) के साथ संबंध और उनकी परस्पर आधार-आधेयतारूप स्थिति सहित उनके उपाय भेद के निरूपण करते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार कर्मयोग और संन्यास की परस्पर एकता दर्शाकर अब भगवान् कर्मयोग को ध्यानयोग (सांख्ययोग) का साधन दर्शाते हैं—

अथवा (३) फलेच्छा से रहित कर्मयोग ध्यानयोग का बहिरंग साधन है, इस उद्देश्य से उसकी संन्यासरूप से स्तुति करके अब भगवान् कर्मयोग को ध्यानयोग का साधन बतलाते हैं—

अथवा (४) शास्त्रों में यह स्पष्ट है कि योग में कर्म कारण है अर्थात् जब तक योगी कर्म न करे तब तक वह कर्मयोगी नहीं हो सकता; पर संन्यास में तो शम-दम कारण है, अर्थात् जब तक मनुष्य

और दूसरा (परिणाम) वृत्ति को बाहर के विषयों के सुख वा दुःख के प्रत्ययों के साथ जोड़ देना होता है; और इसी दूसरे परिणाम से मनुष्य में राग वा द्वेष की उत्पत्ति हो जाती है। संकल्प शब्द का अर्थ यहाँ उस वृत्ति से है कि जो कर्मों के सुख वा दुःखरूपी फलों से जोड़ती है। संकल्प छोड़ना इस स्थान पर कर्म में राग-द्वेष या कर्मफल छोड़ने से अर्थात् निष्काम कर्म करने से आशय रखता है।

* इस पर श्रीज्ञानदेवजी ऐसे व्याख्या करते हैं—"सुनो, जो संन्यासी सोई योगी है, ऐसी एक वाक्यता की पताका संसार में अनेक शास्त्रों ने फहराई है। जिन्होंने अपनी अनुभवरूपी तुला से यह सत्य ठहराया है कि जहाँ त्याग किये हुए संकल्प का लोप होता है, वहाँ योग के साररूपी ब्रह्म की भेंट होती है।"

शमी और दमी न हो तब तक वह संन्यासी नहीं हो सकता, इस प्रकार इन दोनों (योग और संन्यास) में परस्पर भेद पाया जाता है । ऐसी दशा में इन दोनों की एकता कैसे ? इस आपत्ति को दूर करने के आशय से भगवान् इन दोनों की आधार और आधेयरूप से स्थिति दर्शाकर उससे इनकी वास्तविक एकता स्पष्ट करने लगे हैं—

अथवा (४) अब भगवान् इस योग में क्रमोन्नति तथा सिद्धि के कारण बतलाने लगे हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

आरुरुक्षोः[2], मुनेः[3], योगं[1]	योग[1] पर चढ़ना[2] चाहते हुए मुनि[3] का, अर्थात् योग में आरूढ़ होने की इच्छावाले मुनि का
कर्म[1] कारणं[2], उच्यते[3]	कर्म[1] कारण[2] (साधन) कहा[3] जाता है
योग[2]-आरूढस्य[3], तस्य[1], एव[5], शमः[4], कारणं[6], उच्यते[7]	उस[1] योग[2] पर चढ़े[3] हुए का शम[4] ही[5] कारण[6] (साधन) कहा जाता[7] है

अन्वयार्थ—योगारूढ़ होने की इच्छावाले मुनि के लिए कर्म साधन कहा जाता है, और योगारूढ़ पुरुष के लिए (तो) शम ही साधन कहा जाता है ॥ ३ ॥ *

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! ऊपर यह अपना सिद्धांत मैंने स्पष्ट किया है कि बिना संकल्प त्यागे के न कोई वास्तव में योगी

---

* श्रीतिलक महाराज इसका ऐसे अर्थ करते हैं—"(कर्म-) योगारूढ़ होने की इच्छा रखनेवाले मुनि के लिए कर्म को (शम का) कारण अर्थात् साधन कहा है; और उसी पुरुष के योगारूढ़ अर्थात् पूर्ण योगी हो जाने पर उसके लिए (आगे) शम (कर्म का) कारण हो जाता है।

हो सकता है और न संन्यासी, (बल्कि संकल्पों का त्यागनेवाला ही वास्तव में योगी और संन्यासी होता है) जिससे संकल्प-निवृत्ति का नाम ही वास्तव में योग वा संन्यास है, और इसी लिए ये दोनों एक हैं। और यह भी दर्शाया जा चुका है कि संकल्पों तथा तृष्णाओं की निवृत्ति तो सुखपूर्वक निष्काम कर्म में युक्त होने से ही होती है, अर्थात् कर्म को केवल अपना कर्त्तव्य समझकर उसमें निष्काम चित्त वा ईश्वरार्पण बुद्धि से निरंतर युक्त रहने से ही संकल्प-निवृत्ति होती है, इसके बिना और किसी रीति से सुगमतापूर्वक नहीं होती। इसलिए संकल्प-निवृत्ति का कारण वा साधन कर्म कहा जाता है। पस, जो पुरुष संकल्प-निवृत्तिरूप योग को प्राप्त होना चाहते हैं, अर्थात् जो संकल्प-निवृत्ति से संपन्न होना चाहते हैं, उन्हें नित्य कर्त्तव्य कर्म निरासक्त चित्त वा ईश्वरार्पण बुद्धि से करते रहना चाहिए। चित्त से संकल्पों की ऐसी निवृत्त अवस्था ही शम है, क्योंकि संकल्प वा तृष्णा ही अशांति है और उसकी निवृत्ति ही शांति वा शम है। और इसी संकल्प-निवृत्तिरूप शांत अवस्था को प्राप्त हुए पुरुष का नाम यहाँ योगारूढ़ है। इसीलिए अगले श्लोक (४) में भी कहा है कि "सब संकल्पों का त्यागी योगारूढ़ कहलाता है।" और यह भी पूर्व दर्शाया गया है कि आत्म-शुद्धि के लिए योगी लोग कर्म करते हैं, और जब कर्म करते-करते अंतःकरण वा चित्त शुद्ध और शांत हो जाता है, तब उस शांत अवस्था में तत्त्व-चिंतन से चित्त-वृत्ति ध्यान में पूर्ण आरूढ़ होती है, जिससे समाधिस्थ होता हुआ पुरुष आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त होता है। इसीलिए चित्त की यह शम वा शांत अवस्था योगारूढ़ पुरुष के आत्मसाक्षात्कार का कारण वा साधन कहलाती है। पस, साक्षात्कार की जिज्ञासावाले और

संकल्प-निवृत्ति से संपन्न (योगारूढ़) पुरुष को चाहिए कि वह बाह्य कर्मों को छोड़कर एकांत स्थान में स्थित होकर इस संकल्प-निवृत्ति के कारण शुद्ध और शांत हुए चित्त में पूर्ण ध्यान से तत्त्व-चिंतन करे, जिससे चित्त-वृत्ति आत्मध्यान में पूर्ण आरूढ़ हो, और वह तत्त्व-साक्षात्कार को प्राप्त हो ॥ ३ ॥

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! ऊपर जो (श्लोक २ में) संकल्पों की निवृत्ति को योग * और उस अवस्था से युक्त हुए का नाम योगी वा योगारूढ़ कहा है, उस संकल्प-निवृत्तिरूप योग वा योगारूढ़ अवस्था को प्राप्त होने की इच्छावाले पुरुष को नित्य निष्काम चित्त वा ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्त्तव्य कर्म करते रहना चाहिए, क्योंकि विना कर्म के निष्कर्मता कदापि प्राप्त नहीं होती, (३, ४), और विना कर्म में युक्त होने के संकल्प-निवृत्ति-रूप योग (अर्थात् योगारूढ़ अवस्था) अथवा रागद्वेष से रहित

---

* यहाँ योग के अर्थ कोई कर्मयोग नहीं किंतु संकल्पों की निवृत्ति है जो पूर्व श्लोक में कही गई है। यही संकल्प-निवृत्ति यहाँ शम कहलाती है। कई टीकाकारों ने यहाँ शम से अभिप्राय कर्म-निवृत्ति लिया है, संकल्प-निवृत्ति नहीं। परंतु पूर्वापर के संबंध से यह अभिप्राय ठीक नहीं बैठता है। क्योंकि न तो अध्याय के आरंभ में और न अगले श्लोक में भगवान् ने कर्म-त्यागी को योगी वा संन्यासी कहा है, बल्कि सब जगह कर्म-फलों वा संकल्पों के त्यागी को ही योगी वा योगारूढ़ कहा है। यद्यपि स्पष्ट आशय यहाँ योग वा शम से केवल संकल्प-निवृत्ति ही निकलता है, तथापि श्रीशंकराचार्य वा मधुसूदन स्वामी इत्यादि कई एक टीकाकारों ने शम के अर्थ संकल्प-निवृत्ति के साथ-साथ बाह्य कर्म-निवृत्ति भी किये हैं (पर स्वाभाविक या कामना वा संकल्परहित मानसिक कर्म की निवृत्ति नहीं), जो बहुत विचार करने पर कई अंशों में नितांत युक्त बैठते हैं, इसलिए उनके आशय को लेकर भी आगे दो व्याख्या कर दी गई हैं। (टीकाकार)

निर्द्वंद्वरूप योग वा संन्यास का पाना अत्यंत कठिन है (५, ६)। इसलिए संकल्पों की निवृत्तिरूप योग अर्थात् योगारूढ़ अवस्था को प्राप्त करने की इच्छावाले पुरुष के लिए कर्म को (उस निवृत्ति वा शम का) कारण अर्थात् उपाय वा साधन कहा है। परंतु जो पुरुष कर्म करते-करते संकल्पों की निवृत्तिरूप शांति को प्राप्त होकर योगारूढ़ हो गये हैं, अर्थात् जो संकल्प-निवृत्ति-रूप योग वा योगारूढ़ अवस्था के शिखर पर चढ़ चुके हैं, उनको वहाँ (उस शिखर पर) स्थिर रखनेवाला कारण (साधन) अब केवल तृष्णा वा संकल्पों का त्यागरूपी शम है, सर्वथा कर्म का त्याग नहीं, क्योंकि सर्वथा कर्म का त्याग तो गीता के कथनानुसार असंभव ही है। अथवा दूसरी रीति से ऐसे भी व्याख्या हो सकती है कि चित्त की शांत वा निरासक्त अवस्था को प्राप्त करने के लिए कर्म की आवश्यकता पड़ती है. जिससे योगारूढ़ होने का कारण कर्म है। परंतु जब कर्म द्वारा चित्त पूर्ण शुद्ध, शांत और निरासक्त हो जाता है, तो इस निरासक्त चित्त के कारण पुरुष की फिर एक ही शरीर से नहीं किंतु सबसे अभेदता हो जाती है, जिस अभेदता से वह सबके हित में लग जाता और इस प्रकार लोक-संग्रह-निमित्त कुछ न कुछ कर्म स्वाभाविक करता ही रहता है। इसलिए योगारूढ़ अवस्था पाने के पश्चात् जो कर्म पुरुष से होते हैं, वे किसी आसक्ति, संकल्प वा इच्छा से, या अपने लिए कोई अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं होते किंतु चित्त की शम (शांत) और निरासक्त अवस्था के प्रभाव से केवल लोक-संग्रह-निमित्त वा स्वाभाविक ही होते हैं। इसीलिए भगवान् ने योगारूढ़ पुरुष के कर्म का कारण शम कहा है, कोई संकल्प वा निज-उद्देश्य इत्यादि नहीं ॥ ३ ॥

तीसरी व्याख्या--यह पूर्वाध्याय के श्लोक ६ में दर्शाया जा

चुका है कि रागद्वेष से रहित (निर्द्वंद्वरूप) अवस्था तथा चित्त-वृत्ति की शांत अवस्था, अथवा मन की एकाग्र और निरासक्त अवस्था प्रथम शारीरिक कर्म द्वारा ही होती है, क्योंकि विना कर्म के न मन ही सुगमता से एकाग्र वा निरासक्त होता है. और न चित्त ही ठीक शुद्ध वा शांत होता है, जिस लिए आरंभ में कर्म साधन होता है। और जब शारीरिक कर्म द्वारा मन ठीक एकाग्र और निरासक्त होने लग जाता है, और ऐसे ही चित्त-वृत्ति अपने भीतर आत्मध्यान में ठीक युक्त, लीन वा शांत होने लग जाती है, तब फिर बाह्य कर्म की आवश्यकता नहीं रहती, किंतु चित्त का निरोधरूप जो शम है उसी का ही आत्मसाक्षात्कारार्थ आश्रय लेना पड़ता है। अर्थात् बाह्य कर्म द्वारा मन के ठीक निष्काम, निरासक्त, निर्द्वंद्व वा निरोध होने पर फिर एकांत स्थान में बैठकर केवल तत्त्वचिंतन द्वारा निजस्वरूप के ध्यान में निरंतर युक्त रहना रूप जो आत्मसाक्षात्कार का साधन है, उसी की ही फिर आवश्यकता होती है, अन्य साधन की नहीं। इसी रहस्य को, जो पूर्व अध्याय में संक्षेप से दर्शाया जा चुका है, भगवान् अब स्पष्ट रूप से ऐसे कहते हैं कि हे अर्जुन! जो मुनि लोग योग * में आरूढ़ होने की इच्छावाले हैं, अर्थात्

---

* योग से यहाँ तात्पर्य कर्मयोग नहीं किंतु पातंजल योग के सूत्रानुसार चित्त-वृत्ति का निरोध अथवा मन की निरासक्त, संपूर्ण संकल्परहित, एकाग्र और शांत अवस्था अर्थात् ध्यानयोग है। यह योग प्रथम वैराग्य के विना कदापि प्राप्त नहीं होता; और वैराग्य विना निष्काम कर्म, दुःख और तत्त्वज्ञान के पुरुष में उत्पन्न नहीं होता, इसलिए ज्ञान सहित निष्काम कर्म प्रथम उस वैराग्य का और फिर (वैराग्य द्वारा) ध्यानयोग का कारण वा साधन कहलाता है।

जो मुनि अपने कर्त्तव्य वा निष्काम कर्म में युक्त होकर चित्त-वृत्ति के निरोध, मन की एकाग्रता वा निरासक्ति और समत्वबुद्धि की परिपक्कता को प्राप्त होना चाहते हैं, अथवा जो पुरुष पूर्ण रूप से एकाग्र, शांत, निरासक्त और सम चित्त होना चाहते हैं, अर्थात् जो अभी इस प्रकार के योग के जिज्ञासु हैं, उनके लिए उक्त अवस्था की प्राप्ति का कारण (साधन) कर्म ही है, अर्थात् ऐसी जिज्ञासावाले मुनियों को तो नित्य निष्काम कर्म ही करते रहना चाहिए। पर जो पुरुष योगारूढ़ हैं, अर्थात् जो योगी निष्काम कर्म द्वारा चित्त के निरोध वा मन की निरासक्ति तथा समत्वबुद्धि की परिपक्कता को प्राप्त हो चुके हैं, उनके लिए तो आत्मसाक्षात्कार-निमित्त चित्त की निरोध वा शांत अवस्था में तो अब निरंतर तत्त्वचिंतन ही साधन है। अर्थात् ऐसे योगारूढ़ पुरुषों को चाहिए कि वे अब बाह्य कर्मों को छोड़कर, एकांत स्थान में स्थित होकर, चित्त की इस निरोध वा शांत अवस्था में महावाक्यों के अर्थों का चिंतन करते-करते (इस चिंतन की निरंतर धारा से) निजस्वरूप के ध्यान में ऐसे लीन हों कि उन्हें मनोनाश और वासनाक्षय तथा आत्मसाक्षात्काररूप समाधि वा निजानंद का अक्षय सुख प्राप्त हो जाय ॥ ३ ॥

चौथी व्याख्या—हे अर्जुन ! 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'' "प्रमाण-विपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः इति।" (योग १, १, २), इन सूत्रों से स्पष्ट है कि चित्त-वृत्तिके निरोध का नाम योग है। और * प्रमाण,

---

* पाँचों वृत्तियों का सविस्तर वर्णन ऐसे है—(१) प्रमाण उसको कहते हैं जो प्रमा (ज्ञान) का कारण हो, अर्थात् जो ज्ञान के उत्पन्न करने-वाला हो। यह प्रमाण भी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धिरूप से छे प्रकार का कहलाता है। (२) विपर्यय मिथ्या

विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, ये पाँच चित्त-वृत्तियाँ हैं। जब ये पाँचों वृत्तियाँ किसी उपाय से निरोध को प्राप्त हुई होती हैं, तब वह योगारूढ़ अवस्था कहलाती है। पर चित्त-वृत्तियों का निरोध सुगमता से कर्म द्वारा ही होता है, ऐसा पूर्व अध्याय में दर्शाया जा चुका है; इसलिए चित्त-वृत्ति के निरोधरूप योग के जिज्ञासु के लिए कर्म साधन कहलाता है; अर्थात् चित्त-वृत्ति के निरोध को पाने के लिए पुरुष को निरासक्त मन से नित्य निष्काम कर्म करना चाहिए। जब निष्काम कर्म करते-करते चित्त-वृत्तियाँ पूर्ण निरासक्त अर्थात् निरुद्ध हो जायँ, तब आत्मसाक्षात्कार के लिए इस शांत (निरोध) अवस्था में महावाक्य के अर्थों द्वारा निजस्वरूप के ध्यान में निरंतर दीर्घ काल तक युक्त रहना अत्यावश्यक होता है; इसलिए निरोध को प्राप्त अर्थात् योगारूढ़ पुरुष के लिए आत्मसाक्षात्कारार्थ शम साधन कहलाता है। तात्पर्य यह कि योगारूढ़ पुरुष को आत्मसाक्षात्कार के लिए चित्त की इस शांत वा निरोध अवस्था में एक स्थान पर स्थित होकर येन केन उपाय से निजस्वरूप के ध्यान में निरंतर युक्त

ज्ञान को कहते हैं। यह विपर्यय भी अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश, इस भेद से पाँच प्रकार का है। (३) विकल्प उस वस्तु के ज्ञानाकार वृत्तिविशेष को कहते हैं कि जिस वस्तु का केवल शब्द से ज्ञान हो और रूप उसका न हो, जैसे वंध्या पुत्र वा शश शृंगादि। (४) निद्रा=प्रमाण, विकल्प, विपर्यय और स्मृति, इन चार वृत्तियों के अभाव का कारणरूप जो तमोगुण है, इस तमोगुण को विषय करनेवाली जो वृत्तिविशेष है, उसका नाम निद्रा है। (५) स्मृति उस ज्ञान को कहते हैं जो पूर्व अनुभव-जन्य संस्कारों से उत्पन्न हो। इस प्रकार इन पाँच वृत्तियों के निरोध का नाम पतंजलि मुनि ने योग कहा है। और इसी योग से यहाँ भगवान् का अभिप्राय दीखता है, कर्मयोग नहीं।

रहना चाहिए, और जब तक आत्मसाक्षात्कार न हो ले, तब तक इस प्रकार के एकांत अभ्यास में प्रवृत्त रहना चाहिए; क्योंकि अंत में इसी साधन वा अभ्यास से परमानंद की प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥ *

संबंध—(१) पुरुष योगारूढ़ कब होता है, इसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) पूर्ण निरासक्त रूप योगारूढ़ पुरुष के भगवान् अब लक्षण कहते हैं—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ ४ ॥

---

* श्रीज्ञानदेवजी अपने निराले ढंग से इसकी ऐसे व्याख्या करते हैं—"अब हे पार्थ! यदि योगरूपी पर्वत के शिखर पर पहुँचना हो तो इस कर्म-मार्गरूपी ज़ीने को मत छोड़ो। इस मार्ग से यम-नियमरूपी आधार भूमि पर से आसनरूपी पगडंडी पकड़कर प्राणायाम की कगार से ऊपर चढ़ो। फिर प्रत्याहाररूपी मध्यभाग आवेगा, जहाँ बुद्धि के भी पैर फिसलते हैं, और जिसका आक्रमण करते समय हठयोगी भी गिरने के डर से अपनी प्रतिज्ञाओं का परित्याग कर देते हैं। तथापि अभ्यास के बल से प्रत्याहार के निरालंब आकाश में धीरे-धीरे वैराग्य का आश्रय प्राप्त हो जावेगा। इस प्रकार वायुरूप घोड़े पर सवार हो धारणा के मार्ग से चलते रहो जब तक कि ध्यान की सीमा के पार न निकल जाओ। तब फिर इस मार्ग से चलना बंद हो जावेगा। मन की हाव भी बंद हो जावेगी। ब्रह्मानंद की एकता प्राप्त होने से साध्य और साधन एक में मिल जावेंगे, आगे चलना बंद हो जावेगा, और पिछला स्मरण भी रुक जावेगा। ऐसी समान भूमिका पर समाधि लग जावेगी। इस उपाय से योगारूढ़ हो जो अत्यंत प्रबुद्ध हो जाता है उसके लक्षणों का हम निर्णय करते हैं, सो सुनो।"

यदा^{1}, हि^{2}, न^{3}, इन्द्रिय^{4}-अर्थेषु^{5}	जब^{1} निःसंदेह^{2} न^{3} इंद्रियों^{4} के अर्थों में^{5}	सर्व^{1}-सङ्कल्प^{2}- संन्यासी^{3}	सारे^{1} संकल्पों^{2} का त्यागी^{3} होता है
न^{1}, कर्मसु^{2}, अनुषज्जते^{3}	न^{1} कर्मों^{2} में अनुषक्त^{3} होता है	योगारूढः^{2}, तदा^{1}, उच्यते^{3}	तब^{1} योगारूढ़^{2} वह कहलाता^{3} है

पहला अन्वयार्थ—जब निःसंदेह न इंद्रियों के अर्थों में और न कर्मों में (पुरुष) अनुषक्त होता है, और सब संकल्पों का त्यागी होता है, तब वह योगारूढ़ कहलाता है ॥ ४ ॥

दूसरा अन्वयार्थ—जब निश्चय करके (मनुष्य) न इंद्रियों के अर्थों में और न कर्मों में अनुषक्त होता है, तब (ऐसा) सर्व-संकल्पत्यागी (पुरुष) योगारूढ़ कहलाता है ॥ ४ ॥

पहले अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! जब ठीक-ठीक न इंद्रियों के विषयों में और न कर्मों में पुरुष अनुषक्त होता है; अर्थात् जिस समय पुरुष श्रोत्रादि इंद्रियों के शब्दादि विषयों में तथा नित्य-नैमित्तिक इत्यादि कर्त्तव्य कर्मों में नितांत अनुषंग * नहीं करता, बल्कि सर्वप्रकार के संकल्पों † को संपूर्ण रूप से

---

* अनुषंग और संग में इतना भेद है कि संग केवल विषयासक्ति का नाम है, पर इस आसक्ति के टूट जाने के पश्चात् जो किंचित्-मात्र पूर्व अध्यास से विषय के ख़्याल (संस्कार वा वृत्ति) मात्र के साथ संग रहता है, उसे अनुषंग कहते हैं, अँगरेज़ी में इसे lingering attachment कहते हैं। इस अनुषंग का भी न होना योगारूढ़ का लक्षण है।

† संकल्प के अर्थ कर्म नहीं, यद्यपि संकल्प कर्म का मूल अवश्य है, “सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञः सङ्कल्प सम्भवः”=कामना का मूल संकल्प है, और यज्ञ संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं (मनु० २, २)। पर स्वाभाविक कर्मों का मूल प्रकृति है, संकल्प नहीं। और दिन भर में मनुष्य के बहुत से कर्म स्वाभाविक होते हैं और बहुत से संकल्पज। इसलिए संकल्प-त्याग

त्यागे हुए होता है; अर्थात् "यह कर्म मुझको अवश्य करना है, यह फल मुझको भोगना है", इस प्रकार के मन की वृत्तिविशेष रूप जो संकल्प हैं, और इन संकल्पों के विषयभूत जो नाना प्रकार की कामनाएँ हैं, और इन कामनाओं के साधनभूत जितने काम्य कर्म हैं, इन सबको जब संपूर्ण रूप से त्यागे हुए है, तब वह पुरुष योगारूढ़ कहलाता है। तात्पर्य संक्षेप से यह है कि जब तक एक भी कामना, संकल्प और कर्तृत्व अभिमान वा किंचित् मात्र भी लगाव किसी अनात्म वस्तु के साथ हृदय में है, तब तक पुरुष (सर्वसंकल्प-त्यागरूपी) योग-प्राप्ति के प्रयत्न में है, योगारूढ़ नहीं है। पर जब निष्काम कर्म द्वारा वह उक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तब वह योगरूढ़ कहलाता है॥ ४॥

दूसरे अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! जब पुरुष निश्चय करके न इंद्रियों के अर्थों (विषयों) में और न कर्मों में अनुषक्त होता है, अर्थात् जब कर्मों और विषयों में पुरुष की संपूर्ण रूप से निरासक्ति हो जाती है; अर्थात् जब मनुष्य के हृदय में एक भी संकल्प किसी कामना या कर्म या विषय का नहीं रहता, बल्कि सब संकल्पों को त्यागे हुए होता है, तब ऐसा समस्त *

से काम्य वा संकल्पित कर्म छूट जाते हैं, न कि स्वाभाविक; परंतु कुछ टीकाकारों ने संकल्प के अर्थ कर्म लेकर सर्व संकल्प-संन्यासी से अभिप्राय समस्त कर्मों का त्यागनेवाला लिया है, जो यहाँ बिलकुल युक्त नहीं बैठता।

* कई व्याख्याकारों ने यहाँ सारे संकल्पों के त्यागी से अभिप्राय सारी कामनाओं और कर्मों के त्यागी से लिया है जो युक्त नहीं है, क्योंकि पूर्व श्लोक २ में उन्हीं ने संन्यस्त-संकल्प का अर्थ काम्यबुद्धिरूप फलाशा अथवा कर्म-फल का त्याग किया है, और उसी का अभी तक विषय चल रहा है। इसलिए सर्व संकल्प त्यागी का उचित अर्थ वा अभिप्राय यहाँ

संकल्पों का त्यागनेवाला पुरुष योगारूढ़ कहलाता है ॥ ४ ॥ *

संबंध—(१) योगारूढ होने के पश्चात् फिर उस पुरुष को क्या कर्त्तव्य है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) उक्त योगारूढ़ अवस्था पा लेने पर फिर और आगे उन्नति कैसे होती है, इसे भगवान् अब कहते हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥†

सब संकल्पों वा फल-कामनाओं का अथवा सब काम्य कर्मों का त्यागी ही है, समस्त कर्मों का त्यागी नहीं ।

* श्रीज्ञानदेवजी ने अनोखे ढंग से इस श्लोक की व्याख्या ऐसे की है— "जिसके इंद्रियों के घर विषयों का आवागमन नहीं है, जो आत्म-ज्ञान की कोठरी में सोता है, सुख-दुःखरूपी शरीर से संघटित होते भी जिसका मन जाग्रत् नहीं होता, जो पास आये हुए विषयों का स्मरण भी नहीं करता, इंद्रियगण कर्म में प्रवृत्त हों तथापि जो फल के हेतु की अंतःकरण में कभी इच्छा नहीं करता, इतना बड़ा देह धारण करते हुए जो जाग्रति में भी निद्रित दिखाई देता है, वही भली भाँति योगारूढ़ हुआ समझो ।

† इस विषय पर महाभारत (५. ३४. ६४) और विष्णुपुराण (६. ७. २८) में ऐसे श्लोक हैं—

"आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६४ ॥"
"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धस्य विषयासंगि मुक्तेर्निर्विषयं तथा ॥ २८ ॥"

अर्थ—मनुष्य को अपने आप ही मन, इंद्रिय और बुद्धि को जीत कर अर्थात् उन्हें अपने वश में करके आत्मा को (अपने आपको)

उद्धरेत्^{३},	आत्मा^{१} से	आत्मा^{२}, एव^{३},	क्योंकि^{१} आत्मा^{२}
आत्मना^{१},	आत्मा^{२} का	हि^{१}, आत्मनः^{४},	ही^{३} आत्मा^{४} का
आत्मानं^{२}	उद्धार^{३} करे	बन्धुः^{५}	बंधु^{५} है
न^{२}, आत्मानं^{१},	आत्मा^{१} को न^{२}	आत्मा^{१}, एव^{२},	आत्मा^{१} ही^{२}
अवसादयेत्^{३}	नीचे गिरावे^{३}	रिपुः^{४}, आत्मनः^{३}	आत्मा^{३} का शत्रु^{४} है

अन्वयार्थ—(मनुष्य) आत्मा * से आत्मा का उद्धार करे, आत्मा को नीचे न गिरावे । क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बंधु है, और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है ॥ ५ ॥ †

जानना चाहिए, अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए, क्योंकि आत्मा (यह मन बुद्धि संघात) ही मनुष्य का मित्र है और यह आत्मा ही मनुष्य का शत्रु है ॥ ६४ ॥

मनुष्य का मन ही उसके मोक्ष और बंधन दोनों का कारण है । इंद्रिय-विषयों में उसके आसक्त होने से वह बंधन का कारण होता है और उन विषयों में न फँसने से वह मुक्ति का कारण होता है ॥ २८ ॥

* आत्मा इस मनुष्य-शरीर में एक नहीं किंतु अनेक कहलाते हैं । आत्मा यों तो उस शक्ति को कहते हैं कि जो किसी दूसरी वस्तु पर किसी प्रकार के आकृति-परिणाम का प्रभाव डाल सकती है । और यह स्पष्ट ही है कि अपने आकृति (रूप) पर इंद्रियों और तन्मात्रा का प्रभाव पड़ता है, इंद्रियों पर मन का, मन पर अहंकार का, अहंकार पर बुद्धि का, और बुद्धि पर पुरुषोत्तम परमात्मा का प्रभाव पड़ता और पड़ सकता है, इसीलिए ये सब (इंद्रियाँ और तन्मात्रा आदि) आत्मा कहलाते हैं, यद्यपि पुरुषोत्तम परमात्मा इन सब शक्तियों का आधारभूत होने से वास्तव में एक शुद्धात्मा कहलाता है । उक्त सब आशय का समुच्चयार्थ एक शब्द "अपना आप" में ठीक आ जाता है, इसलिए आत्मा के अर्थ यहाँ 'अपना आप' ही किये गये हैं ।

† इस श्लोक के समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि इंद्रिय

व्याख्या—हे अर्जुन ! क्योंकि योगारूढ़ अवस्था मनुष्य-उन्नति का अंतिम लक्ष्य नहीं, अर्थात् यह अवस्था प्राप्त कर लेने पर उन्नति की सीमा समाप्त नहीं होती, और न यह नियम ही है कि पुरुष योगारूढ़ हो जाने पर नित्य संकल्प-रहित रह सके और अपनी प्राप्त अवस्था से फिसलने न पावे, बल्कि संभव है कि योगारूढ़ अवस्था पाने के थोड़े ही काल पीछे वह पुनः कामनाओं वा संकल्पों के जमघट में आ घिरे। इसलिए उसे चाहिए कि वह इतने पर ही बस न करे, बल्कि इस (अवस्था) के पाने के बाद वह अपने आपसे अपने आपका उद्धार करता रहे, और अपने आपको इस संसार-समुद्र में पुनः डूबने वा आसक्त होने न दे। अर्थात् जैसे ऊपर कहा है कि योगारूढ़ होने के लिए कर्म आवश्यक (वा साधन) है, और योगारूढ़ की स्थिति पा लेने पर आगे को

वा काम भी एक आत्मा है, मन भी एक आत्मा है, और बुद्धि, अहंकार यह भी एक आत्मा है। बुद्धि और अहंकार को उत्तम मनस् वा परमनस् भी कहते हैं। और मन को अधम मनस् वा अवर मनस् भी कहते हैं। इस परमनस् की ही एक किरण यह अवर मनस् है जो बाह्य ज्ञान-प्राप्ति के लिए काम-तत्त्व में उतरती है और उसके द्वारा बाहर ब्रह्मांड में फैलकर बाह्य विषयों के ज्ञान की वासना लेकर फिर उसी मार्ग से वापस लौटती परमनस् में जा मिलती है। जब यह किरण कामजाल में फँस जाती और ज्ञान-प्राप्ति का यत्न नहीं करती है, तो अंत में अधोगति को प्राप्त होते-होते परमनस् से मानों सर्वथा अलग ही हो जाती है। ऐसा होने से महा कष्ट और अंत में सर्वथा हानि ही प्राप्त होती है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि आत्मा को, अर्थात् अवर मनस् को आत्मा से, अर्थात् परमनस् की निरोध शक्ति से, ऊपर को निकाले, अर्थात् काम-तत्त्व में फँसने न दे, बल्कि वहाँ से निकालकर ऊपरवाले परमनस् के साथ मिलने के योग्य करे।

अधिक उन्नति (आत्मसाक्षात्कार) के लिए बाह्य कर्मों को छोड़ कर एकांत में अभ्यासरूपी शम का उपाय वा साधन अवश्य है; इस प्रकार जब पुरुष निष्काम कर्म द्वारा योगारूढ़ अवस्था को प्राप्त हो जाय, तब उसे चाहिए कि वह अपनी तृष्णा-रहित वा संकल्प-निवृत्तिरूप शम अवस्था से युक्त हुआ एकांत स्थान में स्थित होकर अपने आत्मचिंतन, अर्थात् अपने आत्म-ध्यान के बल से अपने आपका उद्धार करे, अर्थात् अपनी अधिक उन्नति करे। और जब तक पूर्ण उद्धार, अर्थात् आत्मसाक्षात्कार, न हो ले, तब तक अपने चित्त की संकल्प-विकल्प-निवृत्तिरूप शम अवस्था पर ही बस न करे, अर्थात् इसी को उन्नति की अंतिम सीमा न मान ले, बल्कि निरंतर आत्म-ध्यान (तत्त्व-चिंतन) से उस अवस्था से भी ऊपर उठता हुआ निजस्वरूप के ध्यान में लीन होवे, जिससे आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति और सर्व दुःखों की हानि लाभ हो। किसी प्रकार से भी अपनी उन्नति को बंद न होने दे, क्योंकि आत्मा (अपना आप) ही आत्मा का (अपना) बंधु है, और आत्मा (अपना आप) ही आत्मा का (अपना) शत्रु है। अर्थात् पुरुष आप ही अपना हितकारी है, और आप ही अपना वैरी होता है ॥ ५ ॥

संबंध—(१) किसका आत्मा उसका बंधु है और किसका शत्रु, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) किस प्रकार रहते हुए पुरुष का आत्मा बंधु है, और किस प्रकार रहते हुए उसका आत्मा शत्रु है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

बन्धुः^{४}, आत्मा^{३}, आत्मनः^{२}, तस्य^{१}	उस^{१} आत्मा^{२} का आत्मा^{३} बंधु^{४} है	अनात्मनः^{२}, तु^{१}, शत्रुत्वे^{५}, वर्तेत^{७}, आत्मा^{३}, एव^{६}, शत्रुवत्^{४}	किंतु^{१} अनात्मा^{२} का आत्मा^{३} शत्रुवत्^{४} शत्रुता^{५} में ही^{६} वर्तता^{७} है
येन^{१}, आत्मा^{२}, एव^{३}, आत्मना^{४}, जितः^{५}	जिसने^{१} आत्मा^{२} से ही^{३} आत्मा^{४} जीता^{५} हुआ है		

अन्वयार्थ——निःसंदेह उस आत्मा का आत्मा बंधु है जिसने आत्मा से आत्मा जीता हुआ है। किंतु अनात्मा (न जीते हुए आत्मा) का आत्मा निःसंदेह शत्रुवत् शत्रुता में वर्तता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिस पुरुष ने अपने आपको अपने आत्मिक बल से जीत लिया है, उसका अपना आप उसका मित्र है; पर जिसने नहीं जीता, उसका अपना आप उसके साथ शत्रु के * समान शत्रुता करता है। अथवा जिसने अपने शरीर, इंद्रिय, प्राण और अंतःकरणरूपी संघात (आत्मा) को अपने आत्मिक ज्ञान के बल से अपने वश में कर लिया है, उसका यह शरीर-इंद्रियरूपी संघात (आत्मा) उसके लिए मित्र है; और जिसने इस संघातरूपी आत्मा को अपने वश में नहीं किया, बल्कि जो स्वयं इस संघात के वश में आकर अपने को अनात्मा समझ रहा है, ऐसे अनात्मा का यह संघातरूप आत्मा उसके लिए बाह्य शत्रु के

---

* ये इंद्रिय, मन, बुद्धिरूप आत्मा शरीर के साथ केवल पुरुष की सेवा और सहायता के लिए उत्पन्न हुए हैं, कोई हानि पहुँचाने के लिए नहीं। इसलिए ये सब वास्तव में पुरुष के सेवक और मित्र हैं, शत्रु नहीं। परंतु जब पुरुष (इनका स्वामी) इन (सेवकों) से ठीक काम (सेवा) नहीं लेता, तब ये शत्रुवत् दिखाई देते हैं, यद्यपि ये तब भी पुरुष के वास्तव में शत्रु नहीं हो जाते। इसलिए भगवान् ने इन्हें शत्रु के तुल्य यहाँ कहा है, ठीक वा वास्तव में शत्रु नहीं।

तुल्य शत्रुता में वर्तता अर्थात् बड़ी हानि पहुँचाता है। अथवा जिस पुरुष ने अपने आत्मिक बल अथवा आत्मसाक्षात्कार से इस मनरूपी आत्मा को जीत लिया है, उसका मन उसके लिए मित्र (यार) हो जाता है; परंतु जिसने नहीं जीता, बल्कि जो इस मन के अधीन हो गया है, उसका मन उसके लिए बाह्य वैरियों के समान उसका वैरी (शत्रु) होता है। अथवा जिस बुद्धि ने अपने बल से अर्थात् विवेक-शक्ति से मन को अधीन कर लिया है, उस बुद्धि का वह मन मित्र है; और जिसने मन को तो अधीन नहीं किया बल्कि जो स्वयं मन के अधीन हो गई है, उस अधीन हुई बुद्धि का मन शत्रुतुल्य उसके साथ वर्ताव करता है, अर्थात् बुद्धि को अत्यंत हानि पहुँचाता है। संक्षेप से यह कि जिसने अपने आपको जीत लिया, अर्थात् जो जितेंद्रिय और ज्ञानवान् वा विवेकी है, वह स्वयं अपना बंधु है; और जिसने अपने आपको नहीं जीता और नहीं पहचाना, अर्थात् जो अजितेंद्रिय और अविवेकी है, वह स्वयं अपने साथ शत्रु के समान वैर करता है। और श्रुति में भी स्पष्ट है कि "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥" (केन, २, ५)=इस दुर्लभ मानव जन्म को पाकर यदि इसी जन्म में आत्मा को जान लिया तो (जन्म लेना) ठीक है, यदि नहीं जाना तो बड़ी हानि है। अतएव धीर पुरुष घट-घट में आत्मा का चिंतन वा अनुभव करके इस लोक से मुँह मोड़कर अमृत (अमर) होते हैं॥ ६॥ *

---

* उक्त श्लोक ५ के फ़ुटनोट के अनुसार ऐसा भी कह सकते हैं कि कामात्मा अवर मनस् का शत्रु है और परमनस् उसका मित्र है। क्योंकि पहला अधोगति वा नाशप्राय कर देता है, और दूसरा देवता बनाता ब्रह्म

संबंध—(१) अब जितात्मा पुरुष के आत्मा की बंधुता भगवान् स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) जितात्मा पुरुष के फल को भगवान् अब तीन श्लोकों में कथन करते हैं—

अथवा (३) जितात्मा पुरुष के लक्षण भगवान् अब तीन श्लोकों में प्रकट करते हैं—

अथवा (४) जितात्मा होने पर ही मनुष्य ठीक योगारूढ़ हो सकता है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं--

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

तक पहुँचा देता अर्थात् ब्रह्म में लीन करा देता है । अथवा अवर मनस् ही, जब काम में मग्न वा आसक्त हो, तो अपना शत्रु है, और जब परमनस् की ओर झुके, तो अपना ही वह मित्र है ।

श्रीतिलक महाराज इन दो श्लोकों (६, ७) पर ऐसे व्याख्या करते हैं--"इन दो श्लोकों में आत्म-स्वतंत्रता का वर्णन है और इस तत्त्व का प्रतिपादन है कि हरएक को अपना उद्धार आप ही कर लेना चाहिए; और प्रकृति कितनी ही बलवती क्यों न हो उसको जीतकर आत्मोन्नति कर लेना हरएक के स्वाधीन है । मन में इस तत्त्व के भली भाँति जम जाने के लिए ही एक बार अन्वय से और फिर व्यतिरेक से—दोनों रीतियों से—वर्णन किया है, कि आत्मा अपना ही मित्र कब होता है, और आत्मा अपना शत्रु कब हो जाता है, और यही तत्त्व फिर (१३. २८ श्लोक) में भी आया है । संस्कृत में 'आत्मा' शब्द के ये तीन अर्थ होते हैं । (१) अंतरात्मा, (२) मैं स्वयं, और (३) अंतःकरण या मन । इसी से यह आत्मा शब्द इसमें और अगले श्लोकों में अनेक बार आया

जिन-आत्मनः[2], प्रशान्तस्य[3], परमात्मा[4], समाहितः[5]	जीते[1] हुए आत्मा[2] और शांत[3] हुए का परमात्मा[4] (परम स्वरूप) समाधिस्थ[5] (एकाग्र होता) है	शीत[1]-उष्ण[2]-सुख[3]-दुःखेषु[4], तथा[5], मान[6]-अपमानयोः[7]	सर्दी[1], गरमी[2], सुख[3], दुःख[4] और[5] मान[6]-अपमान[7] में

अन्वयार्थ—प्रशांत और जितात्मा का परमात्मा * शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में समाहित रहता है ॥ ७ ॥

है। अब बतलाते हैं कि आत्मा को अपने अधीन रखने से क्या फल मिलता है।"

* 'परमात्मा' शब्द का पदच्छेद यदि 'परं-आत्मा' इन दो पदों से किया जाय और परं का अर्थ 'केवल' लिया जाय, तो यह अर्थ होगा कि—"केवल जितात्मा पुरुष का आत्मा एकाग्र होता है, अन्य का नहीं।" यही तात्पर्य श्री श्रीधर ने लिया है। श्रीशंकराचार्य ने 'परमात्मा' एक पद लिया है और उसकी जीव के साथ अभेदता दर्शायी है। श्री रामानुज ने परमात्मा को एक पद मानकर यह लिखा है कि जीवात्मा ही यहाँ परमात्मा कहा है; क्योंकि उसी का यहाँ प्रकरण है, और वह भी पूर्वापर अवस्था की अपेक्षा से परम आत्मा है, अर्थात् अन्नमय आत्मा आदि की अपेक्षा से परमात्मा है। श्रीतिलक महाराज ने इस शब्द की ऐसे व्याख्या की है कि "इस श्लोक में 'परमात्मा' शब्द आत्मा के लिए ही प्रयुक्त है। देह का आत्मा सामान्यतः सुख-दुःख की उपाधि में मग्न रहता है; परंतु इंद्रिय-संयम से उपाधियों को जीत लेने पर यही आत्मा प्रसन्न हो करके परमेश्वरस्वरूपी या परमात्मरूपी बना करता है। परमात्मा कुछ आत्मा से विभिन्न स्वरूप का पदार्थ नहीं है, आगे (गी० १३, २२ और ३१) में ही कहा है कि मानवी शरीर में रहनेवाला आत्मा ही तत्त्वतः परमात्मा है। महाभारत में भी यह वर्णन है—'आत्मा

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! जिसने अपने आपको, अर्थात् मन-इंद्रिय सहित शरीर को, अपने वश कर लिया है, और इसी से

क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः। तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥' अर्थ—प्राकृत अर्थात् प्रकृति के गुणों से (सुख-दुःख आदि विकारों से) बद्ध रहने के कारण आत्मा को क्षेत्रज्ञ या शरीर का जीवात्मा कहते हैं; और इन गुणों से मुक्त होने पर वही परमात्मा हो जाता है (म. भा. शां. १८७, २४)।...............अद्वैत वेदांत का सिद्धांत भी यही है। जो कहते हैं, कि गीता में अद्वैत मत का प्रतिपादन नहीं है, विशिष्टाद्वैत या शुद्ध द्वैत ही गीता को ग्राह्य है, वे 'परमात्मा' को एक पद न मान 'परं' और 'आत्मा' ऐसे दो पद करके 'परं' को 'समाहितः' का क्रियाविशेषण समझते हैं। यह अर्थ क्लिष्ट है; परंतु इस उदाहरण से समझ में आ जावेगा कि सांप्रदायिक टीकाकार अपने मत के अनुसार गीता की कैसी खींचातानी करते हैं।"

हमारे विचार में तो 'आत्मा' 'परमात्मा' ये दोनों सापेक्षक शब्द हैं, और निरपेक्ष परमात्मा वा आत्मा न कभी किसी के अधीन हुआ न हो सकता है, और न इसीलिए आज तक किसी से जीता गया और न जीता जा सकता है। वह तो अपने स्वरूप में अज, अमर, स्वतंत्र, स्वतःस्थित, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, निर्विकार, कूटस्थ और अचल है। ऐसे परमात्मा वा आत्मा के विषय में तो भगवान् उसे अधीन हुआ या क्षुभित अवस्था से निकलकर समाहित हुआ कह ही नहीं सकते; इसलिए परमात्मा वा आत्मा ये दोनों शब्द सापेक्ष रूप से यहाँ आये हैं। जैसे पूर्व श्लोक ५ में सापेक्ष आत्मा एक नहीं किंतु बहुत दर्शाये गये हैं, वैसे सापेक्ष रूप से परमात्मा भी शरीर में एक नहीं किंतु बहुत से कहे जा सकते हैं। अर्थात् जैसे देह में जड़रूप की अपेक्षा से इंद्रियाँ (जिनका रूप पर प्रभाव पड़ता है) आत्मा हैं, और इंद्रियों की अपेक्षा से मन (जिसका उन इंद्रियों पर प्रभाव पड़ता है) आत्मा

जिसका आत्मा अर्थात् अंतःकरण शुद्ध वा शांत हो गया है, ऐसे जितेंद्रिय और शांतात्मा का परमात्मा (परमस्वरूप) शीत-उष्ण (सर्दी-गरमी), सुख-दुःख तथा मान-अपमान (इज्ज़त, बे-इज्ज़ती) में समाहित (अचल, एकाग्र, सम वा स्थिर) रहता है। तात्पर्य इसका यह है कि--जैसे मन और इंद्रियों के अधीन हुए (अनुचर वा अजितेंद्रिय) पुरुष को अपनी इंद्रियों के चलायमान होने से अथवा मन के दुःखी-सुखी होने से उसे अपना अंतरात्मा (परमस्वरूप) भी चलायमान और दुःखी-सुखी प्रतीत होता है, वैसे जितात्मा (मन और इंद्रियाँ जिसके अधीन हो गई हैं) और प्रशांत चित्त पुरुष को इन (सुख-दुःखरूप) अवस्थाओं में अपना परमस्वरूप चलायमान या दुःखी-सुखी प्रतीत नहीं होता, बल्कि इसके विरुद्ध उसे प्रत्येक दशा में वह अडोल, अचल, निर्विकार, सम और पूर्ण शांत ही अनुभव होता रहता है ॥ ७ ॥

दूसरी व्याख्या--हे अर्जुन! जिसने अपने आपको, अर्थात् मन-इंद्रिय इत्यादि को जीत लिया है और इसी से जो उक्त शम अवस्था से पूर्ण युक्त हुआ है, उसका यह लक्षण होता है कि वह

है, इत्यादि; वैसे ही इंद्रियरूप आत्मा की अपेक्षा से मन (जो इंद्रियों से परम अर्थात् अधिक शक्तिवाला और बलवान् है, और जिसके आश्रय इंद्रियाँ काम करती हैं) परमात्मा है, और मन की अपेक्षा से बुद्धि (जो मन से भी अति सूक्ष्म और बलवान् है) परमात्मा है, और ऐसे ही बुद्धि की अपेक्षा से जीव, तथा जीव की अपेक्षा से परमात्मा वा शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। इस प्रकार परमात्मा के अर्थ यहाँ मन और बुद्धि भी हो सकते हैं, परंतु शुद्ध वा निरपेक्षस्वरूप की दृष्टि से परमस्वरूप (आत्मा) ही होते हैं। (टीकाकार)

अर्थात् उसका परम बलवान् मन सर्दी-गरमी, सुख और दुःख में, तथा मान-अपमान में अचल, स्थिर और एक समान रहता है। अर्थात् शांत और जितात्मा होने के पश्चात् उस मनुष्य (या मन) पर ये शीत-उष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान इत्यादि द्वंद्व किंचित् अपना प्रभाव नहीं डाल सकते, जिससे वे उसे चलायमान, अस्थिर वा क्षुभित नहीं करते, बल्कि वह इन सब अवस्थाओं में नित्य अचल और एक समान ही रहता है ॥ ७ ॥

संबंध—(१) उक्त जितात्मा और सब अवस्थाओं में समाहित (योगारूढ़) पुरुष आत्मसाक्षात्कार से तृप्त हुआ पूर्ण योगी (बढ़ा-चढ़ा योगी वा समाधिस्थ) होता है; इसे भगवान् अब कथन करते हैं—

अथवा (२) जितात्मा योगारूढ़ पुरुष कब पूर्ण युक्त (पूर्ण सिद्ध वा समाधिस्थ) होता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (३) जितात्मा जिन लक्षणों से योगारूढ़ अवस्था से बढ़कर सिद्ध वा युक्त कहलाता है, उन लक्षणों को भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

ज्ञान1-विज्ञान2-तृप्त3-आत्मा4	ज्ञान1, विज्ञान2 से तृप्त3 आत्मावाला4	युक्तः6, इति7, उच्यते8, योगी5, सम4-लोष्ट1-अश्म2-काञ्चनः3	ढेला1 पत्थर2 और सोने3 को समान4 (समझनेवाला) योगी5 युक्त6 है, ऐसा7 कहा जाता है8
कूट1-स्थः2, विजित3-इन्द्रियः4	अहरन1 के तुल्य अचल स्थित2 और जीती3 हुई इंद्रियोंवाला4		

अन्वयार्थ—ज्ञान-विज्ञान से तृप्तात्मा, कूटस्थ, जीती हुई इंद्रियों-वाला, ढेला-पत्थर और सोना को एक समान समझनेवाला योगी 'युक्त' है, ऐसा कहा जाता है ॥ ८ ॥

पहली व्याख्या--हे अर्जुन ! जिस योगी (योगारूढ़ वा ध्यानयोगी) का आत्मा (चित्त या अपना आप) अपने परम-स्वरूप के ज्ञान * और विज्ञान, अर्थात् परोऽक्षज्ञान और अपरोऽक्षज्ञान से तृप्त (प्रसन्न और संतुष्ट) हो गया है; जो योगी कूटस्थ † रहता है, अर्थात् अहरन के तुल्य विषयों के समीपस्थ होने पर भी जो अचल और निर्विकार रहता है; जिस योगी ने अपनी इंद्रियों को जीता हुआ अर्थात् पूर्ण वश में किया हुआ है; और जिस योगी को मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण सब एक समान हो गये हैं; ऐसा योगी पूर्ण युक्त, अर्थात् पूरा-पूरा समाधिस्थ वा सिद्ध कहलाता है ॥ ८ ॥

---

* ज्ञान जो उपदेश से प्राप्त हुआ हो, अथवा गुरु के उपदेश से उत्पन्न हुई जो शास्त्रोक्त पदार्थों के विषय करनेवाली बुद्धि । विज्ञान जो अपने अनुभव से प्राप्त हो, अथवा उक्त बुद्धि की वृत्तिरूप विचार से उन शास्त्रोक्त पदार्थों का अनुभव । (पहला) जो शास्त्र और आचार्य के उपदेश से प्राप्त हुआ बोधरूप ज्ञान है, वह परोऽक्ष ज्ञान होता है । और (दूसरा) जो अपने अनुभव से स्वतः प्राप्त विज्ञान है, अथवा उक्त शास्त्रोक्त ज्ञान का जो अनुभवरूप विज्ञान है, वह अपरोऽक्ष ज्ञान होता है; इसके होने पर फिर इसी के शास्त्रोक्त वा उपदिष्ट ज्ञान में कोई संशय वा भ्रम नहीं रहता । इसलिए पहले ज्ञान को परोऽक्ष और दूसरे विज्ञान को अपरोऽक्ष ज्ञान कहते हैं । श्रीरामानुज के अनुसार—"आत्मा के स्वरूप का जानना ज्ञान है, और उसको प्रकृति से विजातीयस्वरूप से जानना विज्ञान है ।" पर श्रीशंकराचार्यजी शास्त्रोक्त पदार्थों को समझने का नाम ज्ञान और शास्त्र से समझे हुए भावों को वैसे ही अपने अंतःकरण में प्रत्यक्ष अनुभव करने का नाम विज्ञान कहते हैं ।

† कूटस्थ के अक्षरार्थ (कूट=अहरन+स्थ=ठहरा हुआ) अहरन

दूसरी व्याख्या—हे अर्जुन ! जब योगारूढ़ पुरुष अभ्यास द्वारा आत्मा के ज्ञान और विज्ञान से प्रसन्न और संतुष्ट होता है ; जब अहरन के तुल्य वह निर्विकार वा कूटस्थ होता है, अर्थात् जब योगारूढ़ का चित्त विषयों इत्यादि से किंचित् चलायमान नहीं होता ; जब उसकी समस्त इंद्रियाँ अपने अधीन हुई होती हैं ; और जब उसकी वृत्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी होती है (अथवा उसकी तत्त्वदृष्टि ऐसी परिपक्व अवस्था को प्राप्त हुई होती है) कि उसे मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण सब एक समान भान होने लगते हैं ; तब कहते हैं कि उस योगारूढ़ का आत्मा (चित्त वा अपना आप) पूर्ण समाहित (समाधिस्थ) है, अथवा तब उस योगारूढ़ की अवस्था पूर्ण ध्यान में युक्त, * पूर्णसिद्ध और योग के उच्च शिखर (गति) को प्राप्त हुई कही जाती है ॥ ८ ॥ †

बनकर ठहरा हुआ । तात्पर्य यह कि जैसे अहरन पर दिन-रात ताँबा-चाँदी कूटते रहते हैं, पर वह अहरन उन चोटों से हिलती-डुलती नहीं, किंतु अचल ही रहती है ; वैसे विषयों के समीपस्थ होने पर (अथवा विषयभोगों से) भी जब उनके प्रभाव मन पर पड़ रहे हों और वह मन वा अंतःकरण विषयों के उन प्रभावों से किंचित् हिले-डुले नहीं किंतु अचल रहे, तो वह अवस्था कूटस्थ कहलाती है ।

* 'युक्त' शब्द से अभिप्राय यहाँ चित्त की वह अवस्था है जो योग के जिज्ञासु और योगारूढ़ दोनों की अवस्था से बढ़ी-चढ़ी वा श्रेष्ठ हो । इसलिए युक्त पुरुष इन दोनों (योगारूढ़ और योग के जिज्ञासु) से विलक्षण और उत्तम है ।

† श्रीज्ञानदेवजी ने अनोखे ढंग से इस श्लोक की ऐसे व्याख्या की है—"यह जो संसारज्ञानात्मक भाव है, सो विचारते ही उस (योगीश्वर) को मिथ्या जान पड़ता है । और ज्यों ही विचार करता है, त्यों ही वह

संबंध—(१) उक्त युक्त अर्थात् पूर्ण सिद्ध वा समाहित अवस्था से भी जो और श्रेष्ठ अवस्था है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) जड़ पदार्थों की अपेक्षा जो चेतन पदार्थों में भी समबुद्धि रखता है, वह उक्त (केवल जड़ पदार्थों में समबुद्धि रखनेवाले) युक्त पुरुष से भी अधिक वा विशेष युक्त है, ऐसा भगवान् अब दर्शाते हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ६ ॥

सुहृद्[१]-मित्र[२]-	सुहृद्[१], मित्र[२],	साधुषु[१], अपि[४],	साधुओं[१] और[२]
अरि[३]-उदासीन[४]-	शत्रु[३], उदासीन[४],	च[२], पापेषु[३],	पापियों[३] में भी[४]
मध्यस्थ[५]-द्वेष्य[६]-	मध्यस्थ[५], द्वेष्य[६],	सम[५]-बुद्धिः[६],	सम[५]-बुद्धि[६] पुरुष
बन्धुषु[७]	और बन्धुओं[७] में	विशिष्यते[७]	विशेष[७] (उत्कृष्ट) है

स्वयं ज्ञानरूप हो जाता है। फिर 'मैं व्यापक हूँ कि अव्यापक हूँ' ऐसा तर्क करना द्वैतभाव न रहने के कारण आप ही आप बंद हो जाता है। इस प्रकार जिसने इंद्रियों को जीत लिया है, सो यद्यपि देहधारी हो तथापि योग्यता में परब्रह्म के तुल्य समझा जाता है। जितेंद्रिय वही है और योगयुक्त उसी को कहना चाहिए जो कभी यह छोटा और वह बड़ा ऐसा भेद नहीं जानता, जो मेरु पर्वत जैसा विशाल, स्वर्ण का गोला और मिट्टी का ढेला दोनों समान ही समझता है, और जो इतना निरिच्छ है कि जिसके आगे पृथिवी का मोल भी थोड़ा है, ऐसे उत्तम और अमोल रत्न को भी पत्थर के समान समझता है; तो फिर उसमें मित्र और शत्रु अथवा उदासीन और मित्र ऐसे विचित्र भिन्न भावों की कल्पना कैसे हो सकती है ?"

अन्वयार्थ——सुहृद् *, मित्र, शत्रु †, उदासीन ‡, मध्यस्थ, द्वेष्य, बंधुओं, साधुओं और पापियों में भी (जो) समबुद्धि (है वह) विशिष्ट है ॥ ९ ॥

---

* सुहृद् और मित्र में संक्षेप से भेद यह है कि सुहृद् केवल शुभचिंतक होता है, और मित्र केवल स्नेही या सखा होता है। अन्य टीकाकार भी लगभग ऐसे ही अर्थ देते हैं——सुहृद्="प्रत्युपकार का ख़्याल न करके उपकार करनेवाला" (श्रीशंकराचार्य)। "स्वभाव से ही हित चाहनेवाला" (श्री श्रीधर)। "प्रत्युपकार का ख़्याल न करके तथा पूर्वले स्नेह और संबंध के विना ही उपकार करनेवाला" (श्रीमधुसूदन)। और मित्र जो केवल स्नेही या स्नेह के वश हुआ शुभचिंतक होता है। श्रीरामानुज के अनुसार इनका ऐसा भेद है——"वह हितैषी जो अपने बराबर की अवस्था के हों, वे मित्र; और जो अवस्था में बराबर न हों, वे सुहृद् कहलाते हैं।"

† शत्रु और द्वेष्य में यह भेद है कि——शत्रु वह है जो अपने क्रूर स्वभाव के कारण विना ही बिगाड़ के बिगाड़ करे, अथवा जो सामने और पीठ पीछे बुरा चाहे और वैसा ही करे; अथवा श्रीरामानुजानुसार "जो किसी निमित्त से हमारा बुरा चाहे"। और द्वेष्य वह है कि——(१) जिसने हमारा कुछ बिगाड़ा है जिससे द्वेष के योग्य है; (२) अथवा दूसरे का भला देखकर जो कुढ़े ; (३) या जो ऊपर से तो मेल रक्खे, पर भीतर से शत्रुता रक्खे; (४) या जो अपकार किये जाने पर द्वेष करता हो।

‡ उदासीन और मध्यस्थ में यह भेद है कि——जो दो झगड़नेवालों से निःसंबंध और बेपरवाह हो, अर्थात् जो दो झगड़नेवाले दलों के पुरुषों में से न किसी का भला चाहे और न बुरा, वह उदासीन है। और जो उन दोनों में से किसी का पक्ष तो न ले, पर उनका भला चाहे, वह मध्यस्थ है। बंधु=रिश्तेदार, अथवा जो किंचित् संबंध के कारण उपकार

व्याख्या—हे अर्जुन ! मिट्टी के ढेले, स्वर्ण और पत्थर इत्यादि जड़ पदार्थों को एक समान समझना इतना कठिन नहीं जितना कि चेतन पदार्थों में (अपने मित्र, शत्रु इत्यादि में) समताभाव रखना कठिन है। इसलिए "समत्वं योग उच्यते" (२, ४८) इस नियमानुसार यद्यपि मिट्टी के ढेले, स्वर्ण और पत्थर इत्यादि जड़ पदार्थों को एक समान समझनेवाला अर्थात् उन्हें सम भान करनेवाला पुरुष भी युक्त अर्थात् पूर्ण सिद्ध वा समाधिस्थ योगी है; परंतु इससे भी अधिक युक्त अर्थात् सर्वप्रकार से परिपूर्ण समाहित, विशेष सिद्ध, वा बढ़ी-चढ़ी अवस्थावाला योगी वह पुरुष है कि जो सुहृदों (अपने शुभचिंतकों), मित्रों (सखा या स्नेही पुरुषों), शत्रुओं (वैर करनेवालों), उदासीनों (बेपरवाहों, वा निःसंबंधी पुरुषों), मध्यस्थों (दोनों पक्षों का भला चाहनेवालों), द्वेष्यों (द्वेष किये जाने योग्य, अथवा अप्रिय पुरुषों), बंधुजनों तथा साधुओं (भले या सदाचारी पुरुषों) और पापियों (बुरे अथवा दुराचारी पुरुषों) में भी सम बुद्धि रखता है । संक्षेप से यह कि जो केवल जड़ पदार्थों में ही एक समान बुद्धि नहीं रखता किंतु इससे बढ़कर चेतन पदार्थों (प्राणिमात्र) में भी समबुद्धि रखता है, वह योगी विशेष करके युक्त है, अथवा उक्त (केवल जड़ पदार्थों में ही एक समान

करे, वह बंधु है । साधु=धर्मात्मा, भला वा सदाचारी पुरुष, अर्थात् शास्त्र-विहित शुभ कर्मों को करनेवाला । और पापी=अधर्मी, बुरा वा दुराचारी, अर्थात शास्त्रनिषिद्ध अशुभ कर्मों के करनेवाला । संक्षिप्त भाव इस श्लोक का यह है कि मिट्टी के ढेले, स्वर्ण और पत्थर को बराबर समझना तो बड़े पहुँचे हुए पुरुष ही का काम है, परंतु वह उससे भी अधिक पहुँचा हुआ होता है कि जो मित्र और शत्रु आदि में अर्थात सर्वप्रकार के प्राणियों में भी समबुद्धि होता है ।

बुद्धि रखनेवाले) योगी की अपेक्षा यह (प्राणियों में समदर्शी) अधिक बढ़-चढ़कर अर्थात् अधिक श्रेष्ठ वा परिपूर्ण युक्त है ॥ ९ ॥

संबंध—इस प्रकार पूर्ण युक्त (समाधिस्थ) पुरुष का लक्षण और फल कहकर भगवान् अब उस शमरूप ध्यानयोग के साधन को कि जो पूर्वयोगारूढ़ पुरुष के लिए आगे की उन्नति वा आत्मसाक्षात्कार का कारण बताया गया था, सहित उसके अंगों और विधि के विस्तारपूर्वक आगे श्लोक ३२ तक वर्णन करते हैं—

अथवा (२) समाधियोग में युक्त पुरुष का लक्षण और फल कह कर भगवान् अब उस समाधियोग को सहित अंगों के वर्णन करते हैं—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥*

योगी[३], युञ्जीत[६], सततं[४], आत्मानं[५], रहसि[१], स्थितः[२]	एकांत[१] में स्थित[२] होकर योगी[३] निरंतर[४] अपने[५] आपको युक्त[६] करे	एकाकी[१], यत[२]- † चित्त[३]-आत्मा[४], निर्[६]-आशीः[५], अ[८]-परिग्रहः[७]	अकेला[१], वश में[२] किये हुए चित्त[३] और आत्मा[४] वाला होकर आशा[५]- रहित[६] और परिग्रह[७]-रहित[८] (होकर)

---

* इस विषय में महाभारत (५. ४३. ५६) में ऐसे वर्णन है—

"तूष्णींभूत उपासीत न चेष्टेन्मनसाऽपि च ।
उपावर्तस्व तद्ब्रह्म अन्तरात्मनि विश्रुतम् ॥"

अर्थ—मौन होकर बैठे और मन से भी चेष्टा अर्थात् कर्म करने की इच्छा न करे। इस प्रकार उपासना करने से आत्मा में ही ब्रह्म अनुभव होता है।

† 'यतचित्तात्मा' यह शब्द योगी का गुणवाचक अधिक हो सकता

अन्वयार्थ---योगी अकेला एकांत में स्थित होकर, वश किये हुए चित्त और आत्मावाला, तथा आशा और परिग्रह-रहित होकर अपने आपको निरंतर (आत्मध्यान में) युक्त करे ॥ १० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! पूर्व श्लोक ३ में जो योगारूढ़ पुरुष के उद्धार के लिए शमरूप साधन कहा गया था, अर्थात् शारीरिक बाह्य कर्म को त्यागकर केवल एकांत में तत्त्वचिंतन से निज-स्वरूप के ध्यान में युक्त होकर साक्षात्कार करने वा अपने स्वरूप में समाधिस्थ रहने का उपाय जो पहले संक्षेप से कहा गया था उसकी विस्तारपूर्वक विधि (कि योगी को कैसे और किस प्रकार ध्यान में युक्त होना चाहिए इत्यादि) अब तुझसे कही जाती है, उसे ध्यान देकर तू सुन। हे अर्जुन ! शम साधनवाले योगारूढ़ पुरुष को यह उचित है कि वह अपने चित्त और आत्मा * (मन वा इंद्रियाँ अथवा अंतःकरण और शरीर या अपने आप) को जीतकर अर्थात् उन्हें अपने वश करके, आशा (लोक-एषणा इत्यादि सर्वप्रकार की इच्छा अर्थात् काम्य वासना वा स्वार्थ-बुद्धि से फल-आशा) और परिग्रह (स्वत्व, वा मक़बूज़ात या मिल्कियत वा धन के संग्रह और ममता) से रहित

है ; अर्थात् वह योगी जिसने चित्त और इंद्रियाँ अपने स्वाधीन की हुई हैं, वह योग में युक्त होवे। क्योंकि योगारूढ पुरुष जिसके लिए यह ध्यानयोगरूप शम साधन नियत हुआ है, उसका लक्षण भी जितात्मा है; इसलिए 'यतचित्तात्मा' यह पद योगी के लक्षण रूप से अधिक वर्ता जा सकता है।

* "आत्मा" और "आत्मानं" दोनों शब्दों से अभिप्राय यहाँ मन,

होकर, अथवा दोषदृष्टिपूर्वक वैराग्य का दृढ़ता से सब पदार्थों की तृष्णा और संग्रह से रहित होकर, (या दूसरे शब्दों में यह कि जो योगी पूर्व निष्काम कर्म की रीति से समस्त कर्मों को निरासक्त मन वा समत्वबुद्धि से करते-करते जितात्मा, विषयों वा कर्मफल की आशा-ममता से रहित हुआ योगारूढ़ हो गया है, उसे अब चाहिए कि वह) एकांत स्थान * में जाकर नितांत अकेला स्थित होवे,

---

बुद्धि वा इंद्रियाँ (अथवा अपना आप) ही है, शुद्ध निर्विकार आत्मा वा परमात्मा नहीं ।

* श्रीशंकराचार्य ने "एकांत स्थान में स्थित" का तात्पर्य "संन्यास करके" लिया है । इससे यही भाव उनका हो सकता है कि संन्यासी को योगाभ्यास में बड़ी सुगमता है, यह नहीं कि गृहस्थ योग का अनधिकारी है, क्योंकि यदि गृहस्थ अनधिकारी होता, तो महा प्रस्थान काल में पांडवों को योगयुक्त कहना नहीं बन सकता (देखो महाभारत म० प्र० प० १। ३०) । जनक, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, राम इत्यादि गृहस्थ होते हुए ही योगयुक्त थे । और सबसे बढ़कर यह स्पष्ट है कि यहाँ स्वयं योग के उपदेष्टा वा योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण गृहस्थ हैं, और फिर जिसको उपदेश दिया जा रहा है, वह अर्जुन भी गृहस्थ ही है । ये सब श्री शंकराचार्य आप जानते ही थे, इसलिए "संन्यास करके" इस वचन से उनका उक्त आशय ही हो सकता है । वस्तुतः "एकांत में स्थित" का सीधा तात्पर्य यह है कि जहाँ योगाभ्यास करे, वह स्थान शोरवाला न हो । वर्णाश्रम वा अवस्था का योग में कोई नियम नहीं । मनु २, १०० में ब्रह्मचारी के लिए योग कहा है । श्रीकृष्ण का यह वचन घर में रहने के प्रतिकूल नहीं । और "रहसि स्थितः" का स्पष्ट तात्पर्य योग के समय में एकांत स्थित से है, न कि नित्य एकांत में, अथवा घरबार छोड़ कर अर्थात् संन्यासी होकर बाहर जंगल, वन, पर्वत या गुहा (गुफा) में स्थित रहने से है । यह तात्पर्य भगवान् ने स्वयं अनुगीता अध्याय

और इस प्रकार वहाँ स्थित होकर फिर निरंतर अपने स्वरूप के ध्यान में अपने आपको अर्थात् अपने मन-बुद्धि-चित्त को युक्त *

---

१६ में स्पष्ट किया है, और आत्मदर्शन की रीति भी वहाँ श्लोक २१ से २२ तक में दी है। वास्तव में ध्यानयोग भीतर की वस्तु है, बाहर की नहीं, जिससे बाहर के किसी भी अवलंबन पर निर्भर नहीं है। सविस्तर देखो दक्षसंहिता (७ । २ से १० तक)। शूद्र और स्त्रियाँ भी इस योग के अधिकारी हैं "अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी। तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥"=चाहे वर्ण से निकृष्ट हो, और चाहे स्त्री हो, जो धर्म को प्यार करती है, वह भी इस मार्ग से परम गति को प्राप्त होगी। (महाभारत, शांति प० २३९, ३४)। योगियों में प्रधान महादेवजी की पत्नी दाक्षायणी ने योग द्वारा देह का त्याग किया था (देखो भागवत ४ । ८ । २४ से २७)। इस प्रकार योगाभ्यास के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह संन्यासी ही हो, वा नित्य जंगलों, वनों, पर्वतों की गुहाओं में ही रहे, और किसी घर में न रहनेवाला हो, या केवल ब्राह्मण या क्षत्रिय ही हो, अन्य वर्ण का न हो। बल्कि तात्पर्य यह है कि चाहे कोई नीच वर्ण हो, चाहे उच्च वर्ण, चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष, केवल जितात्मा, शांतचित्त और सर्वप्रकार की सांसारिक कामनाओं व संकल्पों से रहित ही इसका अधिकारी है, और उसे एकांत स्थान में अकेले बैठकर इस योग का अभ्यास करना चाहिए।

* अगले श्लोक से स्पष्ट होता है कि 'युञ्जीत' शब्द से तात्पर्य यहाँ पातंजल सूत्र का योग अथवा ध्यानयोग ही है, और योगारूढ के लिए आत्मानुभव तक इसका निरंतर करना आवश्यक है, क्योंकि विना निरंतर अभ्यास के न आत्मानुभव होता है और न योगसिद्धि ही प्राप्त होती है। परंतु 'निरंतर' शब्द से यहाँ यह तात्पर्य नहीं कि सारा जीवन भर प्रतिक्षण योगाभ्यास में ही पुरुष युक्त रहे, अर्थात् अपना सारा जीवन इस एकांत अभ्यास में ही बेच डाले, क्योंकि यदि यह आशय

करे; अर्थात् लगातार योगाभ्यास (ध्यानयोग) में लगे ॥ १० ॥ *

होता तो अर्जुन को युद्ध करने का उपदेश देकर फिर यहाँ योगी होने का उपदेश भगवान् उसे न देते। "तू योगी हो" ऐसा उपदेश इस अध्याय के अंत में देने से भगवान् का केवल यही तात्पर्य हो सकता है कि निष्काम कर्म करते-करते जब कि अर्जुन वा कोई पुरुष जितात्मा और शांतचित्त हो जावे, तो उसे फिर एकांत में बैठकर आत्मध्यान में चित्त को युक्त करने का अभ्यास करना चाहिए, जिससे एक ओर तो उसे अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जावे ताकि उसकी शांतावस्था बनी रहे, और दूसरी ओर सर्वत्र समदृष्टि उसकी अधिक, दृढ़ वा स्वाभाविक होती जावे, जिसके होने पर फिर उससे (सर्वहितैषी और शांतचित्त तथा समदृष्टि होने के कारण) सबकी भलाई के लिए स्वतः कर्म होते रहें। जैसे पूर्ण विरक्त और प्रसिद्ध एकांतनिवासी श्रीशंकराचार्य आदि महात्माओं से हुए। पर जितना काल वह इस अभ्यास के लिए एकांत में बैठे, उतना काल वह अवश्य लगातार अपने चित्त को आत्मध्यान में खूब लगावे। यदि न लग सके, तो लगातार अभ्यास वा वैराग्य के यत्न द्वारा उसे समय पाकर एकांत में नियुक्त करता रहे।

* इस अध्याय में योग से अभिप्राय प्रायः ध्यानयोग ही है जिसको कोई-कोई महात्मा संन्यासयोग, कर्मसंन्यास वा ज्ञानयोग के नाम से भी पुकारते हैं। इस ध्यानयोग को सविस्तर वर्णन करनेवाले यद्यपि श्री पतंजलि ऋषि हैं, तथापि यह योग पतंजलि ऋषि से भी बहुत पहले का और पुराना है। उपनिषदों में उसका संक्षेप से ऐसे वर्णन है—पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥ पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥" अर्थ—स्वयंभू (परमात्मा) ने इंद्रियों के छिद्रों को बहिर्मुख रचा है, इसलिए पुरुष बाहर को देखता

संबंध--शमरूप साधन अर्थात् ध्यानयोग का इतना अंग कहकर अब भगवान् उसके दूसरे अंगों (आसन और आहार-विहार आदि) का कथन करते हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥ *

है, भीतर को नहीं, अर्थात् बाह्य पदार्थों को देखता है और अंतरात्मा को नहीं, कोई ही धीर पुरुष, जिसने अमृतत्व की इच्छा की, उसने अपनी आँखों को मूँदा (बंद किया), और प्रत्यगात्मा (अंतरात्मा) को देखा । बालक (मूर्ख) बाहर की कामनाओं के पीछे जाते हैं और वे मृत्यु की फाँसों में पड़ते हैं, जो (मृत्यु) सारे फैला हुआ है । हाँ धीर पुरुष अमृतत्व को जानकर यहाँ अस्थिरों में कोई स्थिर वस्तु नहीं माँगते (नहीं चाहते) हैं । (कठोपनिषत् अध्याय १, वल्ली ४, श्लोक १, २) ।

* इस पर कठवल्ली उपनिषद् (२. ३. ११) में ऐसे आया है—

"तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥

अर्थ—यह जो इंद्रियों की निश्चल धारणा है, इसी को योग मानते हैं । उस समय, अर्थात् उक्त निश्चल धारणा के समय, योगी प्रमाद से रहित होता है, क्योंकि योग प्रभव (उत्पत्ति) और अप्यय (लय) का स्थान है, अर्थात् योग अंतर आत्म-ज्ञान की उत्पत्ति और बाह्य अनात्म-ज्ञान के लय का स्थान है ।

शुचौ[१], देशे[२], प्रतिष्ठाप्य[६], स्थिरं[५], आसनं[४], आत्मनः[३]	शुद्ध[१] स्थान[२] में अपना[३] आसन[४] स्थिर[५] स्थापन[६] करके
न[१] अति[२]-उच्छ्रितं[३], न[४], अति[५]-नीचं[६]	न[१] अति[२] ऊँचा[३], न[४] अति[५] नीचा[६]
चैल[१] अजिन[२]-कुश[३]-उत्तरं[४]	वस्त्र[१], चर्म[२] और कुशा[३] है ऊपर[४] (जिसके)

तत्र[१], एक[३]-अग्रं[४], मनः[२], कृत्वा[५]	वहाँ[१] मन[२] को एक[३] रूखे[४] (एकाग्र) करके[५]
यत[४]-चित्त[१]-* इन्द्रिय[२]-क्रियः[३]	चित्त[१] और इंद्रियों[२] की क्रियाओं[३] को स्वाधीन[४] करके
उपविश्य[२], आसने[१], युंज्यात्[६], योगं[५], आत्म[३]-विशुद्धये[४]	आसन[१] पर बैठ कर[२] आत्मा[३] की (अपनी) शुद्धि[४] के लिए योग[५] में युक्त[६] होवे

अन्वयार्थ — शुद्ध स्थान में, न अति ऊँचा †, न अति नीचा, अपना स्थिर आसन ‡ स्थापन करके, उस पर वस्त्र ×, चर्म और

---

* "यतचित्तेन्द्रियक्रियः" यह उक्त श्लोक ३ के अनुसार यहाँ योगारूढ़ योगी का विशेषण ही हो सकता है, अर्थात् जिस योगी ने चित्त और इंद्रियों की क्रिया को स्वाधीन किया हुआ है उसे चाहिए कि वह एकांत स्थान में स्थिर आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिए योगाभ्यास करे। पर कई एक टीकाकारों ने इसे विधि वाक्य बना कर योगी को चित्त व इंद्रियों की क्रियाओं को स्वाधीन करने की आज्ञा कर रक्खी है।

† बहुत ऊँचे से गिरने का भय होता है, और बहुत नीचे से वायु शुद्ध ठीक नहीं मिलती, और सामान्य ऊँचे रखने से सर्वप्रकार से सुभीता रहता है, इसलिए आसन न अत्यंत ऊँचा और न अत्यंत नीचा होना कहा है।

‡ स्थिर आसन से अभिप्राय निश्चल आसन है। और आसन की निश्चलता मृत्तिकामय स्थल में ही पूर्ण हो सकती है, काष्ठमय तख़्तपोश इत्यादि से नहीं। इसलिए आसन के स्थिर विशेषण से काष्ठमय आसन की अनुपयोगिता दर्शायी है।

× वस्त्र, चर्म और कुशा श्लोक में विपरीत क्रम से कहे हैं, किंतु कुशा

कुशा (बिछा कर), वहाँ बैठकर चित्त और इंद्रियों की क्रियाओं को स्वाधीन किया हुआ (योगी) मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिए योग में युक्त होवे ॥ ११, १२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त ध्यानयोग के और अंग ये हैं कि—जो देश स्वभाव से ही शुद्ध हो. जैसे गंगातटादि, अथवा जो बुहारने और मृत्तिकादि के लेपन से शुद्ध किया गया हो, अथवा जो मंत्रों द्वारा पवित्र किया गया हो, ऐसे शुद्ध पवित्र देश (स्थान) में न अति ऊँचा न अति नीचा अपना स्थिर आसन स्थापन करके, अर्थात् ऐसे पवित्र स्थान में न अत्यंत ऊँचे और न अत्यंत नीचे किन्तु सामान्य उँचाई पर अपना आसन ऐसा जमाये कि किंचित् हिलने न पाये। उस आसन पर पहले कुशा, फिर कोमल मृग वा व्याघ्र का चर्म, और उसके ऊपर कोमल वस्त्र बिछावे। इस प्रकार सुखासन बिछाकर उसके ऊपर शम साधन-वाला चित्त और इंद्रियों की क्रिया को जीता हुआ योगारूढ़ पुरुष बैठे; अथवा वहाँ बैठकर वह वैराग्य और विचार के बल से अपने चित्त और इंद्रियों की क्रियाओं को अपने अधीन करे; अर्थात् शब्दादि विषयों का स्मरण करना रूप जो चित्त की क्रिया है, और शब्दादि विषयों का ग्रहण करना रूप जो इंद्रियों की क्रिया है. इन सबके अधीन न होकर उन्हें अपने वश में कर, और इस प्रकार यतचित्तेन्द्रियक्रियः होता हुआ फिर आत्मशुद्धि *, अर्थात्

के ऊपर मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र रखने से अभिप्राय है। और ऐसा ही अभिप्राय श्रीशंकराचार्य, श्रीमधुसूदन स्वामी इत्यादि अनेक टीकाकारों ने लिया है।

* "आत्मशुद्धि के लिए योगी योग करे" इस भाव को जो भगवान् ने ("योगी युञ्जीत सततं', "युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये', "युक्त आसीत

अंतःकरण वा अपनी सर्वप्रकार की भीतरी शुद्धि के लिए मन को एकाग्र करके वह अपने आपको अर्थात् चित्तवृत्ति को आत्म-ध्यान में पूर्ण युक्त करे; अर्थात् अंतःकरण की सर्वप्रकार की शुद्धि के लिए मन और चित्त को अपने स्वरूप के ध्यान में पूर्ण एकाग्रता से लगाता हुआ योगाभ्यास करे॥ ११, १२ ॥ *

संबंध—आसन पर बैठना तो कहा गया। पर कैसे होकर आसन पर बैठे; अर्थात् आसन पर बैठकर किस प्रकार शरीर को धारण करे, और फिर किस ध्यान के परायण होवे; यह सब भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

मत्परः" इत्यादि अनेक वचनों से) इस योगारूढ़ के प्रसंग में कहा है, इससे स्पष्ट सिद्ध हो रहा है कि कर्मयोग द्वारा योगारूढ़ अवस्था के प्राप्त होने पर भी चित्त की समता पर पूर्ण शुद्धि नहीं होती है और जितनी होती भी है उस शुद्धि का नित्य स्वतः बने रहना संभव नहीं, इसलिए उस पुरुष को कि जो कर्म करते-करते शांत और सम अवस्था को प्राप्त हो गया हो उचित है कि वह इस सम और शुद्ध अवस्था की स्थिति में ध्यानयोग रूप शम-साधन द्वारा अपने चित्त को निरंतर आत्म-ध्यान में युक्त रक्खे। और जब तक आत्मसाक्षात्कार से चित्त अपने निजानंद में निमग्न न हो ले, तब तक चित्त की सर्वप्रकार की शुद्धि के लिए उक्त ध्यानयोग का यत्न करता रहे, क्योंकि बिना पूर्ण चित्तशुद्धि के आत्मानुभव प्राप्त नहीं होता।

* श्वेताश्वतर उपनिषद् (२. १०) में यह विषय इस प्रकार आया है—

"समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥"

अर्थ—वायु, पत्थर, अग्नि, रेता और धूल से रहित; शुद्ध, हमवार (बराबर) मन के अनुकूल और नेत्र को सुहावना लगनेवाला एकांत स्थान में बैठकर मनुष्य को योग करना चाहिए।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम् । *
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

सम^{4}ं, काय^{1}-शिरः^{2}-ग्रीवं^{3}, धारयन्^{7}, अचलं^{5}, स्थिरं^{6}	शरीर^{1} (धड़), सिर^{2} (मस्तक) और दोनों^{3} को एक-समान^{4} (सीधा) अचल^{5} और स्थिर^{6} धारण^{7} करता हुआ
संप्रेक्ष्य^{4}, नासिका^{2}-अग्रं^{3}, स्वं^{1}	अपनी^{1} नासिका^{2} के अग्र^{3} (नोक) को देखता^{4} हुआ
दिशः^{2}, च^{1}, अनवलोकयन्^{3}	और^{1} दिशाओं^{2} को न देखता^{3} हुआ
प्रशान्त-आत्मा^{2}, विगत^{3}-भीः^{4}	शांत^{1} चित्त और दूर^{3} हुए भय^{4}वाला (अर्थात् निडर)
ब्रह्मचारि^{1}-व्रते^{2}, स्थितः^{3}	ब्रह्मचारी^{1} के व्रत^{2} में स्थित^{3} (योगी)
मनः^{1}, संयम्य^{2}, मत्^{3}-चित्तः^{4}, युक्तः^{5}, आसीत, मत्^{6}-परः^{7}	मन^{1} को रोककर^{2}, मुझमें^{3} चित्तवाला^{4}, युक्त^{5} और मेरे^{6} परायण^{7} हुआ बैठे^{8}

अन्वयार्थ—काय-शिर-ग्रीवा (इन तीनों) को सम, स्थिर और अचल

---

* श्रीरामानुजादि ने अपनी पुस्तकों में यह पद 'स्थिरम्' लिखा है। पर श्रीशंकराचार्य आदि कई एक भाष्यकारों की पुस्तकों में यह पद "स्थिरः" आया है। तब श्लोक के यह अर्थ होंगे—"शरीर, सिर और गर्दन को सम और अचल धारण करके, स्वयं स्थिर होता हुआ", अथवा "शरीर, सिर और गर्दन को सम अर्थात् एक समान सीधा (खड़ी रेखा में) धारण करके और स्वयं अचल स्थित होता हुआ" अभ्यास करे।

धारण करके, अपनी नासिका के अग्र * को देखते हुए, (किंतु) अन्य दिशाओं को न देखते हुए, शांतात्मा †, भय से रहित और ब्रह्मचारी ‡ के व्रत में स्थित (योगारूढ़) हुए, मन को रोककर, मुझमें × चित्त लगाये हुए मेरे परायण युक्त हुआ बैठे ॥ १३, १४ ॥

---

* नासिका के अग्र भाग को देखते रहने से यह आशय है कि नेत्र बंद न होने दे. क्योंकि नेत्र बंद होने से निद्रा आ जाती है। और न नेत्र पूरा खोले, क्योंकि नेत्र सारा खोलने से इर्द-गिर्द के विषय दृष्टिगोचर हो जाते हैं, जिससे चित्त अस्थिर हो जाता है। इसलिए आधा नेत्र बंद किये और आधा खोले हुए केवल नासिका की नोक पर दृष्टि को टिकाये, और सिवाय नासिका के अग्रभाग के और किसी ओर दृष्टि न करे।

† शांतात्मा उसको कहते हैं कि जिसके हृदय में निष्काम भाव व समत्वबुद्धि से कर्म करते-करते राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि दूर हो गये हों, और इस राग-द्वेषादि की निवृत्ति के कारण जिसका अंतःकरण (वा चित्त) सम वा शांत हो गया हो। यही लक्षण योगारूढ़ का भगवान् ने उक्त श्लोक २ और ४ में वर्णन किया है।

‡ ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित=ब्रह्मचर्य, गुरु-शुश्रूषा (गुरु-सेवा), भिक्षा, भोजन इत्यादि जो ब्रह्मचारी का व्रत है, उसमें स्थित; अथवा "ऋतौ, भार्यामुपेयात्", इस श्रुति के अनुसार गृहस्थ भी केवल ऋतुगामी होने से ब्रह्मचारी माना जाता है, ऐसे व्रत में दृढ़ पुरुष भी ब्रह्मचारी-व्रत में स्थित कहा जाता है। यह तीनों "प्रशांतात्मा, विगतभी और ब्रह्मचारिव्रते स्थितः" उसी योगारूढ़ के विशेषण हैं जिसके लिए शम साधन की आज्ञा भगवान् ने उक्त श्लोक ३ में दी है।

× "मच्चित्तः" वा "मत्परः" में जो 'मत्' शब्द आया है वह प्रत्येक पुरुष के निजस्वरूप आत्मा का बोधक है, भगवान् कृष्ण के शरीर वा उनके बाह्य रूप का बोधक नहीं। और गीताशास्त्र में जहाँ भी कहीं भगवान् ने मत् शब्द वर्ता है, वहाँ उससे तात्पर्य वास्तव में परमस्वरूप अंतरात्मा ही है। पर द्वैतवादी टीकाकार भगवान् के रूप से ही यहाँ

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त योगी की आसन पर बैठने की विधि यह होनी चाहिए कि वह काया (शरीर, धड़, कमर वा पीठ), शिर (सिर अर्थात् मस्तक), और ग्रीवा (गर्दन), इन तीनों

तात्पर्य लेते हैं । और यदि उन लोगों के विचारानुसार 'मत्' शब्द से आशय भगवान् के रूप का ध्यान ही लिया जावे (यद्यपि योगसूत्र १, १, २३ में "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" स्पष्ट है), तो एक रीति से वह भी अयुक्त नहीं होता, क्योंकि निराकारस्वरूप का ध्यान प्रथम किसी रूप द्वारा ही टिकता है । और वह रूप उस ध्यान का साधन होता है, लक्ष्य नहीं । लक्ष्य उस साकार उपासना में भी निराकार भगवान् ही होता है, और साकार को देखकर उपासक लोग बहुधा ऐसे श्लोक ही पढ़ा करते हैं—

"न ते रूपं न चाकारो नायुधानि न चास्पदम् ।
तथापि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशसे ॥"

हे भगवन् ! न आपका कोई (विशेष करके) रूप है, न आकार है, न शस्त्र और न घर । तथापि भक्तों के लिए आप पुरुषाकार प्रकट होते हो । और—

"शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाकारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिहृद्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ॥'

अर्थ—हे सब लोकों के अकेले नाथ ! हे संसार का भय हरनेवाले ! हे योगियों के हृदय में ध्यान से प्राप्त होनेवाले ! हे कमलनयन ! हे लक्ष्मीपति ! हे शुभांग ! हे मेघवर्ण ! हे आकाश के सदृश (सूक्ष्म) ! हे विश्वाकार ! हे देवों के ईश्वर ! हे नाभिकमलवाले ! हे शेषनाग की शय्या पर शयन करनेवाले ! हे शांतस्वरूप विष्णु भगवान् ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ । इत्यादि ।

को अचल (अडोल) स्थिर (हिलने-जुलने से रहित) और सम अर्थात् वक्र से रहित, दंड के समान एक सार सीधा धारण करे ; अपनी नासिका के केवल अग्र भाग को देखे, अर्थात् अपने नाक की नोक पर दृष्टि टिकाये, और अन्य पूर्वोत्तरादि दिशाओं को न देखे। तत्पश्चात् वह शांतात्मा (शांतचित्त वा वा शांत अंतःकरण), भय से रहित (निडर) और ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित योगी, अर्थात् वह शांतात्मा, निर्भय, और ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित योगारूढ़ योगी मन को रोककर मुझ सच्चिदानंदस्वरूप में चित्त लगाये । और मुझमें चित्त लगाकर, या मुझमें चित्तवाला होकर आत्मध्यान में युक्त होवे, अर्थात् धारणा, ध्यान; समाधि में लगे, और ऐसे मच्चित्त और मुझ आत्मस्वरूप के ध्यान में युक्त होते हुए वह मेरे परायण हुआ बैठे, अर्थात् मुझ परब्रह्म के ही ध्यान में चित्त को लीन करता हुआ बैठे ॥ १३, १४ ॥

संबंध—उक्त प्रकार से युक्त होनेवाले योगारूढ़ अर्थात् पूर्ण योगी के फल को भगवान् अब वर्णन करते हैं—

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

युञ्जन्[४], एवं[१], सदा[२], आत्मानं[३]	इस[१] प्रकार सदा[२] अपने[३] आपको जोड़ता[४] हुआ (युक्त करता हुआ)	शान्तिं[१], निर्वाण[२]-परमां[३], मत्[४] संस्थाम्[५], अधिगच्छति[६]	मुझमें[४] स्थित[५] परम[३] निर्वाण[२] रूप शांति[१] को प्राप्त[६] होता है
योगी[३], नियत[१]- मानसः[२]	रोके[१] हुए (निरुद्ध) मनवाले[२] योगी[३]		

अन्वयार्थ—इस प्रकार सदा अपने आपको (आत्म-ध्यान में) युक्त करता हुआ नियत-मनवाला योगी मुझमें स्थित परमनिर्वाण-रूप शांति को प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त रीति से (जैसा कि पूर्व श्लोकों में दर्शाया गया है) जब निरोध को प्राप्त हुए मनवाला योगी, अर्थात् वह योगारूढ़ जिसने अपना मन पूर्वले श्लोक २ के अनुसार सर्व संकल्पों के त्याग से अपने वश में किया हुआ है, अपने आपको अर्थात् अपने निरुद्ध मन, बुद्धि, चित्त को नित्य मुझ परमस्वरूप (अथवा निजात्मा) के ध्यान में युक्त करता रहता है, तो वह फिर उस शांति को पाता है कि जिसकी अवधि (सीमा, अंत वा हद) परमनिर्वाण (मोक्ष) है, अथवा जो स्वयं परमनिर्वाण (मोक्ष) स्वरूप है, या जो सर्व वृत्तियों की उपरामतारूप (प्रशांतवाहिता) शांति है, अथवा जो तत्त्व-साक्षात्कार होने पर अविद्या की निवृत्तिरूप है, या जो मेरे स्वरूप में लीन होने से परमानंद देनेवाली है; और जो इसीलिए मुझ परमानंदस्वरूप में स्थित है, अर्थात् जो मेरे परमानंद-स्वरूप की निष्ठारूप है, या जो मेरी ही संस्था है, अथवा जो मेरा अपना ही वास्तव रूप है । इस प्रकार वह योगी अंत में मुझमें ही लीन हुआ कैवल्यपद पाता है ॥ १५ ॥ *

---

* इस श्लोक से भगवान् ने यह तत्त्व दर्शाया है कि जैसे हठयोगी वा अन्य प्रकार के योगी ध्यानयोग से अनात्म वस्तुओं को विषय करने की ऐश्वर्यतारूप सिद्धियों को प्राप्त होते हैं, वैसे मेरे परायण हुआ योगी इन सांसारिक सिद्धियों को नहीं किंतु परमनिर्वाणरूप शांति को प्राप्त होता है ।

संबंध—अब दो श्लोकों से भगवान् उक्त योगाभ्यासी पुरुष के आहारादि का नियम कथन करते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

न^{1}, अति^{2}-अशनतः^{3}, तु^{4}, योगः^{5}, अस्ति^{6}	न^{1} अति^{2} खानेवाले^{3} का निःसंदेह^{4} योग^{5} है^{6}
न^{2}, च^{1}, एक^{3}-अन्तं, अनशनतः^{4}	और^{1} न^{2} नितांत^{3} न^{4} खानेवाले का
न^{2}, च^{1}, अति^{3}-स्वप्न^{4}-शीलस्य^{5}	और^{1} न^{2} अति^{3} सोने^{4} के स्वभाववाले^{5} का
जाग्रतः^{5}, न^{2}, एव^{3}, च^{1}, अर्जुन^{4}	और^{1} न^{2} ही^{3} हे अर्जुन^{4}! (अधिक) जागनेवाले^{5} का

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! निःसंदेह न अति खानेवाले, न सर्वथा न खानेवाले, न अति सोने के स्वभाववाले, और न ही (अति) जागनेवाले का योग (सिद्ध) होता है ॥ १६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! अतिशय खानेवाला (पेटू) वा नितांत न खानेवाला (निराहारी), और अतिशय सोने के स्वभाववाला (महा सुस्त) वा बहुत ही जागनेवाला (महा निद्रा तोड़), ऐसे पुरुषों को योग की प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् ऐसे पुरुष चाहे वह संकल्पों के त्याग से योगारूढ़ ही क्यों न हो चुके हों, पर उनसे योगाभ्यास ठीक नहीं हो सकता है। क्योंकि अधिक खाने से आलस्य और रोग होता है, और नितांत न खाने से दुर्बलता और व्याकुलता होती है, और यही परिणाम अधिक सोने और जागने से मिलता है, इसलिए ऐसे लोग न इस ध्यान-योग के योग्य ही होते हैं, और न इसी लिए उनको योग ठीक सिद्ध ही होता है ॥ १६ ॥*

---

* इस आहार के विषय में शतपथ ब्राह्मण में ऐसा लिखा है—"यदुह

संबंध--(३) जिस साधनावाले को योग प्राप्त होता वा हो सकता है, उसे अब भगवान् निरूपण करते हैं—

वा आत्मसंमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति, इति ।" अर्थ—जो जिसको अपने प्रमाण का अन्न है, अर्थात् जो अपने बल के प्रमाण से अथवा युक्तिपूर्वक नियत भोजन करता है, वह अन्न शरीर की रक्षा करता है और रोगादि की उत्पत्ति द्वारा उसे नाश नहीं करता, अर्थात् ऐसे नियत भोजन से शारीरिक रक्षा और निरोगिता होती है, हानि नहीं; और जो प्रमाण से अधिक अन्न है, अर्थात् जो अन्दाज़े से ज़्यादा खाया जाता है, वह रोग को उत्पन्न करके आयु को क्षीण करता शीघ्र नाश करता है; और जो प्रमाण से थोड़ा है, अर्थात् अंदाज़े से भी कम खाया जाता है, वह भी रक्षा नहीं करता है, अर्थात् उस बहुत थोड़े आहार से भी ठीक रक्षा नहीं होती है। इस श्रुति के अनुसार भी योगी पुरुष को प्रमाण (अंदाज़े) से अधिक वा न्यून भोजन करना उचित नहीं।

प्रमाण (अंदाज़े) के विषय में योगसूत्र ऐसे कहता है—"अर्द्धंसव्यञ्जनान्नस्यतृतीयमुदकस्यतु। वायोः संचारणार्थन्तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥" अर्थ—आधा पेट तो सव्यञ्जनान्न (अर्थात् दाल-शाक सहित अन्न) के लिए, और तीसरा भाग जल के लिए, और चौथा भाग प्राण वायु के सुखपूर्वक आने-जाने के लिए, खाली रक्खे। इस प्रमाणानुसार योगी भोजन करे। इस आहारादि के विषय में मार्कण्डेय पुराण में अधिक स्पष्ट रूप से ऐसे लिखा है—"नाध्मातः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः। युञ्जीत योगं राजेन्द्र योगी सिद्ध्यर्थमात्मनः ॥ १ ॥ नाति शीते न चैवोष्णे न द्वन्द्वे अनिलान्विते। कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्परः ॥ २ ॥" अर्थ—हे राजेंद्र ! योगी पुरुष अत्यंत खाकर फूला हुआ, वा अत्यंत क्षुधातुर, श्रमयुक्त और व्याकुल चित्तवाला होकर कभी आत्मा की सिद्धि अर्थात् आत्मसाक्षात्कार के लिए योग न करें। और न अति शीत काल में, न

अथवा (२) अपने उक्त कथन को भगवान् अब अन्य रूप से स्पष्ट करते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

युक्त-आहार-विहारस्य	युक्त आहार विहारवाले का	युक्त-स्वप्न-अवबोधस्य	युक्त सोने और जागनेवाले का
युक्त-चेष्टस्य, कर्मसु	कर्मों में युक्त चेष्टावाले का	योगः, भवति, दुःख-हा	दुःखों के नाश करनेवाला योग होता है

अन्वयार्थ—युक्त आहार-विहारवाले का, कर्मों में युक्त चेष्टावाले का, और युक्त सोने व जागनेवाला का योग दुःखनाशक (सिद्ध) होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! उसी योगारूढ़ पुरुष को दुःखों के नाश करनेवाला योग सिद्ध होता है, अथवा उस योगारूढ़ पुरुष का योग (जो आत्म-ध्यान में युक्त होना है) दुःखों के नाश करनेवाला सिद्ध होता है कि जो युक्ति से, अर्थात् अंदाज़े वा प्रमाण से या नियमपूर्वक अपना आहार-विहार (खाना-पीना, चलना-फिरना इत्यादि) करता है; जिसकी चेष्टा भी अपने कर्मों में युक्ति से, अर्थात् नपी-तुली वा उचित होती है; और जिसका सोना-जागना भी युक्तिपूर्वक अर्थात् परिमित वा नपा-तुला होता है। संक्षेप से अभिप्राय यह कि जो किसी बात में भी अंदाज़े (प्रमाण वा नियम) से न बढ़ता और न घटता है, बल्कि सर्व

अति उष्ण काल में, न द्वंद्व में और न अत्यंत पवन काल में यह ध्यान-परायण पुरुष योगाभ्यास करे।

प्रकार से युक्त आचरण रखता है, वही योगारूढ़ पुरुष सर्व-दुःख नाशक * योग को पाता है, अन्य नहीं ॥ १७ ॥ †

संबंध—(१) अब भगवान् उक्त प्रयोग किये हुए 'युक्त' शब्द का यथार्थ अर्थ अगले श्लोकों में बताते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार युक्ति से चलनेवाले पुरुष को कब यह योग सिद्ध होता है, अर्थात् कब वह पूर्ण युक्त कहलाता है ? इसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (३) साधनोपाय बताकर अब भगवान् योगयुक्त पुरुष के कुछ लक्षण निरूपण करते हैं—

अथवा (४) श्लोक ८ में तो युक्त पुरुष के बाह्य लक्षण कहे गये, अब भगवान् उस (युक्त) के भीतर के लक्षण वर्णन करते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

यदा, विनियतं, चित्तं	जब निरुद्ध चित्त	निःस्पृहः, सर्व-कामेभ्यः	सारी कामनाओं से इच्छा शून्य है
आत्मनि, एव, अवतिष्ठते	आत्मा में ही ठहरता है	युक्तः, इति, उच्यते, तदा	तब युक्त है, ऐसा कहा जाता है

---

* "दुःखहा" (दुःखों का नाशक) यह विशेषण इसलिए दिया गया है कि सर्व दुःखों का कारण इस संसार में अविद्या है, उसका इस योगसमाधि द्वारा आत्मसाक्षात्कार से नाश हो जाता है, इसलिए यह योग 'दुःखहा' कहलाता है ।

† शास्त्रों में इसके विषय ऐसा लिखा है—"मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं च कारयेत् । नाना रोगो भवेत्तस्य किञ्चिद् योगो न सिध्यति ॥" अर्थ—मिताहार के विना जो योगी योग को आरंभ करता है, उसे नाना प्रकार के रोग होते हैं और किंचिन्मात्र भी उसका योग सिद्ध नहीं होता ।

* पहला अन्वयार्थ---जब निरुद्ध चित्त आत्मा में ही ठहरता है और सारी कामनाओं से इच्छा शून्य होता है, तब ऐसा कहा जाता है कि वह युक्त है ॥ १८ ॥

दूसरा अन्वयार्थ---जब (सब ओर से) रुका हुआ चित्त आत्मा में ही स्थिर होता है, तब वह सब कामनाओं से इच्छा-रहित हुआ (योगी) युक्त है, ऐसा कहलाता है ॥ १८ ॥

पहले अर्थ की व्याख्या--हे अर्जुन ! जिस समय यह भले प्रकार से निरुद्ध (अपने वश में किया हुआ) चित्त (वा अंतःकरण) आत्मा में अर्थात् अपने परम शुद्धस्वरूप में, वा अपने आपमें निश्चल स्थिर होता है, और लोक तथा परलोक की सारी कामनाओं से निःस्पृह (इच्छाशून्य) हो जाता है, तो उस समय वह चित्त युक्त अर्थात् पूर्ण समाधिस्थ कहलाता है ॥ १८ ॥

दूसरे अर्थ की व्याख्या--हे अर्जुन ! उक्त योगारूढ़ पुरुष जो पूर्व वर्णित लक्षणानुसार जितात्मा और पूर्ण निष्काम हुआ होता है, जब उसका निरुद्ध (संयत वा वशीभूत) चित्त अपने आत्मा (अपने वास्तव शुद्धस्वरूप) में ठहरता अर्थात् आत्म-ध्यान में पूर्ण अचल टिकता है, तब वह समस्त कामनाओं से शून्य योगारूढ़ होकर पूर्ण युक्त (सिद्ध वा समाधिस्थ) हुआ होता है, ऐसा कहा जाता है ॥ १८ ॥

---

* जब बहुत विचार से इस श्लोक को सहित पूर्वापर के संबंध के देखा जाय तो दोनों ही अर्थ अपने-अपने स्थान पर युक्त दीखते हैं। पहला अर्थ इसलिए ठीक है कि जब पुरुष का चित्त किसी न किसी उपाय से निरोध को प्राप्त हो जाता है, तो निरुद्ध अवस्था में सब कामनाएँ स्वतः बंद पड़ जाती हैं, इसलिए निरुद्ध अवस्था के पीछे चित्त की कामना-रहित अवस्था कही गई है। पर कर्मयोगी जो निष्काम कर्म करते-करते योगारूढ़

संबंध—(१) इस जितात्मा योगारूढ़ योगी के पूर्ण युक्त (संयत वा समाधिस्थ) चित्त की उपमा भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) अब योगारूढ़ योगी की समाधिस्थ अवस्था की उपमा भगवान् कहते हैं—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १६ ॥*

यथा, दीपः, निवात-स्थः, न, इङ्गते, सा, उपमा, स्मृता	जैसे वायु रहित स्थान में स्थित दीपक नहीं डोलता है, वह उपमा कही गई है	योगिनः, यत-चित्तस्य युञ्जतः, योगं, आत्मनः	संयत चित्तवाले और आत्मा के योग में युक्त होते हुए योगी की (वा योगी के संयतचित्त की)

होता है, उसकी योगारूढ़ अवस्था तब ही मानी जाती है कि जब उसका चित्त निष्काम कर्म द्वारा समस्त कामनाओं से रहित हो गया होता है; और फिर वह शमरूप योग-समाधि के योग्य होता है; अर्थात् उसका निरुद्ध चित्त तभी ठीक-ठीक युक्त कहलाता है कि जब वह उक्त एकांत अभ्यास से अपने आत्मध्यान में पूर्ण स्थिर ठहरा होता है । और यहाँ प्रसंग भी योगारूढ़ योगी का है जिससे सब कामनाओं से निःस्पृहरूप विशेषण पूर्व कथित योगारूढ़ योगी का ही कहा गया है । इसलिए दूसरे अर्थ यहाँ अधिक ठीक बैठते हैं ।

* इस पर श्वेताश्वतर उपनिषद् (२. १५) में और भागवत (३. २८. ३५) में ऐसे वर्णन है—

"यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वं तत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥" (श्वे. २.१५)

अर्थ—जब योगी यहाँ अपने आत्मा की उपमा से स्थित (अडोल)

पहला अन्वयार्थ--जैसे वायुरहित स्थान में स्थित दीपक * डोलता नहीं है, सोई उपमा आत्मा के योग में युक्त हुए योगी के संयत चित्त की कही गई (वा मानी गई) है ॥ १९ ॥

दीपक के समान ब्रह्मतत्त्व को देखता (अनुभव करता) है, तब वह जन्मरहित, अचल, सब तत्त्वों से विशुद्ध आत्मदेव को जानकर सब बंधनों से छूट जाता है।

"मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥"
(भा. ३, २८, ३५)

अर्थ—जब मन विषयों से मुक्त होकर निराश्रित होता है, और वह दीपक के समान एक साथ निर्वाण को प्राप्त होता है, तब पुरुष गुणों के प्रवाह से निवृत्त हुआ बिना किसी बाधा के एक आत्मा को देखता (अनुभव करता) है।

* निवातस्थ दीपक अडोल और पूरे प्रकाश में होता है, ऐसा ही आत्मध्यान में युक्त योगारूढ़ योगी का चित्त होता है, चित्त के ऐसा होने से वह योगी भी वैसा ही कहलाता है। श्रीशंकराचार्य व श्रीनीलकंठ आदि ने "यतचित्तस्य" का अर्थ "रुके हुए चित्त की" ऐसा अर्थ करके सीधा चित्त की यह उपमा दर्शायी है। श्रीरामानुज ने "योगी के आत्मा की" ऐसा अर्थ करके आत्मा की यह उपमा दर्शायी है।

पर हमारे विचार में तो दीपक का दृष्टांत इसलिए दिया है कि जैसे दीपक जलता हुआ (वायुरहित स्थान में) अडोल होता है, ठीक वैसे ही योगारूढ़ का संयत चित्त (मुर्दा वा बुझा हुआ नहीं होता किंतु) तत्त्व-चिंतन में पूर्ण युक्त होने से प्रकाशरूप और नितांत अडोल होता है। फिर जैसे अडोल दीपक पूर्ण प्रकाशक (वा तिमिरनाशक) होता है, वैसे समाधिकाल में यह अडोल चित्त भी आत्मा में पूर्ण लीन व अचल होने से पूर्ण प्रकाशक (वा अज्ञाननाशक) होता है। इसलिए यह उपमा योगी के

दूसरा अन्वयार्थ—जैसे वायुरहित स्थान में स्थित दीपक डोलता नहीं है, सोई उपमा संयत चित्तवाले और आत्मा के योग में युक्त योगी की कही गई है ॥ १९ ॥

पहले अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! जैसे पवन से रहित स्थान में अर्थात् उस स्थान में, जहाँ वेग से पवन न चल रहा हो, रक्खा हुआ दीपक न इधर-उधर हिलता है और न बुझने ही पाता है, बल्कि जलता हुआ सीधा अडोल स्थित रहता है, जिससे उसका पूरा-पूरा प्रकाश होता है। ठीक वैसी ही दशा, अर्थात् अवस्था, वा उपमा, उस संयत चित्त (वा अंतःकरण) की मानी जाती है कि जो आत्मा के योग (ध्यान) में पूर्ण युक्त योगी का होता है ॥ १९ ॥ *

दूसरे अर्थ की व्याख्या—हे अर्जुन ! जिस प्रकार पवन से रहित स्थान में स्थित दीपक की लाट इधर-उधर नहीं हिलती, बल्कि

समाधिस्थ चित्त की हो सकती है, निर्विकार और शुद्ध आत्मा की नहीं, क्योंकि आत्मा तो स्वयं नित्य अडोल, निर्विकार और स्वतः स्थित ही है। और यदि आत्मा शब्द के अर्थ अंतःकरण में प्रतिबिंबरूप आत्मा अर्थात् जीव के लिये जायँ, तो यह उपमा उस जीवात्मा की भी हो सकती है क्योंकि अंतःकरण की स्थिर वा निरुद्ध अवस्था में वह प्रतिबिंबरूप जीवात्मा स्थिर वा अडोल दीखता है, और अंतःकरण की चंचल वा क्षुभित अवस्था में वह भी चंचल वा क्षुभित दिखाई देता है। पर बिंबरूप शुद्ध आत्मा को यह उपमा किसी प्रकार से भी नहीं दी जा सकती। (टीकाकार)

* इस उपमा के अतिरिक्त महाभारत (शांतिपर्व. २००, ३२, ३४) में ये दृष्टांत हैं—"तेल से भरे हुए पात्र को ज़ीने (सीढ़ी) पर से ले जाने में, या तूफ़ान के समय नौका के बचाव करने में, मनुष्य जैसा 'युक्त' वा एकाग्रचित्त होता है, योगी का मन वैसा ही एकाग्र रहता है।"

अडोल स्थिर रहती है। ठीक वैसी ही उपमा उस योगारूढ़ * योगी की कही जाती है कि जो संयत अर्थात् निरुद्ध, एकाग्र वा अडोल चित्त से अपने स्वरूप के ध्यान में पूर्ण युक्त वा लीन हुआ होता है, अर्थात् जो योग-समाधि वा आत्मसाक्षात्कार को भोग रहा होता है ॥ १९ ॥

संबंध—(१) इस प्रकार युक्त वा समाधिस्थ चित्त अथवा उसी की अवस्था का सामान्य रूप से वर्णन करके अब भगवान् उसी का विशेष रूप से सविस्तर वर्णन २३वें श्लोक तक करते हैं—

अथवा (२) आत्मध्यान में पूर्ण युक्त चित्त की उपमा कहकर अब भगवान् इस निरुद्धचित्त द्वारा प्राप्त समाधि का स्वरूप विस्तार से २३वें श्लोक तक स्पष्ट करते हैं—

अथवा (३) अब भगवान् इस युक्त चित्त की समाधिस्थ अवस्था अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि का विस्तार से निरूपण करते हैं—

अथवा (४) इस युक्त अवस्था में फिर क्या-क्या लाभ होता है, उसे भगवान् विस्तारपूर्वक २३वें श्लोक तक वर्णन करते हैं—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

यत्र[1], उपरमते[6], चित्तं[5], निरुद्धं[4], योग[2]-सेवया[3]	जिस[1] काल (वा अवस्था) में योग[2] के अनुष्ठान[3] से निरुद्ध[4] चित्त[5] उपशम[6] को प्राप्त होता है	यत्र[2], च[1], एव[4], आत्मना[3], आत्मानं[5], पश्यन्[6], आत्मनि[7], तुष्यति[8]	और[1] जब[2] आत्मा[3] से ही[4] आत्मा[5] को देखता[6] हुआ वह आत्मा[7] में संतुष्ट[8] होता है

---

* योग वा योगारूढ़ से यद्यपि गीता का पारिभाषिक अर्थ प्रायः कर्मयोग वा कर्मयोगी है, परंतु यहाँ इस अध्याय में विशेष करके इसका अर्थ

* पहला अन्वयार्थ—जिस समय निरुद्ध चित्त योग के अनुष्ठान से उपशम को प्राप्त होता है, और जब वह आत्मा से ही आत्मा को देखता हुआ आत्मा में संतुष्ट होता है ॥ २० ॥

दूसरा अन्वयार्थ—योग के अनुष्ठान से निरोध को प्राप्त हुआ चित्त जब उपशम को प्राप्त होता है और जिस अवस्था में वह आत्मा से आत्मा को ही देखता हुआ आत्मा में संतुष्ट होता है ॥ २० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जिस समय (अथवा जिस अवस्था विशेष में) उक्त (श्लोक ३ के अनुसार) योगारूढ़ का निरुद्ध चित्त उक्त योगाभ्यास से उपशम को प्राप्त होता है; अथवा जब योगाभ्यास से निरुद्ध चित्त उपशम दशा को प्राप्त होता है; अर्थात् एक वस्तु को विषय करनेवाली वृत्तियों के प्रवाहरूप एकाग्रता का परित्याग करके ईंधन से रहित अग्नि की न्याईं उपशम को जब निरुद्ध चित्त प्राप्त होता है; अथवा जब चित्त सब वृत्तियों

एकांत में बैठकर तत्वचिंतन का उपायरूप ध्यानयोग वा तदनुसार समाधिस्थ पुरुष ही है ।

* दूसरा अन्वयार्थ तो बहुत टीकाकारों ने दिया है और पहला अर्थ किसी एक-दो ने । पर हमारे विचार में पहला अर्थ अधिक युक्त है; क्योंकि योगारूढ़ के चित्त का यहाँ वर्णन है, न कि सर्वसाधारण के चित्त का । और योगारूढ़ का चित्त तो निष्काम कर्म करते-करते जब पूर्व श्लोक ४ के अनुसार निरोध को प्राप्त हो चुका होता है, उसी के लिए यह ध्यानयोगरूपी शम साधन कहा गया है और वही निरुद्ध चित्त जब इस ध्यानयोग के निरंतर अनुष्ठान से उपशम को लाभ करता है, उसी की दशा का यहाँ वर्णन है न कि किसी अन्य रीति से निरोध हुए चित्त का ।

से रहित होने के कारण सब वृत्तियों के निरोधरूप परिणाम को प्राप्त हुआ होता है, अथवा जब निरुद्ध चित्त विषयों से पूर्ण निवृत्त होकर आत्मा में ही रमण करता है, अथवा निरुद्ध चित्त जब संसार से पूर्ण उपराम वा विरक्त होकर आत्मस्वरूप की सैर के लिए प्रवृत्त हुआ होता है, या आत्मस्वरूप के ध्यान में पूर्ण रम जाता है; और जब अथवा जिस अवस्था विशेष में यह उपराम वा उपशम को प्राप्त हुआ चित्त आत्मा से आत्मा को देखकर आत्मा में ही संतुष्ट होता है, अर्थात् अपने आत्मिक बल से अपने शुद्ध सच्चिदानंदस्वरूप को देखता हुआ (अनुभव करता हुआ) अपने आपमें ही संतुष्ट हो जाता है; अथवा जब निरुद्ध चित्त योगाभ्यास से सांसारिक विषयों से उपराम वा विरक्त होकर पीछे अंतर्मुख लौटता और ठहरता है, और फिर आप जब अपनी ही ओर देखकर पहचान जाता है कि "यह सच्चिदानंदस्वरूप मैं ही हूँ", और फिर इस पहचान अर्थात् अनुभव से पूर्ण संतोष को प्राप्त हुआ होता है । संक्षेप से यह कि जब (जिस अवस्था विशेष में) निरुद्ध चित्त योगाभ्यास से अंतर्मुख होकर आत्मध्यान में लीन होता आत्मसाक्षात्कार करता हुआ इस मोद * को प्राप्त होता है कि मैं ही सच्चिदानंदस्वरूप हूँ, वा 'मैं कृतार्थ हूँ', तब (उस अवस्था विशेष में) जानो कि वह पूर्ण असंप्रज्ञात समाधि को वा "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" के अनुसार सब वृत्तियों के निरोधरूप योग को पूर्ण प्राप्त हुआ होता है ॥ २० ॥

---

* इस विषय श्रुति ऐसा कहती है—"स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा ।" ब्रह्मा से लेकर स्तंब पर्यंत सब प्राणियों को आनंदित करनेवाला जो मोदनीय परमात्मदेव है, उसको साक्षात्कार करके विद्वान् पुरुष "मैं कृतार्थ हूँ" इस प्रकार के मोद को प्राप्त होता है ।

और—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

सुखं^{8}, आत्यन्तिकं^{7}, यत्^{2}, तत्^{1}, बुद्धि^{5}-ग्राह्यं^{6}, अति^{4}-इन्द्रियं^{3}	वह^{1} जो^{2} इंद्रियों^{3} से परे^{4} परंतु बुद्धि^{5} से ग्रहण^{6} किया जाने-वाला अत्यंत^{7} सुख^{8} है, उसको	वेत्ति^{3}, यत्र^{1}, न^{5}, च^{4}, एव^{6}, अयं^{2}, स्थितः^{7}, चलति^{8}, तत्त्वतः^{9}	जब^{1} (अर्थात् जिस अवस्था में) यह^{2} जानता^{3} है, और^{4} न^{5} ही^{6} (यह) स्थित^{7} हुआ तत्त्व^{9} से डोलता^{8} है

अन्वयार्थ—वह जो इंद्रियों से परे और बुद्धि-ग्राह्य अत्यंत सुख है (उसको) जब यह जानता है और जहाँ स्थित हुआ (यह) फिर तत्त्व से नहीं डोलता है ॥ २१ ॥

व्याख्या—जब अर्थात् जिस समय या जिस अवस्था विशेष में यह निरुद्ध चित्त योगाभ्यास से (समस्त सीमाओं को टपा हुआ अत्यंत) उपशम अवस्था को प्राप्त होकर आत्मसाक्षात्कार से उस महान् सुख * का अनुभव करता है कि जो (सुख)

---

* यहाँ सुख के तीन विशेषण दिये हैं (१) 'अत्यंत' अर्थात् जिससे बढ़कर और सुख नहीं, जिसको श्रुति भी ("यो वै भूमा तत्सुखम्" छां० ७. २३. १) "देशकाल वस्तुपरिच्छेद से रहित अनंत स्वरूप जो है वही सुख है," ऐसा कथन करती है। (२) 'अतीन्द्रिय' अर्थात् इंद्रियों से परे टपा हुआ। इससे यह सिद्ध किया गया है कि यह आत्म-सुख विषयजन्य सुख से विलक्षण वा भिन्न है, क्योंकि विषय-सुख केवल विषय-इंद्रिय के संबंध से ही प्रकट होता है। परंतु यह ब्रह्म-सुख विषय-इंद्रिय के संबंध से नहीं किंतु

इंद्रियों से तो परे है, अर्थात् जो नेत्रादि इंद्रियों से तो ग्रहण नहीं हो सकता, परंतु बुद्धि से अर्थात् आत्म-बुद्धि, वा केवल

केवल (२) बुद्धि-ग्राह्य होता है । इस बुद्धि-ग्राह्य रूप तीसरे विशेषण से यह विशेष करके सिद्ध किया गया है कि यह सुख सुषुप्ति के सुख से भी भिन्न है, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि के लय होने से वह सुषुप्ति का सुख बुद्धि से ग्रहण नहीं किया होता । पर समाधिकाल में तो वह बुद्धि लय नहीं हुई होती किंतु सर्व वृत्तियों से रहित हुई समाहित स्थित होती है, जिस लिए समाधि में वह ब्रह्मरूप सुख बुद्धि करके ग्रहण वा अनुभव होता है । यह भेद गौड़पादाचार्य ने भी दर्शाया है—"लीयते तु सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते ।" अर्थ—(सो मन) सुषुप्ति काल में तो अज्ञान में लीन हो जाता है, पर वह निगृहीत (वशीभूत हुआ) मन समाधि काल में लय भाव को प्राप्त नहीं होता । यह विषय श्रुति में ऐसे आया है—"समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् । न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा यतेतदन्तःकरणेन गृह्यते ॥" अर्थ—समाधि से जिसका रज-तमरूप मल वा पापरूप मल निवृत्त हो गया है, ऐसा जो आत्मा में स्थित चित्त है, उस चित्त को जो सुख प्राप्त होता है, उसका वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता है; किंतु निरुद्ध हो गई हैं सब वृत्तियाँ जिसकी, ऐसा जो अंतःकरण है, उससे वह अत्यंत सुख ग्रहण किया जाता है । पर जो लोग ऐसा मानते हैं कि इस अत्यंत सुख को अंतःकरण की वृत्तियाँ ग्रहण करती हैं या कर सकती हैं, उसका निषेध श्री गौड़पादाचार्य ऐसा करते हैं—"नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।" अर्थ—समाधि काल में "मैं यह महान् सुख अनुभव करता हूँ" इस प्रकार की सविकल्प वृत्ति का नाम प्रज्ञा है; इस प्रज्ञा से योगी पुरुष सुख का अनुभव नहीं करता (वा स्वाद नहीं लेता) है, बल्कि समाधि-काल में वह उस प्रज्ञा के संग से रहित हुआ होता है । और इस प्रकार सर्व वृत्तियों से रहित हुआ योगी निरुद्ध चित्त से (स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं

तत्त्व-विवेक बुद्धि से ग्रहण किया जा सकता है; और जिस अवस्था (अथवा सुख) में स्थित हुआ योगी पुरुष (वा निरुद्ध चित्त) अपने आत्मतत्त्व से चलायमान नहीं होता है, अर्थात् अपने स्वरूप के ज्ञान से उसे फिर संशय-विपर्यय नहीं होता है; उस अवस्था को ही तुम ठीक "योगयुक्त" शब्द वा "असंप्रज्ञात समाधि" शब्द का अर्थ जानो ॥ २१ ॥

और—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

यं^{२}, लब्ध्वा^{३}, च^{१}, अपरं^{४}, लाभं^{५}, मन्यते^{९}, न^{८}, अधिकं^{७}, ततः^{६}	और^{१} जिसको^{२} पाकर^{३} अन्य^{४} लाभ^{५} को उससे^{६} अधिक^{७} नहीं^{८} मानता^{९} है	यस्मिन्^{१}, स्थितः^{२}, न^{६}, दुःखेन^{४}, गुरुणा^{३}, अपि^{५}, विचाल्यते^{७},	जिसमें^{१} स्थित^{२} हुआ भारी^{३} दुःख^{४} से भी^{५} वह नहीं^{६} चलायमान^{७} होता (नहीं हिलाया जाता)

अन्वयार्थ—जिसको पाकर उससे अधिक और कोई लाभ * वह नहीं समझता है, और जिसमें स्थित हुआ वह भारी दुःख से भी नहीं हिलाया जाता है ॥ २२ ॥

व्याख्या—इस सर्व वृत्तियों से रहित चित्त की निरोध अवस्था में या इस निरुद्ध चित्त की उपशम वा शांत अवस्था में जिस

सुखमुत्तमम् ।) अपने में स्थित, शांत, निर्वाणरूप, सर्वोत्तम और अकथ्य सुख को भोगता वा अनुभव करता है ।

* स्मृति भी इस विषय में ऐसा कहती है—"आत्मलाभान्न परं विद्यते" = आत्मा के लाभ से परे दूसरा कोई अधिक लाभ नहीं है ।

आत्म सुख वा आत्म-लाभ को वह योगी पाता है, उससे अधिक और कोई लाभ (पाने योग्य) वह नहीं मानता है, अथवा इस अत्यंत सुख से बढ़कर और कोई पाने योग्य वस्तु उसे नहीं जँचती है, बल्कि इसी को पाकर वह अपने आपको कृतकृत्य समझता है, और जिस अवस्था (आत्म-लाभ वा आत्मस्वरूप-सुख) में स्थित होने से वह योगी बड़े भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता है (अथवा जिस अवस्था को प्राप्त होने पर महान् से महान् दुःख भी उसे अपने निजस्वरूप वा सुख से चलायमान नहीं करता, या उस योगी के चित्त में कोई विकार उत्पन्न नहीं करता है), उस अवस्था को चित्त की पूर्ण निरोधरूपी समाधि वा असंप्रज्ञात समाधि अथवा दुःख के स्पर्श से रहित योग-समाधि कहना चाहिए, अथवा तब समझो कि वह योगी पूर्ण योग-समाधि में स्थित वा युक्त है ॥ २२॥

संबंध—"यत्रोपरमते चित्तं" इस श्लोक (२०) से लेकर तीन श्लोकों में जो समाधिस्थ वा उपशम चित्त की अवस्था विशेष वर्णन की गई है, उस उक्त अवस्था में योग शब्द की अर्थरूपता को भगवान् अब कथन करते हैं—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

तं[1], विद्यात्[7], दुःख[2]-संयोग[3]-वियोगं[4], योग[5]-संज्ञितम्[6]	उस[1] दुःख[2] के संबंध[3] के वियोग[4] को योग[5] नाम[6]वाला जाने[7]	सः[1], निश्चयेन[6], योक्तव्यः[7], योगः[2], अ[3]निर्विण्ण[4]-चेतसा[5]	वह[1] योग[2] न[3] उकताये[4] हुए चित्त[5] से तथा निश्चय[6] से अनुष्ठान[7] किये जाने योग्य है

अन्वयार्थ---उस 'दुःख के संबंध के वियोग' को (पुरुष) योग नामवाला जाने । वह योग निश्चय से और न उकताये हुए चित्त से अनुष्ठान किये जाने योग्य है ॥ २३ ॥

व्याख्या--पस, हे अर्जुन! यह दुःखों के संबंध का वियोग (अथवा दुःखातीत अवस्था वा अत्यंत सुखरूप अवस्था), जो ऊपर तीन श्लोकों में वर्णन हुआ है, इसी वियोग (दुःखों के अत्यंताभाव) को तू योग नामवाला, अर्थात् योगस्वरूप समझ, और सब लोग भी मेरे मतानुसार इसी (नितांत दुःख-रहित) अवस्था को योग नामवाला जानें। अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक जितने भी दुःख हैं, उन सबके संबंध का चित्त की जिस अवस्था में अभाव होता है, वह अवस्था यद्यपि दुःखों के संबंध का वियोग कहलाने योग्य है, तथापि विरोध-लक्षणा से वा सुखस्वरूप के साथ पूर्ण युक्त होने से तू इस उपशम वा समाधिस्थ अवस्था को योग शब्द का अर्थ जान। और वह महान् फल देनेवाला योग अपने गुरुवाक्य तथा शास्त्रों के वचनों में दृढ़ निश्चय रखकर न उकताये हुए (निरुदास अथवा उत्साहपूर्ण) चित्त से अभ्यास किये जाने योग्य है।

अन्य रीति से तात्पर्य यह है कि गीता की परिभाषा में कर्म द्वारा जो चित्त का आत्मध्यान में युक्त होना रूप योग, अथवा "समत्वं योग उच्यते" (२, ४८) इत्यादि से सुख-दुःखरूप द्वंद्वों में जो चित्त की समत्व अवस्था का नाम योग है; और पातंजल योगसूत्र (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः) के अनुसार जो यहाँ चित्त-वृत्तियों के निरोध द्वारा उपशम अवस्था रूप योग कहा है, और जिसको पूर्व श्लोक १७ में "दुःखहा" सर्व दुःखनाशक और श्लोक २१ में अत्यंत सुखस्वरूप भी कहा है, इन उक्त कथनों में

से तू अब केवल उस अवस्था को योग नामवाला जान कि जिसमें दुःख के स्पर्शमात्र का भी वियोग होता है, अर्थात् जिस अवस्था में सर्वप्रकार के दुःखों का नितांत अभाव हुआ होता है। इस प्रकार का योग तो अथक * (हिम्मत न हारनेवाले) चित्त से और पक्के निश्चय से अभ्यास करने योग्य है ॥ २३ ॥ †

---

* इस विषय में श्रीगौड़पादाचार्य ऐसे लिखते हैं—"उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिंदुना । मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥" अर्थ—जैसे टिट्टिभ (टिटिहरी) पक्षी ने समुद्र को सुखाने के निश्चय से अपनी कुशा के अग्रभाग-समान चोंच से समुद्र के जल का बिंदु ले-लेकर उसको सुखा दिया था। वैसे ही खेद-रहित (निर्विण्ण चित्त) होकर दृढ निश्चय-पूर्वक अभ्यास करने से मन का पूर्ण निग्रह होता है। क्योंकि इस अभ्यास में अति परिश्रम और निश्चय की आवश्यकता है, और विना इसके यह योग सिद्ध नहीं हो सकता। परंतु चित्त की शुद्ध और निरुद्ध अवस्था तो केवल इस पातञ्जल योग या ध्यानयोग से ही नहीं किंतु कर्मयोग और भक्तियोग से भी हो सकती है, जो मार्ग इस ध्यानयोग के मार्ग से सुलभ और सुगम हैं, इसलिए भगवान् ने इससे पूर्व कर्मयोग पर ज़ोर दिया है, और आगे भक्तियोग पर ज़ोर देते हुए इन्हीं दोनों को सर्वसाधारण के लिए वे प्रथम अनुष्ठेय कहेंगे। और यह ध्यानयोग तो किसी व्यक्ति विशेष अर्थात् कर्मयोग वा भक्तियोग द्वारा योगारूढ़ हुए पुरुष के लिए ही उपयोगी होता है, जिस लिए इसे भी यहाँ भगवान् ने सविस्तर दे दिया है।

† २०, २१, २२ और २३ इन चार श्लोकों की अनोखे ढंग से व्याख्या श्रीज्ञानदेव ने ऐसे की है—"सामान्यतः इस योग से ज्यों ही इंद्रियों का निग्रह होता है, त्यों ही चित्त आत्मस्वरूप के भेंट के लिए प्रवृत्त होता है, पीछे पलट कर ठहरता है, और आप अपनी ही ओर देखता है, तो देखते ही पहचान जाता है कि "यह तत्त्व मैं ही हूँ"।

संबंध—(१) किस उपाय से उक्त योग का अभ्यास करना चाहिए, इसे भगवान् अब सविस्तर कहते हैं—

पहचानते ही वह सुख के साम्राज्य पर बैठता है, और फिर अपनी एकता में विलीन हो जाता है। जिसके परे और कुछ नहीं है, जिसे इंद्रिय कभी नहीं जानते, सो स्वयं आप ही हो रहता है। फिर मेरु पर्वत से भी बड़े देह-दुःख का दबाव आ पड़े, तथापि उस बोझ से उसका चित्त नहीं दबता। अथवा देह शस्त्र से तोड़ा जाय अथवा अग्नि में फेंक दिया जाय, तथापि महासुख में सोया हुआ उसका चित्त जाग्रत नहीं होता। इस प्रकार वह निज में प्रवेश कर रहता है, और देह की बाट नहीं हेरता। वह दूसरे ही सुख से एक रूप हो जाता है, इसलिए देह को भूल जाता है। जिस सुख की मधुरता से मन सुख का स्मरण ही भूल जाता है और संसार का उलझाव तोड़ डालता है, जो योग की शोभा है, संतोष का राज्य है, जिसके लिए ज्ञान का ज्ञातृत्व प्रवृत्त होता है, सो योग का अभ्यास करने से मूर्तिमान दिखाई देने लगता है, और दिखाई देते ही योगी तद्रूप हो जाता है।"

प्रसिद्ध महाशय तिलकजी इन श्लोकों की ऐसे व्याख्या करते हैं—"इन (२०, २१, २२, २३) चारों श्लोकों का एक ही वाक्य है। २३वें श्लोक के आरंभ के 'उसको' (तं) इस दर्शक सर्वनाम से, पहले तीन श्लोकों का वर्णन उद्दिष्ट है; और चारों श्लोकों में 'समाधि' का वर्णन पूरा किया गया है। पातञ्जल योग-सूत्र में योग का यह लक्षण है कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"=चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। इसी के सदृश २०वें श्लोक के आरंभ के शब्द हैं। अब इस 'योग' शब्द का नया लक्षण जान-बूझ कर दिया है कि समाधि इसी चित्त-वृत्ति निरोध की पूर्णावस्था है और इसी को 'योग' कहते हैं। उपनिषद् और महाभारत में कहा है कि निग्रहकर्त्ता और उद्योगी पुरुष को सामान्य रीति से यह योग छः महीने में सिद्ध होता है (मैत्र्यु० ६. २८ ; अमृत नाद० २९ ; म. भा. अश्व. अनुगीता. १९, ६६)। किंतु पहले २०वें

अथवा (२) पहले बहिरंग साधन इस योगाभ्यास के बताकर अब भगवान् इसी अभ्यास के अंतरंग साधन सविस्तर वर्णन करते हैं—

अथवा (३) पूर्व श्लोक ३ और ४ में सर्वसंकल्पों के त्यागी और नितांत निरासक्त हुए योगारूढ़ की उन्नति का उपाय जो शमसाधन कहा गया था, उसकी विधि, अभ्यास के उपाय, लक्षण और फल यहाँ तक वर्णन हुए; पर जो उक्त रीति से योगारूढ़ नहीं हैं और इसी योगाभ्यास से योगारूढ़ होकर उपशमरूप अत्यंत सुख व आत्मसाक्षात्कार लाभ करना चाहते हैं, अब भगवान् उनके लिए इसी योगाभ्यास के उपाय, साधन, लक्षण और फल श्लोक ३२ तक सविस्तर निरूपण करते हैं—

अथवा (४) प्रसंगानुसार अब भगवान् सर्वसाधारण के लिए इसी ध्यानयोग के साधनोपाय तथा सिद्धदशा को पुनरपि वर्णन करते हैं—

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥*

और फिर २८वें श्लोक में स्पष्ट कह दिया है कि पातञ्जल योग की समाधि से प्राप्त होनेवाला सुख न केवल चित्त-निरोध से प्रत्युत चित्त-निरोध द्वारा अपने आप आत्मा की पहचान कर लेने पर होता है। इस दुःखरहित स्थिति को ही 'ब्रह्मानंद' या 'आत्म-प्रसादज सुख' अथवा 'आत्मानंद' कहते हैं (गी॰ १८, ३७)। अगले अध्यायों में इसका वर्णन है कि आत्म-ज्ञान होने के लिए आवश्यक चित्त की यह समता एक पातञ्जल योग से ही नहीं उत्पन्न होती, किंतु चित्त-शुद्धि का यह परिणाम ज्ञान और भक्ति से भी हो जाता है। यही मार्ग अधिक प्रशस्त और सुलभ समझा जाता है।

*यह विषय भागवत (२.१.१८-१९ और २.२.१६) में ऐसे वर्णित है—

सङ्कल्प-प्रभवान्, कामान्, त्यक्त्वा, सर्वान्, अशेषतः	संकल्प से उत्पन्न हुई सारी की सारी कामनाओं को त्याग कर
मनसा, एव, इन्द्रिय-ग्रामं, विनियम्य, समन्ततः	मन से ही इंद्रियों के समूह को सब ओर से रोक कर
शनैः, शनैः, उपरमेत्	धीरे-धीरे वह उपराम (शांत) होवे
बुद्ध्या, धृति, गृहीतया	धीरज पकड़ी हुई बुद्धि से
आत्म-संस्थं, मनः, कृत्वा	मन को आत्मा में स्थित करके
न, किञ्चित्, अपि, चिन्तयेत्	कुछ भी न चिंतन करे

अन्वयार्थ—संकल्प-जन्य सारी की सारी कामनाओं को त्याग

"नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः ।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया ॥ १८ ॥
तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा ।
मनो निर्विषयं युक्त्वा यतः किञ्चन न स्मरेत् ॥
पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ॥ १९ ॥"

अर्थ—बुद्धि की सहायतावाले मन से इंद्रियों को विषयों से हटावे, और वासनाओं से विषयों में फँसे हुए मन को धैर्यवाली बुद्धि से उपराम करावे और तब उस एक निर्विकार (आत्मा) को निरंतर चित्त से ध्यावे और इस प्रकार निर्विषय मन को आत्मस्वरूप में लगाकर किसी भी अनात्म पदार्थ का स्मरण न करे । इस प्रकार जहाँ मन प्रसन्न होता है, वही विष्णु का उत्तम स्थान है ।

"मनः स्वबुद्ध्यामलया नियम्य क्षेत्रज्ञ एतां निनयेत्तमात्मनि ।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात् ॥ १६ ॥"

अर्थ—धीर (ज्ञानी) अपनी निर्मल बुद्धि से मन को रोककर अपने अंतरात्मा में लगावे और इस प्रकार मन का आत्मा में निरोध करने से परम शांति और कल्याण होता है ।

कर, मन से ही इंद्रियों के समूह को सर्व ओर से रोककर, धीर पकड़ी हुई बुद्धि से धीरे-धीरे वह उपराम (शांत) होवे, और म को आत्मा में स्थिर करके कुछ भी चिंतन न करे ॥ २४, २५

व्याख्या--हे अर्जुन ! अब तू योगाभ्यास अर्थात् ध्यानयोग द्वारा समाधिस्थ होने का अंतरंग साधन वा उपाय सुन-अथवा जो लोग पूर्व श्लोक ३ और ४ के अनुसार कर्मयोग के साधन से (सर्व संकल्पों वा कामनाओं के त्यागी होकर) योगारूढ़ तो हुए नहीं किंतु इसी ध्यानयोग के साधन से योगारूढ़ होकर आत्मसाक्षात्कार द्वारा अत्यंत सुखलाभ करना चाहते हैं, उनके लिए तू अब इसी योगाभ्यास वा ध्यानयोग की विधि सुन--सबसे पहले उक्त अभ्यासी पुरुष को चाहिए कि संकल्पों से उत्पन्न हुई वा होनेवाली जो भी कामनाएँ हैं, उन सारी की सारी कामनाओं का वह संपूर्ण रीति से त्याग करे, फिर मन से चक्षु आदि इंद्रियों के समूह अर्थात् समस्त इंद्रियों को रूपादि सर्व विषयों से निवृत्त करे अथवा अपने वश में करे वा रोके ! इस प्रकार विषयों और विषय-कामनाओं से निवृत्त होकर फिर धैर्ययुक्त और निश्चयस्वरूपा बुद्धि से धीरे-धीरे उपराम होवे; अर्थात् सब कर्मों को सहित उनकी सूक्ष्म वासनाओं के पूर्ण रीति से मन द्वारा त्याग करके फिर धैर्ययुक्त बुद्धि से शनैः-शनैः मन का निरोध करे । इस प्रकार निरोध को प्राप्त होकर फिर मन को आत्मा में स्थित करे, अर्थात् उपराम वा निरुद्ध हुए मन को अपने परम शुद्ध सच्चिदानंदस्वरूप के ध्यान में पूर्ण युक्त करे। और इस प्रकार मन को आत्मा में स्थित करके किसी भी अनात्म पदार्थ का चिंतन न करे। अर्थात् पातंजल योग के बहिरंग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार)

पाँच अंगों को करने के पश्चात् फिर धारणा, ध्यानादि तीन अंतरंगों का अनुष्ठान करे ॥ २४, २५ ॥*

---

* तात्पर्य इस सबका पंडित रामप्रसाद के शब्दों में यह है कि—"इंद्रियाँ सदा विषयों की ओर झुकी रहती हैं, उस झुकाव का नाम काम है। अथवा इंद्रियों की जो विषयों की ओर स्वाभातिकी झुकाव-रूपी प्रवृत्ति होती है, वही कामना का स्वरूप है। और ज्ञानेंद्रियों द्वारा विषयों की जो आकृति मन में बनती है, उसको प्रत्यय कहते हैं। दो अथवा अधिक प्रत्ययों का मिलना और इस मिलाप से नये मानसिक प्रत्यय बनाना, यह सब मन का काम है, और यह कर्म तथा इस कर्म की शक्ति संकल्प नाम पाती है। इसलिए संकल्प मन का स्वरूप है।

विषयों के प्रत्यय जब इंद्रियों द्वारा बार-बार मन में उत्पन्न होते हैं, तब मन को उनकी वासना उत्पन्न होती है। इस वासना के उत्पन्न हो जाने पर फिर वह प्रत्यय जब मन में न हों, तो मन उनकी ओर खिंचता है, और जब विषय उपस्थित भी नहीं तब भी प्रत्ययमात्र के मौजूद करने की वृत्ति को प्रकट करता है। इस वृत्ति का नाम स्मृति है। इस स्मृति से विषय की प्राप्ति की इच्छा और भी अधिक होती है। उन (विषयों) की प्राप्ति से सुख प्रत्यय और उनकी अप्राप्ति से दुःख होता है। सुख की इच्छा और स्मृतिरूप वृत्ति द्वारा इंद्रियों की स्वाभाविकी विषयाभिमुखी वृत्ति का उद्वेग (उत्तेजन, excitement) होता है। यह जो मानसिक प्रत्ययों की विषय-वासना से उत्पन्न हुई स्मृतिरूपी वृत्ति मन में विषयकामना उत्पन्न करती और इससे फिर इंद्रियों की स्वाभाविकी वृत्ति का उत्तेजन करती है, यह कामना उक्त विधि से संकल्प से उत्पन्न होती है। इस संकल्प-जन्य कामना से इंद्रियों को सहायता (वा उत्तेजना) मिलती है। जब तक यह सहायता मिलनी बंद नहीं होती, तब तक इंद्रियों का बहिर्मुख वेग बढ़ता ही रहता है। इसलिए इस संकल्प से उत्पन्न होनेवाली कामनाओं का ही सबसे पहले छोड़ना आवश्यक है। जब तक ऐसा न हो, मन का निरोध प्राप्त होना असंभव

संबंध—(१) "शनैः शनैः उपरमेत्" इस उक्त वाक्य को भगवान् अब विवृत्त करते हैं—

अथवा (२) "किस प्रकार मन को आत्मा में स्थित करे" इसको भगवान् अब कहते हैं—

सा है। जिस समय संकल्प-जन्य कामनाओं को पूरा-पूरा छोड़कर मन निरोधशक्ति के प्रवाह के योग्य होता है, उसी समय मन इंद्रियों को रोकने के योग्य होता है। मन के ही द्वारा निरोध का प्रभाव इंद्रियों पर हो सकता है, इसलिए पहले मन का शुद्धि (कामनारहित अवस्था) चाहिए। पर इस शुद्धि द्वारा मन और इंद्रियों का निरोध एक बार ही पूरा-पूरा नहीं हो सकता, धीरे-धीरे प्रयत्न करने से ही हो सकता है। और बहुत काल तक धीरे-धीरे किसी कर्म के किये जाने के लिए धृति की आवश्यकता है। फिर धृति (धीरता वा हिम्मत) निश्चय से हो सकती है; और निश्चय बुद्धि का स्वरूप है; इसलिए बुद्धि से दृढ़ निश्चय करके मनोकामनाओं के रोकने का प्रयत्न हो सकता है, और उचित काल नक नियत रह सकता है।

इस प्रकार जब बुद्धि से दृढ़ निश्चय द्वारा धृतिपूर्वक मनोकामनाओं को रोककर इंद्रियों को धीरे-धीरे पूर्ण रोक लिया जाता है, तब निरुद्ध मन आत्मा में, अर्थात् अपने परम शुद्ध सच्चिदानंदस्वरूप के ध्यान में स्थित होने के योग्य हो जाता है, अर्थात् कामतत्त्व से निकलकर मन फिर परमनस् में प्रवेश करने के योग्य हो जाता है। इस योग्यता के उत्पन्न होने पर मन आत्मतत्त्व के ज्ञान के लिए तदभिमुख (आत्मसंस्थ) होता है, और अन्य सब ओरों से नितांत हट जाता है। यह अंतरंग योग के पहले अंग 'धारणा' का स्वरूप है।

पातंजल योगदर्शन में ऐसे आया है—"त्रयमन्तरङ्गपूर्वेभ्यः ।" (७। ३)। अर्थात् पहले पंचांग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) बहिरंग योग है, और इनके द्वारा तीन अंग (धारणा, ध्यान और समाधि) अंतरंग योग है। और "देशबन्धिश्चित्तस्य धारणा।"

अथवा (३) * निरालबंन-ध्यान की विधि भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (४) अब भगवान् उक्त विषय को और स्पष्ट करके एकाग्रता का उपाय कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

यतः, यतः,†	चंचल और अस्थिर	ततः, ततः,	वहाँ वहाँ से रोक
निस्-चरति,	मन जहाँ जहाँ (या	नियम्य, एतत्,	कर इसे आत्मा में
मनः, चञ्चलं,	जहाँ-जहाँ से) बाहर	आत्मनि, एव,	ही वश में लावे
अस्थिरं	जाता (निकलता) है	वशं, नयेत्	(वश करे)

(३ । २) इस योगसूत्र के अनुसार चित्त को किसी एक स्थान (देश) में बाँध देने को धारणा कहते हैं । यह जो भगवान् कहते हैं "आत्मसंस्थं मनः कृत्वा" इसका यही अर्थ है कि आत्मा के देश में (अर्थात् आत्मा में) चित्त को बाँधकर इस प्रकार योग के धारणारूप अंतरंग को आरंभ करे ।

* निरालंबन-ध्यान और केवल ध्यान में इतना भेद है कि सब अन्य पदार्थों से वृत्ति को हटाकर केवल एक बाह्य-ध्येय-पदार्थ पर वृत्ति का प्रवाह ध्यान कहलाता है । और जिधर-जिधर भी बाहर वृत्ति जाने लगे उधर-उधर से (अथवा सब ओर से) वृत्तियों को हटाकर अपने वश में रखना और आत्मा में लय करना (वा आत्मा में ही नियुक्त रखना) निरालंबन-ध्यान कहलाता है । इस निरालंबन ध्यान की रीति भगवान् अब कहते हैं—

† किसी टीकाकार ने 'यतः' शब्द के अर्थ 'जहाँ' से करे हैं और किसी ने 'जहाँ' या 'जिधर' किये हैं । हमारे विचार में ये दोनों ही अर्थ हो सकते हैं और दोनों ही अपने-अपने स्थान पर अपने भिन्न-भिन्न संबंधों की अपेक्षा

पहला अन्वयार्थ---जहाँ-जहाँ से यह चंचल और अस्थिर मन बाहर जाता है, वहाँ-वहाँ से रोककर इसे आत्मा में ही वश (निरुद्ध) करे ॥ २६ ॥

दूसरा अन्वयार्थ---जहाँ-जहाँ (जिधर-जिधर) यह चंचल और अस्थिर मन जावे, वहाँ-वहाँ से रोककर इसे आत्मा में ही निरोध को प्राप्त करे ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! धारणा और ध्यान करते समय, अथवा चित्त (अंतःकरण) का निरोध करते समय, यह चंचल और अस्थिर-स्वभाव मन, अर्थात् विक्षेप वा क्षोभ को प्राप्त होनेवाला वा एक ही स्थान पर दीर्घ काल तक न टिकनेवाला मन जब (चित्त को विक्षिप्त करनेवाले) किसी भी पदार्थ की ओर जावे, अथवा विषयों की ओर ले जानेवाली जो अंतःकरण की चार वृत्तियाँ (प्रमाण[1], विपर्यय[2], विकल्प[3], स्मृति[4]) हैं, इनमें से किसी भी वृत्ति की ओर अथवा किसी भी वृत्ति द्वारा यह मन जब बाहर विषयों की ओर भागे; अथवा विषयाभिमुख रहने के स्वभाववाली ये जो श्रोत्रादि इंद्रियाँ हैं, इनमें से किसी भी इंद्रिय के द्वारा जब यह मन बाहर निकलकर विषयों के पीछे विचरे; तब अभ्यासी पुरुष को चाहिए कि वह इस मन को उस-उस विषय वा द्वार से हटाकर और इसे स्वाधीन करके अंतरात्मा में लगावे। अर्थात् अभ्यासी पुरुष उस-उस विक्षेपदायक पदार्थ वा मार्ग से मन को हटाकर इसको अपने वश में करके स्वप्रकाश परमानंदघन आत्मा

से ठीक बैठते हैं। इसलिए दोनों ही भिन्न-भिन्न संबंधों के साथ यहाँ दे दिये गये हैं।

में निरुद्ध करे, जिसमें निरुद्ध होने पर फिर यह विक्षेप को प्राप्त नहीं होता ॥ २६ ॥*

---

* इस विषय में श्रीगौड़पादाचार्य ने ऐसे कहा है—

"उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः ।
सुप्रसन्नं लये चैव यथाकामो लयस्तथा ॥ १ ॥
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्त्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥ २ ॥
लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत् ॥ ३ ॥
नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चलं चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥ ४ ॥
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अलिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥ ५ ॥"

अर्थ—(१) काम (विषय-वासना वा स्वार्थ-इच्छा) और भोग (विषयों का पाना वा भोगना) या इन दोनों में जो विक्षिप्त मन है, अर्थात् १. प्रमाण २. विपर्यय ३. विकल्प ४. स्मृति इन चार वृत्तियों में से किसी भी वृत्ति के कारण परिणाम को प्राप्त हुआ जो मन है, इसको योगी पुरुष वैराग्य व अभ्यासरूप उपायों से स्वाधीन करे, अर्थात् अपने आत्मा में निरुद्ध करे । और सुषुप्ति अवस्था रूप लय (वा शून्य समाधि) में सुप्रसन्न (अथवा सब आयास वा परिश्रम से रहित हुआ) जो मन है, उसका भी योगी निग्रह करे । क्योंकि जैसे काम वैसे लय है । तात्पर्य यह है कि शब्दादि विषयों की दो प्रकार की अवस्था होती है, एक तो चिंत्यमान, अर्थात् शब्दादि विषयों का चिंतन करना, और दूसरी भुज्यमान, अर्थात् शब्दादि विषयों का भोगना । इन दोनों अवस्थाओं के समझाने के लिए 'कामभोगयोः' यह द्विवचन शब्द कहा है । ये दोनों अवस्था मन के विक्षेप का हेतु हैं । पर सुषुप्ति रूप (वा शून्य समाधि रूप) लय

संबंध—अब उक्त अभ्यास का (वा आत्मविषयक समाधि का) भगवान् फल कहते हैं—

अवस्था जिसमें मन सब विक्षेप रूप आयास से रहित होता है, वह भी वैसी ही योग-समाधि की विरोधी है जैसी कि काम-भोग की अवस्था; अर्थात् जैसे काम (कामना) विषयगोचर प्रमाणादि वृत्तियों को उत्पन्न करके समाधि का विरोधी होता है, वैसे लय भी निद्रारूप वृत्ति को उत्पन्न करके समाधि का विरोधी होता है, जिससे सब वृत्तियों का निरोध ही समाधि कहलाता है। इसलिए कामादि कृत विक्षेप से जैसे मन का निग्रह वा निरोध करना उचित और आवश्यक है, वैसे परिश्रमादि कृत लय से, अर्थात् परिश्रम करते-करते थक जाने पर जो निद्रारूप लय, अथवा कुछ चिंतन करते-करते थक जाने पर जो शून्य समाधिरूप लय है, उससे भी मन का हटाना और निरोध करना योगी के लिए उचित और आवश्यक है ॥ १ ॥ ऊपर यह कहा है कि उपाय से मन को रोके, सो उपाय को अब आचार्यजी सविस्तर कहते हैं—

(२) "वह सब नाम-रूप द्वैतप्रपंच दुःखरूप ही है" ऐसा चिंतन करके (अथवा "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति अथ यदल्पं तन्मर्त्यं तद्दुःखमिति'="यह जो देशकाल वस्तुपरिच्छेद से रहित भूमा अर्थात् चेतन है, वही सुखरूप है; अल्प वा परिच्छिन्न पदार्थों में सुख नहीं, जो-जो पदार्थ अल्प अर्थात् परिच्छिन्न हैं, वे नाशवान् हैं, और दुःखरूप हैं," ऐसा श्रुति-वाक्यों से वा गुरु के उपदेशों से चिंतन करके) योगी पुरुष काम-भोगों को अपने मन से निवृत्त करे, अर्थात् चिन्त्यमान तथा भुज्यमान अवस्था-वाले विषयों को अपने मन से दूर करे। (इतना तो द्वैतरूप प्रपंच के स्मरण-काल में वैराग्यभावना रूप उपाय कहा, अब इस प्रपंच के विस्मरण रूप परम उपाय को कहते हैं)। जन्म से रहित जो भूमा अर्थात् ब्रह्म है, वही यह सब जगत् है, इस ब्रह्म से अतिरिक्त किंचित्-मात्र भी वस्तु नहीं है। इस प्रकार विचार करके योगी पुरुष इस अद्वितीय ब्रह्म से

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

विपरीत (उत्पन्न होनेवाले नामरूप) द्वैतमात्र को देखता ही नहीं, इसलिए वैराग्यरूपी उपाय के बाद फिर सब प्रपंच को ब्रह्मरूप करके जानने का उपाय करे ॥ २ ॥ इस प्रकार वैराग्यभावना तथा तत्त्वदर्शन-रूप दो उपाय विषयों से निवृत्त होने के लिए बताये गये। अब उक्त उपायों द्वारा विषयों से निवृत्त किया हुआ चित्त जब लय अवस्था की ओर झुके, अथवा लय से उत्थान हुआ विषयों में पुनः प्रवृत्त होकर विक्षिप्त होवे, तो उसका उपाय अब कहते हैं—

(३) जब पूर्व अभ्यास से चित्त पुनः-पुनः लय (निद्रा वा सुषुप्ति) को प्राप्त हो, तो उस लय अवस्था से योगी पुरुष चित्त को जगाये, अर्थात् उस अवस्था से वा उस अवस्था के कारणों से चित्त को उठाने वा निकालने का यत्न करे। और जब लय से उत्थान हुआ चित्त पूर्व स्वभाव से विषयों वा वासनाओं में पुनः विक्षिप्त हो, तो उक्त वैराग्य भावना तथा तत्त्वोपदेश वा तत्त्वदर्शनरूप उपायों से चित्त को निरुद्ध करे। और जब चित्त लय अवस्था तथा काम-भोग अवस्था से तो निवृत्त हो गया हो, परंतु ब्रह्मरूप स्वभाव को अभी प्राप्त न हुआ हो किंतु मध्य में ही स्थित हो, तो इस स्तब्धभाव (एक स्थान पर ही रुकी हुई अवस्था) को 'कषाय' दोष कहते हैं। इस प्रकार बीच में ही रुके हुए चित्त को पुरुष 'कषाय' दोषवाला जाने। "ऐसी अवस्था में हमारा चित्त अभी समाहित नहीं हुआ है' इस प्रकार जानकर जैसे लय-विक्षेप से चित्त निवृत्त किया था वैसे इस कषाय-दोष से भी चित्त को निवृत्त करे। इस रीति से जब समरूप ब्रह्म को चित्त प्राप्त हो, तब कषाय वा लय की भ्रांति से उसे चलायमान न करे, बल्कि उस चित्त को धैर्य पकड़ी हुई बुद्धि से और अपने दृढ़ तत्त्व-निश्चय से अत्यंत प्रयत्न करके सम ब्रह्म में ही स्थापन करे ॥ ३ ॥ इस निरोध-समाधि के प्राप्त होने पर फिर क्या कर्त्तव्य है, उसे अब कहते हैं—

(४) इस रीति से निरोध-समाधि पाने पर यद्यपि सुख तो प्राप्त

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

होता है, परंतु योगी पुरुष इस निरोधावस्था में उस सुख का स्वाद लेने न लग पड़े, अर्थात् "इतने काल तक मैं सुखी हुआ स्थित हूँ" इस प्रकार की सुख के स्वाद लेनेवाली वृत्ति को योगी उत्पन्न न करे। यदि ऐसी सुखाकार वृत्ति को वहाँ उत्पन्न कर लेगा तो असंप्रज्ञात समाधि का भंग हो जायगा। यह वार्ता पहले वर्णन की जा चुकी है। और सुखाकार वृत्तिरूप प्रज्ञा करके जो सुख प्रतीत होता है, वह सुख अविद्या से कल्पित होने के कारण मिथ्या ही है। इस प्रकार की भावना से वह योगी उक्त सब सुखों में निःसंग होवे, अर्थात् उस सुख की इच्छा (वा वृत्ति) से रहित होवे। अथवा इसी पाद के दूसरे अर्थ ऐसे हो सकते हैं कि (निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्) सविकल्प सुखाकार वृत्तिरूप जो प्रज्ञा है, उसके साथ योगी अपना संग न रक्खे। सब वृत्तियों से रहित चित्त के कारण जो स्वरूप के सुख का अनुभव होता है, वह परम सुख का अनुभव तो योगी त्याग नहीं सकता, क्योंकि वह वृत्ति से बिना ही अर्थात् निज स्वभाव से प्राप्त हुआ होता है, जिससे निवृत्त किया नहीं जा सकता। इस प्रकार सब ओर से निवृत्त करके प्रत्यय (पूर्ण निश्चय) के बल से निश्चल किया हुआ जो चित्त है वह यदि अपने चंचल स्वभाव के कारण फिर कभी विषयों की अभिमुखता करके बाहर गमन करे, तो उस समय भी वह योगी निरोध के प्रयत्न द्वारा उसे पुनः-पुनः सम ब्रह्म में एकता को प्राप्त कराये ॥ ४ ॥ सम ब्रह्म की प्राप्ति का समय वा लक्षण अब कहते हैं—

(५) जब चित्त न निद्रारूप लय को, न विक्षेप को और न कषाय आदि अन्य दोषों को प्राप्त होता है, और इस कारण सब दोषों और चेष्टारूपी लिंगों से रहित होता है, बल्कि जब वह ऐसा निश्चल स्थित होता है जैसे वायु-रहित स्थान में दीपक, तब वह चित्त सम ब्रह्म को प्राप्त हुआ होता है। अर्थात् तब वह ब्रह्मभूत होता है ॥ ५ ॥ इसी प्रकार का ध्यानयोग श्रुति ने भी स्पष्ट रूप से ऐसे कहा है—

* प्रशान्त^{३}-मनसं^{४}, हिं^{१}, एनं^{२}, योगिनं^{५}	निःसंदेह^{१} इस^{२} शांत^{३} मनवाले^{४} योगी^{५} को	शान्त^{१}-रजसं^{२}, ब्रह्म^{३}-भूतं^{४}, अ^{६}-कल्मषम्^{५} †	शांत^{१} हुए रजोगुण^{२} वाले, ब्रह्म^{३} रूप^{४} हुए और पाप^{५} से रहित^{६} हुए (निष्पाप योगी) को
सुखं^{२}, उत्तमं^{१}, उपैति^{३}	उत्तम^{१} सुख^{२} प्राप्त^{३} होता है		

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय-धारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥ इति । अर्थ—जब मन सहित पंच ज्ञानेंद्रिय के निरोध को प्राप्त होता है, और बुद्धि कोई चेष्टा नहीं करती, तब उस स्थिर इंद्रियों की धारणा को योग में निपुण (वा तत्त्ववेत्ता) पुरुष परम गति कहते हैं और उसी को योग मानते हैं । उस समय वह योगी प्रमाद से रहित हुआ होता है, क्योंकि योग उत्पत्ति और लय का स्थान अर्थात् आंतर ज्ञान की उत्पत्ति और वाह्य ज्ञान के लय का स्थान है। (कठ. १. व. ६. श्लोक १०, ११)। इसी मूलभूत श्रुति को अंगीकार करके पतंजलि भगवान् ने "योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः" यह सूत्र कहा है । और ध्यान का स्वरूप भी ऐसे ही वर्णन किया है; अर्थात् (तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्) उस स्थान में जहाँ धारणा करी है प्रत्यय के एकरूप से प्रवाह को ध्यान कहते हैं । जिससे भगवान् ने अब ऐसा कहा है कि "ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।"

* प्रशांत मन उसे कहते हैं जो सर्व वृत्तियों से ख़ाली हो, और केवल नाममात्र संस्कार रह गयें हों (श्रीमधुसूदन स्वामी)। जिसका मन शांत हो जाता है, अर्थात् ध्यान में आरूढ़ हो जाता है, इधर-उधर नहीं जाता, प्रत्यय की एकतानता हो जाती है, चित्त आत्मा में एकाग्र हो जाता है, व्युत्थान की शक्ति जाती रहती है, (मेरठ के श्रीयुत रामप्रसाद) । जो मन शांत हो गया, अर्थात् निरालंबन ध्यान में स्थित हो गया है (टीकाकार) ।

† "अकल्मष", जिसका मल जाता रहा है । अर्थात् जो धर्म-अधर्म

अन्वयार्थ—इस शांत मन, रज से रहित, निष्पाप और ब्रह्मभूत योगी को निःसंदेह उत्तम सुख प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

व्याख्या--हे अर्जुन ! उक्त रीति से मन को निरंतर आत्मा में अर्थात् आत्मध्यान में लगाते रहने से जिसका मन शांत (अथवा निरालंबन ध्यान में स्थित, वा सब वृत्तियों से रहित रूप निरोध को प्राप्त) हो गया है--इसी को शास्त्र में निर्मनस भी कहते हैं—और विक्षेप का हेतु रजोगुण जिसका निवृत्त हो गया है, अर्थात् जिसका रजोगुण स्वभाव अपने आत्मचिंतन से नितांत दब गया है, या पूर्वोक्त रजोगुण से उत्पन्न हुआ काम और क्रोध जिसका ठंडा पड़ गया है, अथवा जो उक्त उपायों द्वारा विक्षेपदोष से रहित हो गया है; और ऐसे शांत मन और शांत रजोगुण होने के कारण सर्वप्रकार के कल्मषों (लय अर्थात् निद्रा का हेतु-भूत तमोगुण रूप कल्मष, और संसार का हेतु-भूत जो धर्माधर्मादि रूप कल्मष अर्थात् पाप) से जो रहित हो गया है; और "यह सर्व जगत् ब्रह्मरूप ही है" वा "शुद्ध सच्चिदानंद, निर्विकार और स्वप्रकाशात्मा वा ब्रह्मस्वरूप मैं ही हूँ" ऐसे निश्चयपूर्वक ध्यान में पूर्ण युक्त होने से जो ब्रह्म (साक्षात्कार) को प्राप्त हो चुका है, ऐसे जीवन्मुक्त योगी को उत्तम अर्थात् परम सुख प्राप्त होता है ॥ २७ ॥ *

की पुनर्जन्म करानेवाली वासना है, वह जिसमें नितांत नहीं रही है (मेरठ के श्रीयुत रामप्रसाद) ।

* इस शांत-रजोगुण और शांत मनवाले पुरुष के विषय में श्रुति भी ऐसे कहती है—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

संबंध-- (१) इस अत्यंत सुख को ब्रह्मानंद के स्वरूप में भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (२) अब योगी के इस उत्तम सुख की अंतिम सीमा को भगवान् स्पष्ट रूप से निरूपण करते हैं—

अथवा (३) अब भगवान् योगी के उक्त सुख को और स्पष्ट निरूपण करते हैं—

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

युञ्जन्[७], एवं[४], सदा[५], आत्मानं[६], योगी[३], विगत[१]-कल्मषः[२]	दूर[१] हुए पापोंवाला[२] योगी[३] ऐसे[४] सदा[५] आत्मा[६] (अपने आप) को युक्त[७] करता हुआ	सुखेन[५], ब्रह्म[१]-संस्पर्शं[२], अत्यन्तं[३], सुखं[४], अश्नुते[६]	ब्रह्म[१] से स्पर्श[२] करनेवाले अत्यंत[३] सुख[४] को वह सुख[५]-पूर्वक (अनायास) भोगता[६] है

अन्वयार्थ—दूर हुए पापोंवाला योगी इस प्रकार आत्मा (मन)

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥" (कठ २ वल्ली ६)

अर्थ—जब सारी कामनाएँ, जो इसके हृदय में रहती हैं, छूट जाती हैं, अर्थात् जब रजोगुणोत्पन्न काम सहित अपनी मूल के निवृत्त हो जाता है, अथवा जब स्वार्थ-कामनाओं की गंध तक जाती रहती है, और इस प्रकार नितांत निःस्वार्थी वा निष्कामी हो जाता है, तब मर्त्य (मरनेवाला) अमृत होता है, और यहीं वह ब्रह्म (अर्थात् ब्रह्मानंद) भोगता है ॥ १४ ॥ जब हृदय की सारी ग्रंथिएँ (गाँठें) यहाँ खुल जाती हैं, अर्थात् जब (पूर्ण निरोधावस्था वा आत्मसाक्षात्कार के प्राप्त होने पर) सर्वप्रकार के संशय-विपर्यय निवृत्त हो जाते हैं, तब मर्त्य अमृत होता है। इतना ही अनुशासन है ॥ १५ ॥

को सदा युक्त करता हुआ ब्रह्म से स्पर्श करनेवाले अत्यंत सुख को आनंद से भोगता है ॥ २८ ॥

व्याख्या--हे अर्जुन ! "मनसैवेन्द्रियग्रामं" इत्यादि वचनों से जो क्रम ऊपर कहा है, उस क्रमानुसार जो योगी आत्मा को अर्थात् अपने आपको वा मन को निरंतर (अपने परमस्वरूप के ध्यान में) पूर्ण युक्त अर्थात् समाहित करता रहता है, और इस रीति से जिसके सब प्रकार के कल्मष (मल, दोष वा संसार की उत्पत्ति करनेवाले धर्म-अधर्म वासनारूप कल्मष अर्थात् पाप) दूर हो गये अर्थात् नष्ट हो गये हैं, ऐसा नित्य समाहित * चित्त और निष्पाप योगी आनंदपूर्वक (आसानी से) उस अत्यंत सुख को भोगता है कि जो सीधा ब्रह्म से संबंध रखता है, अर्थात् जो सुख विषय के स्पर्श से तो रहित है पर जिसमें ब्रह्म का तादात्म्यरूप संस्पर्श है, अर्थात् जो आत्मसाक्षा-

---

* समाधि का स्वरूप योगदर्शन में ऐसे लिखा है--"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥"--उसी में जब अर्थमात्र (ध्यान के आलंबन) का निर्भास रह जाता है और अपना स्वरूप शून्य सा हो जाता है, तो वह समाधि है । अर्थात् समाधि में ध्येय वस्तु का चित्त में प्रकाश हो जाता है, और योगी का मानसिक अहंकार (अर्थात् अहं प्रत्यय) उस समय नहीं रहता, अर्थात् योगी तन्मय हो जाता है । ऐसा ही भगवान् इस श्लोक में कहते हैं "योगी ब्रह्म हो जाता है," "सबसे ऊँचा सुख पाता है ।" इस प्रकार आत्मा का ध्यान करते-करते योगी ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है और उत्तम सुख (अर्थात् ब्रह्मानंद वा मोक्ष) पाता है । यही समाधि का स्वरूप है; पर यह अवस्था तभी प्राप्त होती है जब योगी पहले 'प्रशान्तमनस्,' 'शांतरजस' और 'अकल्मष' हो जाता है ।

(मेरठ के श्रीयुत रामप्रसाद)

त्कार से प्राप्त होता है, या जो सुख ब्रह्मस्वरूप * है जिससे ब्रह्मानंद कहलाता है, और इसीलिए जो अत्यंत अर्थात् अपरिच्छिन्न है, ऐसे सुख को उक्त आत्मानुभवी योगी आनंद से † भोगता है ॥ २८॥

---

* अत्यंत सुख (वा मोक्षानंद) ही ब्रह्म है, जैसे कि श्रुति में आया है--"आनन्दं ब्रह्म ।" "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥" (तै० भृगु० वल्ली, अ० ६)। अर्थ--आनंद स्वरूपब्रह्म है। 'आनंद ब्रह्म है' ऐसा उसने अनुभव किया, क्योंकि 'आनंद' से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होकर 'आनंद' से जीते हैं; और मरते हुए आनंद में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मभूत ही आनंद को प्राप्त हुआ होता है, और अत्यंत सुख का भोगनेवाला ही ब्रह्मस्वरूप हुआ होता है। अर्थात् आनंदस्वरूप ही ब्रह्मस्वरूप है और ब्रह्मस्वरूप ही आनंदस्वरूप है, इस प्रकार दोनों वास्तव में एक होते हैं। इसी लिए भगवान् ने यहाँ इस सुख की उपमा "ब्रह्मसंस्पर्श" दी है, और इस सुख को भोगनेवाला केवल अपने परमस्वरूप में युक्त वा लीन रहनेवाला ही कहा है।

† "सुखेन सुखमश्नुते"=आनंद से सुख को प्राप्त होता है, इस पद से अभिप्राय यह है कि असंप्रज्ञात-समाधि-काल में योगी को सुख बिना किसी प्रकार के विघ्न के प्राप्त हो जाता है। और विघ्न योगसूत्र में नौ प्रकार से ऐसे वर्णित हैं—"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।" अर्थ—१ व्याधि, २ स्त्यान, ३ संशय, ४ प्रमाद, ५ आलस्य, ६ अविरति, ७ भ्रांति-दर्शन, ८ अलब्धभूमिकत्व, ९ अनवस्थितत्त्व, ये नौ प्रकार के चित्तविक्षेप अंतराय कहलाते हैं। (१) व्याधि=शरीरस्थ धातुओं (पित्त-कफादि) की न्यूनाधिकता से ज्वरादि रोगों का होना। (२) स्त्यान=आसन इत्यादि अंगों का गुरु से शिक्षा मिलने पर भी न आना, अर्थात् अकर्मण्यता। (३) संशय=उभयकोटि ज्ञान रहना, अर्थात् यह करने

संबंध—(१) इस अत्यंत सुख से बढ़कर जो और फल इस योगी को मिलता है, उसे भगवान् अब वर्णन करते हैं—

अथवा (२) इस प्रकार योग के सिद्ध होने पर (अथवा ब्रह्मानंद के अनुभव होने पर) जो सर्वत्र आत्मौपम्य दृष्टिरूप परम फल मिलता है, उसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

अथवा (३) इस अत्यंत सुख के पा लेने के बाद रुंगे-छुंगे में जो और फल अनायास प्राप्त हो जाता है, उसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

अथवा (४) * जिसको उक्त उपाय अति कठिन हो, उससे सुगम जो दूसरा उपाय ध्यानयोगी के लिए हो सकता है, उसे भगवान् अब कथन करते हैं—

योग्य है या नहीं, अथवा यह बात ठीक है या नहीं, ऐसी दुबधा में पड़ना या पड़े रहना। (४) प्रमाद=समाधि के साधनों के योग्य (वा सामर्थ्यवान्) होने पर भी उनका अनुष्ठान न करना। (५) आलस्य=चित्त और शरीर में भारीपन प्रतीत होना, अर्थात् कफादि धातुओं की वृद्धि से अभ्यासादि कर्त्तव्यों में चित्त का बोझ मानना। (६) अविरति=किसी विषय विशेष में निरंतर संबंध होने पर चित्त की उसमें आसक्ति वा अभिलाषा का होना। (७) भ्रांति-दर्शन=योग के साधनों में असाधन बुद्धि और उसके असाधनों में साधन बुद्धि का होना। (८) अलब्धभूमिकत्व=समाधि का लाभ न होना, अर्थात् समाधि की एकाग्र भूमिका का न होना। (९) अनवस्थितत्त्व=समाधि के प्राप्त होने पर प्रयत्न की शिथिलता से वहाँ चित्त का स्थिर न रहना। इन सब विघ्नों को दूर करके योगी सुखपूर्वक (अर्थात् अनायास) ही उत्तम सुख को पा लेता है, यह उक्त पद का तात्पर्य है।

* प्रसिद्ध श्रीज्ञानदेव ने अपनी व्याख्या ज्ञानेश्वरी में यह तीसरा संबंध दिया है। बहुत दूर तक विचार करने से यह तीसरा संबंध भी निकल सकता है, यद्यपि स्पष्ट रूप से नहीं। पर यहाँ यह भी उपयोगी हो सकता है, इसलिए दे दिया गया है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥*

सर्व^{1}-भूत^{2}-स्थं^{3},	सब^{1} भूतों^{2} में स्थित^{3}	ईक्षते^{७}, योग^{1}-	योग^{1}-युक्त^{2}
आत्मानं^{४}	आत्मा^{४} को	युक्त^{2}-आत्मा^{3},	आत्मावाला^{3}
सर्व^{2}-भूतानि^{3},	और^{1} सब^{2} भूतों^{3}	सर्वत्र^{४}, सम^{५}-	सर्वत्र^{४} समदर्शी^{६}
च^{1}, आत्मनि^{४}	को आत्मा^{४} में	दर्शनः^{६}	देखता^{७} है

अन्वयार्थ—योग-युक्तात्मा पुरुष समदृष्टिवाला हुआ सब भूतों में स्थित आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में देखता है ॥ २९ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त योग-युक्तात्मा पुरुष फिर समदर्शी हो जाता है। अर्थात् वह पुरुष जिसका आत्मा (अंतःकरण, मन वा बुद्धि-चित्त इत्यादि अपना आप) अपने परमस्वरूप के ध्यान में उक्त रीति से पूर्ण युक्त अर्थात् समाधिस्थ हो गया है, अथवा "मनसैवेन्द्रियग्रामं" इत्यादि क्रम से जो अपने परमस्वरूप के ध्यान में निरंतर युक्त होते-होते ध्यानारूढ़ वा ध्याननिष्ठ हो गया है, अथवा "मैं ही शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म हूँ" वा "यह सर्व जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है' इस प्रकार के निश्चय से जो योगी पूर्ण युक्त हो गया है, ऐसा पुरुष उक्त पूर्ण युक्तावस्था के कारण सर्वत्र † समदर्शी हो जाता है। इसलिए फिर वह सब पदार्थों में

---

* श्रुति में यह विषय इस प्रकार आया है—

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ (ईश० ६)

अर्थ—जो सब प्राणियों को अपने आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में देखता है, फिर वह किसी से घृणा नहीं करता ।

† "सर्वत्र समदर्शनः" का अर्थ वा अभिप्राय "सबमें एक आत्मा

देखनेवाला' वा अद्वैतदर्शन स्पष्ट है, और इसी को भगवान् शंकराचार्य तथा अन्य कई एक टीकाकारों ने दिखलाया है। और २८ से ३२ तक इन चार श्लोकों में योगी की यही समदर्शन रूप अवस्था प्रकट की गई है, पर श्रीरामानुज इन चार श्लोकों में योग के विपाक की चार अवस्था दिखलाते हैं—"पहली अवस्था में योगयुक्तात्मा पुरुष प्रकृति से वियुक्त हुए आत्माओं में सर्वत्र समदृष्टिवाला हुआ अर्थात् सबमें ज्ञानैकस्वरूप आत्मा को देखता हुआ सब भूतों में स्थित अपने आत्मा को और सब भूतों को अपने आत्मा में देखता है, अर्थात् सब भूतों के तुल्य अपने आत्मा को और अपने आत्मा के तुल्य सारे भूतों को देखता है। तात्पर्य यह है कि एक आत्मा के देखने पर, सब आत्मा उसी के तुल्य होने से, सारे ही आत्मा देखे हुए हो जाते हैं। यहाँ सब भूतों में आत्माओं की समता देखने से ही अभिप्राय है, न कि एकता से। इससे यह स्पष्ट है कि यहाँ "सर्वत्र समदर्शनः"="सर्वत्र सम देखनेवाला' कहा है, न कि एक देखनेवाला; और कि आगे (श्लोक ३३ में) "योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन' कहेंगे, और पूर्व (५ । १९) "निर्दोषं हि समं ब्रह्म' कहा है।" (श्रीरामानुज)

हमारे विचार में ऐसा अभिप्राय दिखलाना केवल सांप्रदायिक झगड़ों वा व्यर्थ मोड़-तोड़ का परिणाम है, क्योंकि यहाँ यह पूर्ण स्पष्ट है कि सम देखने से अभिप्राय अपने समान अपने से अलग किसी अन्य आत्मा को देखना नहीं, किंतु अपने को ही सर्वत्र देखना और अनुभव करना है। क्योंकि जो वस्तु अपने समान अपने से भिन्न देखी जाती है, उसे अपने से बाहर देखना कहा जाता है, अपने भीतर नहीं। पर यहाँ तो आत्मा को सब पदार्थों में और सब पदार्थों को आत्मा में ओतप्रोत की दृष्टि से सम देखना कहा है, न कि आत्मा के गुण पदार्थों में और पदार्थों के गुण आत्मा में देखने को कहा है। फिर गीता कहीं भी अनेक भिन्न-भिन्न आत्मा प्रतिपादन नहीं करती, केवल एक सर्वव्यापक और अपरिच्छिन्न

करता)* है; अथवा जो उक्त रीति से पूर्ण युक्तात्मा पुरुष है, और इसी कारण जो सर्वत्र समदृष्टि, अर्थात् सर्वत्र एक समान ब्रह्मदृष्टि रखनेवाला हो गया है; ऐसा समदर्शी और ध्यानयोग में पूर्ण युक्तात्मा पुरुष सर्व पदार्थों में आत्मा (अपने आप) को और आत्मा (अपने आप) में सर्व पदार्थों को देखता है। अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होने से योगी को सर्वत्र अपना आप ही दीखता है, जिससे उसकी दृष्टि सर्वत्र सम हो जाती है, और "यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः"=जहाँ-जहाँ उसका मन जाता है, वहाँ-वहाँ उसे अपना आत्मा ही दीखने से उसकी समाधि लगती रहती है, अर्थात् सर्वत्र समदर्शन से उसका चित्त अब समाहित ही रहता है ॥ २९ ॥ †

शुद्धात्मा ही मानती है, ऐसा होते हुए भी श्रीरामानुज की उक्त व्याख्या स्पष्ट खींचातानी और अनर्थ ही दर्शाती है। (टीकाकार)

* इससे यह अभिप्राय है कि पूर्ण युक्त वा समाधिस्थ दशा का परिणाम केवल अत्यंत सुख (ब्रह्मानंद) की प्राप्ति ही नहीं बल्कि परिच्छिन्न दृष्टि, अहंकार और असमता के अभाव की प्राप्ति भी होती है। इसलिए पूर्ण सिद्ध लोगों से अनुभव के पश्चात् (सबसे पूर्ण अभेदता भान होने के कारण) सबके हित के लिए दिन-रात कर्म स्वतः होते रहे हैं, जैसे कि श्रीशंकराचार्य, पतंजलि ऋषि, बुद्ध भगवान् और श्रीकृष्ण भगवान् इत्यादि से हुए।

† इस श्लोक पर जो श्रीज्ञानदेव की व्याख्या है, वह अगले श्लोक ३० के फ़ुटनोट में दी हुई है। पर अन्य रूप से इस श्लोक के अर्थ ऐसे भी हो सकते हैं कि—"जो पुरुष योगयुक्तात्मा है और जो सर्वत्र समदर्शी है, वही अपने को सब पदार्थों में और पदार्थों को अपने में अनुभव करता है। अर्थात् योगी पुरुष और समदर्शी पुरुष दोनों ही आत्मसाक्षात्कार के अधिकारी हैं। अथवा जो अष्टांग योग में तो युक्त न

संबंध—(१) अब इस "आत्मा के एकत्वदर्शन" का भगवान् आगे तीन श्लोकों में फल वर्णन करते हैं—

अथवा (२) पदार्थों के साथ योगी की एकता (अभेदता) दर्शाकर अब भगवान् अगले तीन श्लोकों में (अपने परमस्वरूप) परमात्मा से उस योगी को अभेदता वा एकता दर्शाते हुए उसका फल वर्णन करते हैं—

अथवा (३) अव्यक्त अर्थात् आत्मदृष्टि से (वा शुद्ध त्वंपदार्थ की दृष्टि से) सर्वत्र एकता दर्शाकर अब भगवान् उसी एकता को व्यक्त "मैं" पद के प्रयोग से (अर्थात् भक्ति-दृष्टि वा शुद्ध तत्पदार्थ से) निरूपण करते हैं—

हो सकता हो, पर उससे सुगम समदर्शन के मार्ग में प्रवृत्त होकर एकत्व के निश्चय से समदर्शी हो गया हो, तो वह समदर्शी भी आत्मसाक्षात्कार कर लेता है। यह अभिप्राय श्रीयोगवासिष्ठ में ऐसे वर्णित है—

"द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥ १ ॥
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्वनिश्चयः ।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः ॥ २ ॥

अर्थ—हे रामचंद्र ! साक्षी आत्मा की उपाधि रूप जो चित्त है उसके नाश के दो क्रम (रीतियाँ, उपाय वा मार्ग) हैं—एक योग और दूसरा ज्ञान । सर्व वृत्तियों का निरोध योग कहलाता है, और आत्मा-अनात्मा का ठीक-ठीक जानना ज्ञान कहलाता है । अर्थात् चित्त वृत्ति-निरोधरूप असंप्रज्ञात समाधि का नाम योग है; और 'साक्षी आत्मा में कल्पित यह प्रपंच मिथ्या होने से तीन काल में नहीं है, एक साक्षी आत्मा ही परमार्थ सत्य है ।' इस प्रकार के सम्यक् विचार का नाम ज्ञान है ॥ १ ॥ किसी को योग असाध्य (कठिन पड़ता) है, और किसी को तत्वनिश्चय अर्थात् तत्वविचार कठिन पड़ता है । इसीलिए परमात्मदेव शिव ने इन दोनों प्रकारों (विधियों, रीतियों वा मार्गों) को वर्णन किया है ॥ २ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

यः. मां, पश्यति, सर्वत्र	जो मुझको सर्वत्र देखता है	तस्य, अहं, न, प्रणश्यामि	उसका न मैं खोया हुआ होता हूँ
सर्वं, च, मयि, पश्यति	और सर्व मुझ में देखता है	सः, च, मे, न, प्रणश्यति	और न वह मेरा खोया हुआ होता है

अन्वयार्थ— जो मुझको सर्वत्र और सबको मुझमें देखता है, उसका न मैं खोया हुआ (परोऽक्ष) होता हूँ, और न वह मेरा खोया हुआ (परोऽक्ष) होता है ॥ ३० ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त रीति से जो योगी पुरुष मुझ सबके अंतर्यामी वासुदेव को (वा मुझ शुद्ध सच्चिदानंदस्वरूप तथा सर्वव्यापक आत्मा को) सब पदार्थों में देखता अर्थात् अनुभव करता है, और इसी प्रकार सब पदार्थों को जो मुझ (सबके आदिकारण) में देखता अर्थात् अनुभव करता है—अर्थात् जो निरुद्ध चित्त से मुझ (सर्वव्यापी आत्मा) को सर्वत्र व्यापक और सबसे अभिन्न साक्षात्कार करता है, उसके लिए न तो मैं अप्रकट, दूर या परोऽक्ष होता हूँ, अर्थात् सर्वकाल और सर्वत्र में उसे दिखाई देता रहता वा अनुभव होता रहता हूँ; और न वह मेरे लिए अदृश्य, दूर या परोऽक्ष होता है, अर्थात् न वह मेरे से दूर या भिन्न हुआ होता है, बल्कि निरुद्ध चित्त के कारण मुझमें तद्रूप हुआ रहता है, जिससे उसकी मेरे साथ और मेरी उसके साथ अभेदता नित्य बनी ही रहती है। संक्षेप से तात्पर्य यह है कि जो योगी निरुद्ध चित्त से मुझ परमात्मा की अपने साथ तथा समस्त प्रपंच के साथ पूर्ण अभेदता अनुभव करता है,

वह (आत्मैकत्वदर्शी) नित्य मेरे समीपस्थ वा मुझमें वर्तता होता है, और मैं उसके समीपस्थ वा उसमें वर्तता होता हूँ ॥ ३० ॥*

---

* पूर्वोक्त आत्मैकत्वदर्शन का फल (परमात्मा के साथ एकत्वदर्शन) कहते हैं—"जो मुझ वासुदेव सबके आत्मा को सब भूतों में देखता है और मुझ सबके आत्मा में ब्रह्मादिक सब भूतों को देखता है, उस आत्मैकत्वदर्शी के लिए न मैं (ईश्वर) परोऽक्ष होता हूँ, न वह मुझ (ईश्वर) के परोऽक्ष होता है, क्योंकि वह और मैं एकात्मा हुए होते हैं।" (श्रीशंकराचार्य)

श्रीरामानुज अपने पूर्व योग-क्रम को सम्मुख रखते हुए इस श्लोक की ऐसे व्याख्या करते हैं—"पहले सारे आत्माओं की आपस में समता कही है. अब वह उससे भी ऊँची अवस्था में परमात्मा के साथ समता को अनुभव करता है, जैसा कि "निरंजनः परमं साम्यमुपैति" उपाधि से रहित हुआ परम समता को प्राप्त होता है (मुण्ड० ३, खं० १, श्लो० २)। इसमें पुण्य-पाप को झाड़कर स्वरूप से ठहरे हुए प्रत्येक आत्मा की परमात्मा के साथ समता कही है। इस समता को देखता हुआ जो आत्म वस्तु को मुझमें देखता है, अर्थात् एक दूसरे की समता के कारण दोनों में से एक के देखने से दूसरा भी उसी के तुल्य है, ऐसा देखता है; वह जब अपने स्वरूप को देखता है, तो भी मैं उसके परोऽक्ष नहीं होता; और जब मुझे देखता है, तब भी उसको अपना स्वरूप परोऽक्ष नहीं होता।"

श्रीयामुनाचार्य ऐसे व्याख्या करते हैं—"जो योगी मेरे स्वरूप को सब आत्माओं में देखता है, उस योगी के मैं अदृश्य नहीं होता हूँ, और वह मेरे अदृश्य नहीं होता (किंतु सर्वदा मेरी कृपादृष्टि का विषय रहता है)।"

श्रीज्ञानदेवजी अनोखे ढंग से इन दोनों (२९, ३०) श्लोकों की ऐसे व्याख्या करते हैं—"मैं सकल देहों में हूँ, इसमें कुछ संदेह नहीं। और वैसे ही यह सब जगत् मुझमें ही है। इस प्रकार यह परस्पर मिला हुआ ऐसा ही भरा है, यह बात बुद्धि से निश्चय की जानी चाहिए।

संबंध—(१) उक्त कथन को भगवान् पुनः स्पष्ट करते हैं—

अथवा (२) पूर्व दो श्लोकों में शुद्ध ‘त्वं पदार्थ’ का और शुद्ध ‘तत्पदार्थ’ का निरूपण किया। अब भगवान् इस श्लोक से शुद्ध ‘तत्त्वं पदार्थों’ का अभेदरूप तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ निरूपण करते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥ *

सामान्यतः, हे अर्जुन ! जो एकाग्र भावना से मुझे सब भूतों से अभिन्न जानकर भजता है, भूतों की अनेकता के हेतु जिसके अंतःकरण में अनेकता नहीं उत्पन्न होती, जो केवल मेरी एकता ही जानता है ; ‘वह और मैं एक ही हूँ’ यह कह बताना वृथा है, क्योंकि हे धनंजय ! न कहते भी वह मद्रूप ही है। दीपक और प्रकाश में जैसी एकता की स्थिति है, वैसे ही वह मुझमें रहता है, और मैं उसमें रहता हूँ। जैसे उदक के अस्तित्व से रस रहता है, अथवा गगन के परिमाण से अवकाश रहता है, वैसे ही वह पुरुष मेरे रूप से रूपवान् रहता है।”

लोकमान्य तिलक इन दोनों श्लोकों की ऐसे व्याख्या करते हैं—“इन दो श्लोकों (२९, ३०) में पहला वर्णन ‘आत्मा’ शब्द का प्रयोग कर अव्यक्त अर्थात् आत्मदृष्टि से, और दूसरा वर्णन प्रथम पुरुष-दर्शक ‘मैं’ पद के प्रयोग से व्यक्त अर्थात् भक्ति-दृष्टि से किया गया है। परंतु अर्थ दोनों का एक ही है। मोक्ष और कर्मयोग इन दोनों का ही आधार यह ब्रह्मात्मैक्य-दृष्टि ही है। २९वें श्लोक का पहला अर्धांश कुछ फ़र्क़ से मनुस्मृति (१२, ९१), महाभारत (शां० २३८, २१ और २६८, २२), और उपनिषदों (कैव० १, १०; ईश. ६) में भी पाया जाता है।....यह ज्ञान हुए विना इंद्रिय-निग्रह का सिद्ध हो जाना भी व्यर्थ है, और इसी लिए अगले अध्याय से परमेश्वर का ज्ञान बतलाना आरंभ कर दिया है।”

---

* श्रुति में यह विषय इस प्रकार है—(देखो फ़ुटनोट पृष्ठ ७७१)

सर्व^{5}-भूत^{6} स्थितं^{7}, यः^{1}, मां^{4}, भजति^{8}, एकत्वं^{2}, आस्थितः^{3}	जो^{1} एकता^{2} में स्थित^{3} हुआ मुझे^{4} सब^{5} भूतों^{6} में स्थित^{7} को भजता^{8} है	सर्वथा^{1}, वर्तमानः^{2}, अपि^{3}	सर्वप्रकार^{1} से वर्तता^{2} हुआ भी^{3}
		सः^{1}, योगी^{2}, मयि^{3}, वर्तते^{4}	वह^{1} योगी^{2} मुझ^{3} में वर्तता^{4} है

अन्वयार्थ—जो योगी एकता में स्थित होकर मुझ सब भूतों में स्थित को भजता है, वह सर्वप्रकार * से वर्तता हुआ भी मुझमें वर्तता है ॥ ३१ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो योगी उक्त रीति से सबमें एकत्व को प्राप्त हो गया है, अर्थात् सबसे अभेद दृष्टि में जो दृढ़ स्थित हो गया है, अथवा एक अद्वितीय ब्रह्म की एकता के ध्यान वा निश्चय में जो पूर्ण स्थित हो गया है, अथवा जो सब वस्तुओं में अधिष्ठानरूप से मुझको स्थित अनुभव कर रहा है, अथवा अभेदोपासना में जो स्थित हुआ है, अथवा एकत्वरूप ज्ञान का जिसने आश्रय वा अवलंबन किया हुआ है; ऐसा जो भी एकता में स्थित हुआ पुरुष मुझ सब पदार्थों में स्थित ईश्वर को भजता है, अर्थात् 'प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है', ऐसी एकत्व-बुद्धि, अर्थात् सर्वभूतात्मैक्य-बुद्धि को मन में रखते हुए जो भी योगी मुझ

"अस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ (ईश. ७)

अर्थ—जिस समय (अथवा जिस अवस्था में पहुँचकर) ये सब प्राणी अपना आत्मा करके ही भान हो गये, तब (वा उस अवस्था में) ऐसे एकत्व द्रष्टा को फिर शोक और मोह कहाँ ।

* सर्वप्रकार से, अर्थात् खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते और कर्मत्याग में भी । (श्री श्रीधर)

सर्वव्यापी को भजता वा ध्याता है, अथवा अभेदोपासना से मुझे साक्षात्कार करता है, अथवा सबमें मुझको ही एकता की दृष्टि से जो पूजता, सेवता और भजता वा ध्याता है; वह चाहे किसी भी अवस्था में वर्त रहा हो, पर वास्तव में मुझमें * ही वर्तना होता है; अर्थात् खाते-पीते, चलते-फिरते, बैठते-उठते इत्यादि सब व्यवहारों को करते हुए भी वह वास्तव में मुझमें ही व्यवहार करता होता है; अथवा सब दशा में रहते हुए भी वह मुझ परमानंदस्वरूप में ही निवास करता होता है ॥ ३१ †

---

* मुझमें, अर्थात् परम वैष्णव पद में वर्तता है। उसमें वर्तता हुआ वह नित्य मुक्त ही है।

† सर्वात्मैकरूप एकता का फल इस श्लोक में 'मोक्ष' दर्शाया जाता है। (श्रीशंकराचार्य) उक्त जो योग-विपाक की दो अवस्थाएँ दर्शायी गई हैं, उनसे बढ़कर तीसरी ऊँची अवस्था अब कहते हैं—"योगी की अवस्था में सब भूतों में स्थित मुझको ज्ञानैक स्वरूप से एकता का आश्रय लेकर, अर्थात् प्रकृति के संबंध से जो भेद है उसे त्यागकर बड़ी दृढ़ता से जो भजता है, वह सब प्रकार से अर्थात् व्युत्थान काल में भी जैसे-तैसे वर्तता हुआ अपने आत्मा को और सब भूतों को देखता हुआ मुझमें वर्तता है; अथवा मुझे ही देखता है, अर्थात् अपने आत्मा में और सब भूतों में सर्वदा मेरी समता को देखता है।" (श्रीरामानुज)

श्रीज्ञानदेव इस श्लोक तथा अगले श्लोक की इकट्ठी व्याख्या अनोखे ढंग से ऐसे करते हैं—"जो, हे किरीटी! सर्वत्र मुझको एकता की दृष्टि से देखता है, जैसे वस्त्रों में तंतु ही एक वस्तु है, अथवा अलंकार तो बहुत होते हैं परंतु वैसे स्वर्ण बहुतेरे नहीं होते, ऐसी जिसकी ऐक्य रूप पर्वत की स्थिति हो गई है; अथवा वृक्ष के जितने पत्ते हैं, उतने कुल वृक्ष नहीं लगाये गये, ऐसा जिसे रात्रि के अनंतर अद्वैतरूपी दिन निकला है; सो मनुष्य यद्यपि पंचभूतात्मक शरीर में रहे, तथापि कहो,

संबंध—(१) उक्त कथन का भगवान् और विधान करते हैं—

अथवा (२) उक्त एकता में स्थित योगियों में से भी जो अधिक श्रेष्ठ माना जाता है, उसे भगवान् अब कथन करते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

आत्म-औप-म्येन, सर्वत्र, समं, पश्यति, यः, अर्जुन	आत्मा की उपमा से (अपने तुल्य) सर्वत्र जो हे अर्जुन! सम देखता है
सुखं, वा, यदि, वा, दुःखं	चाहे सुख अथवा चाहे दुःख को
सः, योगी, परमः, मतः	वह योगी परम माना गया है

उसे उसका प्रतिबंध कैसे हो सकता है ? अनुभव की तुला (तराज़ू) से तोलो, तो वह मेरे ही तुल्य है । मेरी सब व्यापकता उसके अनुभव को प्राप्त हो गई रहती है, इसलिए वह न कहते भी स्वभावतः व्यापक हो गया रहता है । अब वह शरीरी तो है, परंतु शरीर का संबंधी नहीं है । यह बात क्या शब्दों से कहने योग्य है जो वर्णन की जाय ? इसलिए और बातें रहने ो, जो विशेष रीति से अथवा अपने ही समान सर्वदा चराचर को देखता है, जो सुख-दुःखादि मर्म अथवा शुभाशुभ कर्म ये दोनों मनोधर्म नहीं रखता, सम-विषम भाव और उनके समान जो अन्य विचित्र बातें हैं सो जो अपने अवयव जैसी मानता है, वह एक-एक कहाँ तक कहें, जिसे संपूर्ण त्रैलोक्य में हूँ ऐसा सहज ही ज्ञान हो गया है, उसे भी एक देह है सही, व्यवहार में उसे सुखी-दुःखी कहते हैं, परंतु हमें विश्वास है कि वह परब्रह्म है । इसलिए, हे पांडव ! निज में ही विश्व देखना चाहिए और आप ही विश्व बनना चाहिए, ऐसी एक समता की उपासना करनी चाहिए । यह बात अनेक बार हम तुमसे इसलिए कहते हैं कि समदृष्टि से बढ़कर दूसरा प्राप्तव्य नहीं है ।

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! आत्मा की उपमा से (अपने तुल्य) जो सर्वत्र सुख अथवा दुःख को सम देखता है, वह परम योगी माना गया है ॥ ३२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! उक्त "एकत्वमास्थितः" लक्षणवाले योगी लोग निःसंदेह सब अवस्थाओं में भी सदा मुझमें ही वर्तते रहते हैं, इसलिए महान् हैं, और प्रशंसा, पूजा तथा सेवा किये जाने योग्य हैं। पर इनमें से जो योगी न केवल निश्चय वा ज्ञान से ही एकत्व में स्थित है, बल्कि इस ज्ञानपूर्वक स्थिति की अधिक परिपक्वता के कारण जो प्राणिमात्र में कहीं भी सुख हो वा दुःख, उसे सर्वत्र आत्मा की उपमा से, अर्थात् अपने तुल्य वा अपने दृष्टांत से एक समान देखता (वा भान करता) है, वह सब योगियों में परम (अधिक श्रेष्ठ) योगी माना गया है *। अर्थात् जो प्रत्येक के सुख को ठीक अपना सुख और प्रत्येक के दुःख को ठीक अपना दुःख भान (महसूस) करता है ; अथवा "ये सब

---

* किसी के दुःख-सुख को (आत्मा की एकता के अनुभव होने पर) अपने दुःख-सुख के समान समझ लेना वा ज्ञानदृष्टि से एकतुल्य देख लेना कुछ और बात है, और सबके दुःख-सुख को ठीक अपना ही करके भान करना अर्थात् अमलन् महसूस करना और उसके निवारण वा वृद्धिनिमित्त ऐसा ही यत्न करना, जैसा कि अपने दुःख के निवारण और सुख की वृद्धि में किया जाता था, यह कुछ और बात है। पहली प्रकार के योगी एकत्व-स्थित वा समद्रष्टा तो अवश्य हैं जिससे पूजनीय और प्रशंसनीय हैं, परंतु दूसरी प्रकार के (एकता को अमलन् महसूस करनेवाले और उसी में कर्म से तत्पर रहनेवाले) योगी उक्त समदर्शियों वा तत्त्ववेत्ताओं से अधिक श्रेष्ठ, अधिक प्रशंसनीय, अधिक पूजनीय और महानतम (अर्थात् परम) हैं।

मेरा ही आत्मा है", इस निश्चय की परिपक्वता से जिसको सबका दुःख-सुख ठीक अपना ही करके भान होता है, और इसी कारण जो सबके दुःखों की निवृत्ति तथा सुखों की वृद्धि करने में स्वतः तत्पर रहता है ; अथवा "जैसे मुझे सुख प्रिय और दुःख अप्रिय हैं, वैसे ही दूसरों को भी है", इस प्रकार सर्वत्र सम देखता हुआ जो (समदर्शी) सबका सुख ही चाहता है, और किसी का भी दुःख नहीं चाहता है ; अथवा जिसकी समझ में एकता की तीव्रता के कारण यह समा गया है कि "जिससे मुझे सुख होगा उससे दूसरों को भी सुख होगा, और जिससे मुझे दुःख होगा उससे दूसरों को भी दुःख होगा", और इस समझ के कारण कोई ऐसी दुःखदायक चेष्टा नहीं करता किंतु नित्य सबके लिए सुखदायक चेष्टा ही करता रहता है ; ऐसा योगी, हे अर्जुन ! सब योगियों से श्रेष्ठ वा बड़ा माना जाता है, अथवा ऐसा योगी हे अर्जुन ! मेरी समझ में सब योगियों से भी उत्तम और श्रेष्ठ है ; अथवा ऐसे योगी को हे अर्जुन ! मैं सबसे अधिक पसंद करता हूँ ॥ ३२ ॥ *

---

* श्रीशंकराचार्य वा अन्य कई एक टीकाकारों का अभिप्राय समुच्चय रूप से यह है कि—"जिस लिए एक ही आत्मा सबमें है, इसलिए सबके सुख-दुःख को अपना जान सबकी भलाई में सदा तत्पर रहनेवाला योगी सबसे उत्तम वा बढ़ा-चढ़ा माना गया है, पर श्रीरामानुज पूर्व तीन अवस्था योग के विपाक को दर्शाकर उसी के क्रमानुसार इस श्लोक में योग के विपाक की चौथी अवस्था ऐसे दर्शाते हैं—"हे अर्जुन ! जो योगी सब आत्माओं को, केवल ज्ञानस्वरूप होने से तुल्य होने के हेतु, सबमें अर्थात् अपने आत्मा में और दूसरे आत्माओं में, सुख-दुःख को सम देखता है, अर्थात् दूसरे के सुख-दुःख को अपना करके देखता है, वह योगी उत्तम माना गया है ।"

श्रीज्ञानदेव की जो इस श्लोक पर व्याख्या है, वह पूर्व श्लोक के

संबंध—उक्त सम्यक् दर्शनरूप योग (जो इस अध्याय के श्लोक ५ से ३२ तक सविस्तर वर्णन हुआ) को दुष्कर समझता हुआ अर्जुन अब भगवान् से ऐसे प्रश्न करता है—

* अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ३३॥

फ़ुटनोट में दी गई है। और लोकमान्य तिलक की व्याख्या श्लोक ३१ और ३२ पर ऐसे है—"प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है," यह दृष्टि सांख्य और कर्मयोग दोनों मार्गों में एक सी है। ऐसे ही पातंजल योग में भी समाधि लगाकर परमेश्वर की पहचान हो जाने पर यही साम्यावस्था प्राप्त होती है। परंतु सांख्य और पातंजल योगी दोनों को ही सब कर्मों का त्याग इष्ट है, अतएव वे व्यवहार में इस साम्य बुद्धि के उपयोग करने का मौक़ा ही नहीं आने देते; और गीता का कर्मयोगी ऐसा न कर, अध्यात्मज्ञान से प्राप्त हुई इस साम्यबुद्धि का व्यवहार में भी नित्य उपयोग करके, जगत् के सभी काम लोकसंग्रह के लिए किया करता है; यही इन दोनों में बड़ा भारी भेद है। और इसी से इस अध्याय के अंत (श्लोक ४६) में स्पष्ट कहा है कि तपस्वी अर्थात् पातंजल योगी और ज्ञानी अर्थात् सांख्यमार्गी, इन दोनों की अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है।"

इस विषय स्मृति ऐसे कहती है—"प्राणा यथात्मनोभीष्टा भूतानामपि ते तथा। आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥" अर्थ—जैसे पुरुष को अपने प्राण प्रिय होते हैं, वैसे सब प्राणियों को होते हैं। इस प्रकार का विचार करके श्रेष्ठ पुरुष अपने आत्मा के समान सब प्राणियों पर दया करते हैं।

* ध्यानयोग की प्रशंसा, उपमा, विधि और फल से यह अध्याय भरा पड़ा है। योग का अर्थ यहाँ चित्तवृत्तियों का निरोध है, अर्थात् चित्त-

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

यः^{2}, अयं^{3}, योगः^{4}, त्वया^{1}, प्रोक्तः^{5}, साम्येन^{6}, मधुसूदन^{1}	हे कृष्ण^{1}! जो^{2} यह^{3} योग^{4} तुमसे^{1} (अर्थात् आपसे) समता^{6} करके कहा^{5} गया है	चञ्चलं^{4}, हि^{3}, मनः^{2}, कृष्ण^{1}, प्रमाथि^{5}, बलवत्^{6}, दृढं^{7}	हे कृष्ण^{1}! मन^{2} ^{3}क्योंकि (वा निःसंदेह^{3}) चंचल^{4}, क्षोभक^{5} (सरकश) बलवान्^{6} और ^{7}दृढ़ (हठी) है (या दृढ़ बलवान् है)
एतस्य^{3}, अहं^{2}, न^{6}, पश्यामि^{7}, चञ्चलत्वात्^{1}, स्थितिं^{5}, स्थिरां^{4}	चंचलत्व^{1} से मैं^{2} इसकी^{3} स्थिर^{4} स्थिति^{5} नहीं^{6} देखता^{7} हूँ	तस्य^{1}, अहं^{3}, निग्रहं^{2}, मन्ये^{8}, वायोः^{4}, इव^{5}, सु^{6}-दुष्करं^{7}	उसका^{1} रोकना^{2} मैं^{3} वायु^{4} के समान^{5} अति^{6} कठिन^{7} मानता हूँ^{8}

वृत्तियों का इस प्रकार रोकना है कि जिससे वे विषयों की ओर सर्वथा न झुकें, बल्कि आत्मा में मग्न होकर उसी आदि कारण में पूर्ण लीन (अथवा शांत व सिद्ध) हो जायँ, और इसी को यहाँ श्लोक २०, २१, २२ और २३ में ऐसे वर्णन किया है कि योग नाम है दुःख के संयोग से वियोग का; अर्थात् मन का कामरूप से निकलकर अपने आत्मा में डूब जाने वा लीन हो जाने का नाम योग है। इस विषय में संक्षिप्तोपदेश भगवान् का यह है कि इस योग को आरंभ करनेवाला पहले शारीरिक शौच करे और शक्ति बढ़ावे। इसकी विधियें ऐसे कही गई हैं कि शुद्ध स्थान में पहले कुशा, फिर मृगचर्म और फिर रेशमी कपड़ा बिछाकर एक स्थिर आसन बनावे, और उस पर आसन लगाकर सीधा बैठे। सिर और

अन्वयार्थ——अर्जुन बोला——हे कृष्णजी ! यह जो समतारूप * से योग आपसे कहा गया है, (मन की) चंचलता के कारण मैं इसकी स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ । और हे कृष्णजी ! मन क्योंकि चंचल, प्रमाथि, बलवान् और दृढ़ (या दृढ़ बलवान्) है, (इसलिए)

गर्दन को सीधा रक्खे, धड़ भी सर्वथा सीधा रक्खे, हिलने-जुलने न पावे, दृष्टि को सीधा नासिका की नोक पर टिकाये रक्खे, इधर-उधर कहीं न देखे । इस प्रकार बैठकर प्राणायाम करे । इस प्राणायाम से शरीर की शुद्धि होती है, और शरीर के जो मल मन को एकाग्र होने नहीं देते, वे सब दूर हो जाते हैं, और इस प्रकार एकाग्र हुए मन में आनंद उत्पन्न होता है । उस समय पुरुष को चाहिए कि वह आत्मतत्त्व के यथातथ्य समझने की ओर ध्यान धरे । और पुरुषोत्तम को सबमें और सबको पुरुषोत्तम में देखे । इसके साथ यह भी होना चाहिए कि खाना-पीना, चलना-फिरना सब युक्त (उचित और विधिपूर्वक) हों, न्यूनाधिक न हों, और कर्म भी निष्काम हों, सकाम न हों । पर ऐसे सब कर्म तत्त्वज्ञान व आत्मविवेक द्वारा मन को वश में करने से ही हो सकते हैं, बिना मन के रोके न आत्मतत्त्व ही अनुभव होता है, न सर्वत्र आत्मदृष्टि ही हो सकती है, न अपने तुल्य दूसरों के दुःख ही भान होते हैं, और न इसीलिए स्वार्थ-बुद्धि छोड़कर लोकसंग्रह-निमित्त ही कोई काम होने पाता है । इसलिए सर्व प्रकार से मन का वश में करना अत्यावश्यक है जो निःसंदेह आरंभ में सबको अत्यंत कठिन दिखाई देता है, और अर्जुन भी उक्त रीति से मन का रोकना अत्यंत कठिन व असंभव देख रहा है जिससे ऐसा प्रश्न करता है ।

* (१) सर्वत्र समदृष्टि अर्थात् ब्रह्मदृष्टि करके उक्त समता (श्रीशंकराचार्य)

(२) मन की लयविक्षेप से शून्य होकर केवल आत्माकार अवस्था से स्थितिरूप समता । (श्री श्रीधर)

(३) ज्ञानस्वरूप होने से सारे आत्माओं की परस्पर समता, और मुक्त की ईश्वर के साथ जो समता है । (श्रीरामानुज)

उसका रोकना मैं वायु के समान अति कठिन मानता हूँ॥ ३३, ३४ ॥

व्याख्या—हे मधुदैत्य के मारनेवाले भगवान् कृष्णजी ! यह जो आपने सर्वत्र समदृष्टिरूप योग, अर्थात् आत्मदृष्टि से अथवा ब्रह्मदृष्टि से सर्वत्र एक समान समताभाव से देखा जानेवाला योग वर्णन किया है, इसकी दीर्घ काल तक स्थिति मैं मन की चंचलता के कारण नहीं देखता हूँ । अर्थात् इस प्रकार का चित्त-वृत्ति-निरोध रूप योग कि जिसका परिणाम सर्वत्र समदृष्टि है; अथवा ऐसा समत्वबुद्धि योग कि जिसमें दृढ़ निश्चयपूर्वक युक्त होने से पुरुष अपने आत्मा को सब पदार्थों में और सब पदार्थों को अपने आत्मा में देखने लग जाता है, और इसी रीति से वह सबके दुःख

---

(४) चित्त में विषम-दृष्टि का हेतु-भूत जो रागद्वेष स्थित है, उसे मिटाकर चित्त-वृत्ति-निरोध द्वारा जो योग किया जाता है, वह समतारूप से योग कहा जाता है । (श्रीमधुसूदन स्वामी)

(५) चित्त में स्थित विषम-दृष्टि का हेतुभूत जो ये रागद्वेषादिक हैं, इन (रागद्वेषादिकों) का निराकरण करके जो यह योग कहा गया है, वह समतारूप से योग है । (श्रीचिद्घनानंद)

(६) चित्त से रागद्वेष को मिटाकर सबमें एक तुल्य आत्मा को देखते हुए अपने-बेगाने का भेद हटाकर दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानना । (आर्यसमाजी पं० राजाराम)

(७) ३३वें श्लोक के 'साम्य' अथवा 'साम्यबुद्धि' से प्राप्त होनेवाला इस विशेषण से यहाँ योग शब्द का कर्मयोग ही अर्थ है । यद्यपि पहले पातंजल योग की समाधि का वर्णन आया है, तो भी इस श्लोक में 'योग' शब्द से पातंजल योग विवक्षित नहीं है । क्योंकि दूसरे अध्याय में भगवान् ने ही कर्मयोग की ऐसी व्याख्या की है, "समत्वं योग उच्यते" (२, ४८)="बुद्धि की समता या समत्व को ही योग कहते हैं ।" (श्रीतिलक महाराज)

को ठीक अपना ही दुःख और सबके सुख को ठीक अपना ही सुख भान करने लग जाता है; ऐसे योग के विषय मुझे यह निश्चय नहीं होता कि इसकी देर तक रहनेवाली स्थिति पुरुष के मन की चंचलता के कारण कभी भी हो सकती हो। अर्थात् ऐसा संभव है कि इस प्रकार का समताभावरूप योग किंचित् काल के लिए पुरुष को प्राप्त हो जाय, परंतु दीर्घ काल तक निरंतर स्थिति इस (योग) की मुझे दिखाई नहीं देती। और हे श्रीकृष्ण * ! मन निःसंदेह चंचल है, प्रमाथि (इंद्रियों को विक्षिप्त और परवश करनेवाला, सरकश, तूफ़ानी, सर्वप्रकार से क्षोभक, और बखेड़िया) है, बलवान् (प्रबल वा ज़बरदस्त) है और दृढ़ (हठी वा हठीला, अपनी बात पर डटनेवाला अर्थात् ज़िद्दी) है; जब इस प्रकार के चार विशेषणों से मन युक्त है, तब ऐसी दशा में मन का निग्रह (निरोध) करना मैं ऐसा अत्यंत कठिन समझता हूँ जैसा कि वेगवान् वायु का वश में करना, या महामत्त वनहस्ती का वश में करना ॥ ३३, ३४ ॥ †

---

* हे कृष्ण ! इस संबोधन से यह अर्थ सूचित किया गया है— "दोषान् कृषति निवारयतीति कृष्णः।" अथवा, "पुरुषार्थानाकर्षति प्रापयतीति कृष्णः।"=(१) भक्तों के पापादि दोषों को जो निवारण करता है वह कृष्ण है। या (२) न प्राप्त हो सकनेवाले पुरुषार्थों को भी जो प्राप्त कराता है, उसका नाम कृष्ण है।

† श्रीज्ञानदेव ने इन श्लोकों पर अति विचित्र रूप से व्याख्या ऐसे की है—"तब अर्जुन ने कहा, हे देव ! आप हम पर कृपया बोध करते हैं, परंतु इस मन के स्वभाव के सामने हमारा निभाव नहीं लगता। 'यह मन कैसा है,' 'कितना बड़ा है' यह देखने जाइए तो हाथ नहीं लगता, परंतु इसके व्यापार के लिए त्रैलोक्य भी अल्प है। अतएव यह कैसे हो कि मर्कट को समाधि लगे अथवा महावात रोकने से रुक जाय।

संबंध—अर्जुन के उक्त प्रश्न का भगवान् अब उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

अ-संशयं, महाबाहो, मनः, दुर्-निग्रहं, चलं	हे अर्जुन ! निः- संदेह मन चंचल और कठिनता से रोका जानेवाला है	अभ्यासेन, तु, कौन्तेय, वैराग्येण, च, गृह्यते	पर हे अर्जुन ! अभ्याम से और वैराग्य से रोका जाता है

अन्वयार्थ—श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन ! मन निःसंदेह चंचल और दुर्निग्रह है, परंतु हे कौंतेय ! अभ्यास और वैराग्य से रोका जाता है ॥ ३५ ॥

व्याख्या—उत्तर में भगवान् ने कहा—हे विशालबाहु अर्जुन ! इसमें किंचित् संदेह नहीं कि यह मन चंचल * अर्थात् दीर्घकाल

जो बुद्धि का दय करता है; निश्चय को टाल देता है; धैर्य से हाथ मिलाकर भागता है; जो विवेक को भुलाता है; संतोष की इच्छा उत्पन्न करता है; और बैठे रहो तो भी दशों दिशा घुमाता है; निरोध करने से जो और भड़कता है; संयम जिसके (विक्षेप) का सहकारी होता है; सो मन क्या अपना स्वभाव छोड़ देगा ? एवं उपर्युक्त कारण से यह मन निश्चल रहे और हमें समदृष्टि का लाभ हो, यह बात विशेषतः नहीं हो सकती ।”

* चंचल से तात्पर्य यह नहीं है कि “मन वास्तव में ही एक ध्यान वा ख़्याल पर टिकनेवाला नहीं ।” यदि वास्तविक स्वभाव मन का ऐसा होता, तो किसी प्रकार के यत्न से भी वह कभी वश में न आ सकता. क्योंकि किसी वस्तु का वास्तविक स्वभाव यत्न से भी रोका वा जीता नहीं

तक एक ध्यान में न टिकनेवाला है, और इसका रोकना अर्थात् वश में करना सर्वसाधारण के लिए अत्यंत कठिन

जा सकता है। पर मन यत्न द्वारा जीता भी जा सकता है और निरोध को प्राप्त भी हो जाता है, जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मन निज स्वभाव से तो चंचल नहीं, केवल बाह्य कारणों से चंचल होता अथवा एकाग्रता ही की भिन्न-भिन्न अवस्था के भेद से चंचल कहलाता है, जिस (चंचलता) के दूर करने के लिए उपायों की आवश्यकता होती है। उर्दू-भाषा के एक कवि ने क्या उत्तम कहा है—

"मिलना तेरा गर आसाँ नहीं तो सहल है।
दुशवार तो यही है कि दुशवार भी नहीं॥"

अर्थात् मन यदि स्वभाव से ही चंचल होने के कारण निरोध को प्राप्त न हो सकनेवाला होता, तो मनुष्य के लिए यह सहल (सहज) था, क्योंकि मनुष्य फिर ऐसे (निज स्वभाव से) चंचल मन को जीतने वा निरोध करने का व्यर्थ यत्न ही न करता। पर कठिनता तो यह है कि इसका जीतना वा निरोध करना कठिन भी नहीं, अर्थात् यत्न से यह जीता और निरुद्ध भी किया जा सकता है। इसलिए यह अपने स्वरूप से चंचल और दुर्जय वा दुस्तर नहीं।

"एकाग्र" का शब्दार्थ एक-अग्र अर्थात् एक रुख़ वा ओर पर लगना है। प्रत्येक इंद्रिय का अपना-अपना अग्र (विषय वा रुख़) होता है, जैसे चक्षु का अग्र रूप, कर्ण का शब्द, नासिका का गंध इत्यादि। एक इंद्रिय का अग्र दूसरे इंद्रिय के अग्र से मेल नहीं खाता, अतएव भिन्न-भिन्न होता है। मन भी, जो कि सब इंद्रियों का कारणभूत है, जब कार्यरूप इंद्रियों में प्रकट होता है तो इंद्रियों के सब अग्रों से संबंध रखता है, जिससे इंद्रियों के समस्त अग्र वास्तव में मन के ही अग्र कहलाते हैं; पर अपने वास्तविक रूप में अर्थात् इंद्रियों के कारणभूत रूप में (अथवा संकल्प-विकल्परूप या faculty of attention-संकल्पशक्ति के रूप में) वह अपना अग्र (रुख़) इंद्रियों के अग्र से भिन्न रखता है। मन का अपना

है; परंतु अभ्यास और वैराग्यरूप उपायों से यह अवश्य रोका जाता है। अभिप्राय यह है कि असंयमी, अज्ञानी, कामी तथा

अग्र (ख़्व) तो एक विचार वा ख़्याल या किसी वार्ता इत्यादि का मतलब वा भाव है, जो इंद्रियों के अग्रों के समान स्थूल वा आकारवान् नहीं किंतु सूक्ष्म वा निराकार है। जैसे इंद्रियों का स्वभाव अपने-अपने विषयरूप अग्र पर लगने का है, वैसे मन का स्वभाव भी अपने ध्यान वा ख़याल रूप अग्र पर लगने का है। जैसे इंद्रियाँ, जब तक पुरुष जागता अर्थात् सचेत है, अपने-अपने अग्र पर लगी रहती हैं, अर्थात् नेत्र कुछ न कुछ देखते ही रहते हैं, श्रोत्र कुछ न कुछ सुनते ही रहते हैं, इत्यादि; वैसे मन भी जब तक सुषुप्ति वा समाधि अवस्था प्राप्त नहीं होती, किसी न किसी विचार (ख़्याल) पर लगा ही रहता है। विना विचाररूप अग्र के मन एक पल भी ख़ाली नहीं पाया जाता, जिससे मन का निज स्वभाव एकाग्र अर्थात् नित्य एक न एक अग्र (ख़्याल) पर लगने का ही है। भेद केवल इतना है कि जो मन एक ख़्याल पर दीर्घ काल तक लगा रहता है, और उस एक ख़्याल को छोड़कर किसी दूसरे ख़्याल पर शीघ्र नहीं जाता, वह मन एकाग्र कहलाता है; और जो मन एक ख़्याल छोड़कर दूसरे को झट पकड़ लेता है, वह यद्यपि एक अग्र (ख़्याल) पर तब भी होता है, परंतु देर तक वहाँ न टिके रहने के कारण चंचल कहलाता है। इस प्रकार एकाग्रता के दर्जों वा काल के भेद से मन स्थिर वा चंचल कहलाता है, अपने निज स्वभाव वा गुण से नहीं। इस समुच्चय आशय को अँगरेज़ी भाषा में ऐसे कहा जा सकता है कि—

"Fickleness and steadiness of mind are nothing but the different phases or manifestations of the faculty of onepointedness, inherent in mind. Hence both of them are mere relative to each other and not at all absolute in themselves. Thus both of them differ from each other not qualitatively but quantitatively only."

दूसरी बात यह है कि जैसे मन अपने स्वभाव से एकाग्र है, वैसे दर्जों

वा काल के भेद से भी एकाग्र है। कोई ऐसा पुरुष संसार में नहीं दिखाई देगा कि जिसका मन किसी न किसी ख़्याल वा विचार पर दीर्घ काल तक भी एकाग्र न रहता हो। भेद केवल इतना होता है कि व्यवहारी पुरुष का मन (विना यत्न के) अपने व्यवहार में निरंतर एकाग्र होता है, और परमार्थी का परमार्थ में। अर्थात् जिस प्रकार की संगति, आचार, व्यवहार और विचार में पुरुष रहता है, उसके मन वा स्वभाव भी उसी प्रकार के आचार, व्यवहार और विचार में निरतर युक्त और एकाग्र रहने का हो जाता है। यही कारण है कि शराबी का मन शराब की बातों में तो ख़ूब युक्त और एकाग्र हो जाता है, अन्य में नहीं; ऐसे ही चोर का मन चोरी की बातों और कार्यों में, साधु का मन साधु-स्वभाव की बातों और कार्यों में, और योगारूढ का मन अपने तत्त्वचिंतन और परमार्थदृष्टि में तो सहज स्वभाव से ही निरंतर एकाग्र और युक्त हो जाता है, पर अपने-अपने प्रतिकूल व्यवहार वा ध्यान में ऐसा नहीं होता। इसलिए वह पुरुष जो अभी विषयासक्त तो है, पर परमार्थ में लगना चाहता है (अथवा जिसका मन विषयों में तो शीघ्र युक्त वा एकाग्र हो जाता है, पर परमार्थ में नहीं होता, और अब उसे विषयों से हटाकर परमार्थ में लगाना चाहता है), उसे यह ध्यान रहे कि उसका मन हठपूर्वक तो उधर प्रवृत्त नहीं होगा, बल्कि जिस रीति से विषयों में लगना उसने सीखा है, उसी रीति से परमार्थ में लगना भी वह सीख जायगा। अर्थात् जैसे विषयी पुरुषों की संगति में बैठने से, विषयों की ही अधिक बातें करने से और विषयों का ही नित्य चिंतन करने से, अर्थात् विषयों के ही श्रवण, मनन, आचरण और निदिध्यासन से उसका मन विषयों में पूर्ण एकाग्र युक्त वा आसक्त होना सीख गया है; वैसे ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषों की संगति में बैठने से, तत्त्व वस्तु की ही बातें करने और सुनने से, और तत्त्व का ही चिंतनादि करने से, अर्थात् तत्त्व के ही श्रवण,

रोका ही जा सकता है; अर्थात् जैसे नेत्रादि ज्ञानेंद्रियों को

मनन और निदिध्यासन से, उसका मन परमार्थतत्त्व के ध्यान में पूर्ण युक्त और एकाग्र होना सीख जायगा । इससे अतिरिक्त किसी हठरूप रीति से नहीं ठीक होगा । इसी (उक्त श्रवण-मननादि) रीति को भगवान् ने अभ्यास और वैराग्य के नाम से दर्शाया है । और इसी को अन्य रूप से वसिष्ठ भगवान् ऐसा वर्णन करते हैं—

"उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः ।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥ १ ॥
अंकुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः ।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ॥ २ ॥
वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥ ३ ॥
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये ।
चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोञ्जनैः ॥ ४ ॥"

अर्थ—जैसे विना अंकुश के महामत्त दुष्ट हस्ती वश में नहीं आता, वैसे विना उत्तम युक्ति के, केवल बार-बार आसन पर स्थित होने से, चित्त के स्वभाव को जाननेवाले पुरुष से भी मन का जीतना नहीं हो सकता । वे युक्तियाँ ये हैं, १. अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, २. साधुओं का समागम, ३. वासना का परित्याग, ४. प्राणों के स्पंद का निरोध । ये चार युक्तियाँ पुष्टि पाकर अर्थात् पूर्ण आचरण में आने से चित्त के जीतने का उपाय होती हैं । इन चार युक्तियों (उपायों) के होते हुए भी अर्थात् इन उपायों को छोड़कर जो लोग हठ से मन का निग्रह करते हैं, वे दीपक का त्याग करके तम को अंजनों से दूर करने का यत्न करते हैं, अर्थात् वे लोग अंधकार को नेत्र के सुरमें से दूर करना चाहते हैं, जो व्यर्थ और असंभव है ॥ १, २, ३, ४ ॥

इन चार युक्तियों (उपायों) से तात्पर्य यह है कि (१) अध्यात्मविद्या की प्राप्ति से जब यह बोध होता है कि दृश्य प्रपंच तो मिथ्या और दुःखों का घर है, और केवल एक साक्षी आत्मा ही सत्य और

उनके गोलकों के ढाँपने वा बंद करने से और ऐसे ही हाथ-पैर

परमानंदस्वरूप है, तब मन संसार में सुख न समझता हुआ विषयों के पीछे दौड़ता नहीं अर्थात् विषयों में आसक्त होने नहीं पाता, और आत्मा को परमानंदस्वरूप समझकर उसकी ओर दौड़ता है। पर जब उस तक पहुँचने की वह अपनी शक्ति नहीं देखता और अन्य विषयों से विमुख होने के कारण अविषयता को प्राप्त हुआ होता है, तब वह स्वयं ऐसे शांत हो जाता है, जैसे लकड़ियों के बिना अग्नि। (२) जो पुरुष तत्त्वज्ञान को सुनकर वा पढ़कर उसके समझने की शक्ति नहीं रखते, या अगर समझ लेते हैं तो उसके याद रखने की शक्ति से रहित हैं, इन दोनों प्रकार के पुरुषों को मन के निग्रह के लिए साधु-समागम ही उपाय है, क्योंकि निरंतर साधु-संग से वे आत्मतत्त्व को पुनः-पुनः श्रवण और मनन द्वारा समझ जाते हैं। (३) जो पुरुष अपरा विद्या के पढ़ जाने से क्षुद्र अहंकार और वासनाओं से युक्त हो जाता है, और इसी कारण से साधुसंग नहीं करता, उसके लिए विवेक द्वारा वासनाओं का त्याग ही उपाय है। पर जिस पुरुष की वासनाएँ अनंत और प्रबल हैं, अर्थात् जो पुरुष वासनाओं को त्याग ही नहीं सकता और न तत्त्वबोध वा विचारशक्ति ही रखता है, उसके लिए तो प्राणों का निरोध ही मन के निग्रह का उपाय है, क्योंकि प्राणों का स्पंद और वासना ये दोनों ही चित्त के प्रेरक हैं, और इन दोनों के निरोध होने पर अथवा इन दोनों में से एक के भी रुक जाने पर चित्त क्षोभरहित (शांत) अवश्य हो जाता है। इस विषय वसिष्ठ भगवान् का कथन है कि—

"द्वे बीजे चित्तवृत्तस्य प्राणस्पन्दनवासने ।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वेपि विनश्यतः ॥ १ ॥
प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया ।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ २ ॥
असङ्गव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥ ३ ॥
वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ।

आदि कर्मेंद्रियों को हठ से रोक सकते हैं, वैसे अपनी इच्छा से

प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ४ ॥
एतावन्मात्रकं मन्ये रूपं चित्तस्य राघव ।
यद्भावनं वस्तुनोऽन्तर्वस्तुत्वेन रसेन च ॥ ५ ॥
यदा न भाव्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपि यत् ।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥ ६ ॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ।
अमनस्ता तदोदेति परमात्मपदप्रदा ॥ ७ ॥

अर्थ—हे रामचंद्र ! इस चित्तरूप वृक्ष के दो बीज हैं; एक तो प्राणों का स्पंद (चलना), दूसरा वासना । इनमें से एक के नाश होने पर दोनों का ही नाश हो जाता है ॥ १ ॥ प्राणों का स्पंद पाँच विधियों से रुकता है—१. प्राणायाम, २. दृढ़ अभ्यास (अथवा प्राणायाम का दृढ़ अभ्यास), ३. गुरु से बताई हुई युक्ति (उपाय), ४. आसन और ५. भोजन के नियम ॥ २ ॥ आत्मा को असंग समझते हुए, वा निरासक्ति से सब व्यवहार करते हुए, संसार-भावना को त्याग कर, और शरीर को नाशरूप देखने से वासना नहीं रहती ॥ ३ ॥ वासना के परित्याग से और प्राण स्पंद के निरोध से चित्त अचित्त भाव को प्राप्त होता है । तत्पश्चात् जैसी इच्छा हो, वैसा करो ॥ ४ ॥ हे राघव ! जो बाह्य अनात्म पदार्थ का वस्तुत्व रूप से तथा राग से अपने भीतर चिंतन है, अर्थात् जो भावना संसार के सत्य होने की है, केवल इतने को मैं चित्त का रूप मानता हूँ ॥ ५ ॥ जब पुरुष न किसी त्यागने योग्य और न ग्रहण करने योग्य वस्तु का चिंतन करता है, किंतु समस्त को त्यागकर स्थित होता है, उस समय चित्त उत्पन्न नहीं होता ॥ ६ ॥ और जब वासनारहित होने से मन किसी भी वस्तु का मनन नहीं करता, तब अमनस्ता (अमन भाव) उत्पन्न होती है, जो (अमनस्ता) परमात्मपद की देनेवाली है, अर्थात् जिस अमनस्ता के प्राप्त होने पर पुरुष परमात्मपद को प्राप्त होता अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार करता है ॥ ७ ॥

पातञ्जल सूत्रों में भगवान् के कथनानुसार यह उपाय ऐसे वर्णन हुआ है—"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" (१२ । १)=अभ्यास और वैराग्य से उसका (अर्थात् मन का) निरोध होता है ।

यही वार्ता अन्य रूप से श्रीव्यास भगवान् ने योगभाष्य में ऐसे कही है—"चित्तनदीनामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च ।" अर्थ—चित्त नदीरूप है, इसके चलने के दो मार्ग हैं, एक कल्याण (मोक्ष) की ओर और दूसरा पाप (संसार) की ओर । मोक्षरूप कल्याण के लिए चित्तरूपी नदी का मार्ग विवेक (ज्ञान) है, और संसाररूप पाप के लिए उसका मार्ग अविवेक (अज्ञान) है। इस प्रकार चित्तरूपी नदी दोनों ओर चलती है । परंतु विषयों में बार-बार दोषदृष्टिजन्य जो वैराग्य है, उससे इस चित्तरूपी नदी का विषयों की ओर का प्रवाह रुक जाता है, और विवेक-दर्शनरूप अभ्यास से उसका प्रवाह प्रत्यक् आत्मा की ओर हो जाता है । इसलिए वैराग्य और अभ्यास दोनों ही उपायों से चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है, केवल अभ्यास से वा केवल वैराग्य से नहीं । तात्पर्य यह है कि जैसे अति वेग से बहती हुई नदी के प्रवाह को बंद लगाकर उसे नहर में डाल देने से जहाँ चाहें उसका पानी लगाया जा सकता है, वैसे ही विषयों की ओर अति वेग से बहती हुई चित्तरूपी नदी के प्रवाह को वैराग्य का बंद लगाकर उसे समाधि के अभ्यास से आत्माभिमुख किया जा सकता है । केवल बंद लगाने से और नदी का वेग नहर द्वारा दूसरी ओर न करने से जैसे नदी बंद को तोड़कर पहले से भी अधिक वेग से उसी ओर बहने लग जाती है, वैसे ही चित्तरूपी नदी को यदि वैराग्य का बंद तो लगाया जाय, पर अभ्यास द्वारा उसे आत्माभिमुख न किया जाय, तो यह नदी भी उस बंद को तोड़कर पहले से भी अधिक वेग के साथ विषयों की ओर बहने लग जाती है, इसलिए वैराग्य और अभ्यास दोनों ही चित्त-निरोध के उपाय कहे गये हैं ।

से वह रोका जा सकता है। और वह उपाय अभ्यास *(निरोध

---

* अभ्यास=सर्वसाधारण में (अथवा साधारण बोलचाल में) किसी भी काम को पुनः-पुनः करना अभ्यास कहलाता है । परंतु पातञ्जल सूत्र में ऐसे कहा गया है कि "तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" वहाँ (स्वरूप में) स्थिति के लिए यत्न करना अभ्यास है । इसकी व्याख्या यह है कि "विषय-रहित चित्त का ऐसी अवस्था में ठहर जाना कि जिसमें वह ठीक शांत रहे और विषयों की ओर न झुके," उसको स्थिति कहते हैं । और "विषयों की ओर बहनेवाले चित्त को मैं सर्वप्रकार से निरोध करूँगा," इस प्रकार का जो मानसिक उत्साह है, उसे यत्न कहते हैं । उस स्थिति के स्थापन करने के लिए मानसिक उत्साहरूप यत्न का वारंवार किया जाना अभ्यास है, अर्थात् स्थिति के स्थापन करने के लिए उसके साधन का अनुष्ठान करना अभ्यास है । और यह साधन वही है जो पहले भगवान् कह आये हैं कि जहाँ-जहाँ चंचल मन जाय वहाँ-वहाँ से उसे खींचकर आत्मा में (या जिस अवस्थाविशेष में स्थापन करना है उसी में) लाकर स्थापन करे ।

इस विषय में श्रीशंकराचार्यजी ऐसा लिखते हैं—"अभ्यासो नाम चित्तभूमौ कस्याञ्चित् समान-प्रत्ययावृत्ति चित्तस्य ।" अर्थ=अभ्यास नाम है चित्त भूमि में चित्त की किसी एक समान प्रत्यय-वृत्ति होने का । अर्थात् ध्येय आत्मस्वरूप का प्रत्यय करके अर्थात् निश्चय करके जो चित्त का प्रवाह है, उससे विरुद्ध देहादि पदार्थों का चित्त में न लाना अभ्यास है ।

इस सबका अभिप्राय यही निकला कि मन की विषयों की ओर जो गति होती है उसको न होने देने का यत्न करना अभ्यास है । अर्थात् जब मन विषयों की ओर झुके, उसको वहाँ से हटाकर ऐसे कार्य में लगा लेना कि जो विषयों से व्यतिरिक्त हो (जैसे स्वाध्यायादि), उसे अभ्यास कहते हैं । और यह अभ्यास (स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः) दीर्घ काल तक निरंतर (तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धारूप) सत्कार से सेवन किया हुआ दृढ़ भूमि हो जाता है, अर्थात् वह अभ्यास फिर विषय-सुख की वासनाओं से चलायमान होने नहीं पाता है ।

के लिए पुनः-पुनः यत्न) और वैराग्य † (विषयों में दोषदृष्टि

इस अभ्यास का निरूपण श्रीवसिष्ठ भगवान् ऐसे करते हैं—

"तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ १ ॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यासं विदुः परम् ॥ २ ॥"

अर्थ—उस (अद्वितीय ब्रह्म) का ही जो चिंतन, उसका ही जो कथन, उसका ही जो परस्पर बोधन, और उस एक का ही जो निश्चय (वा परायणता) है, उसको विद्वान् पुरुष ब्रह्माभ्यास कहते हैं ॥ १ ॥ "यह दृश्य (प्रपंच) आदिकाल से उत्पन्न नहीं, और न यह तीन काल में ही सत्य है, केवल मैं स्वयंज्योति अधिष्ठान आत्मा सर्वदा विद्यमान हूँ।" इस प्रकार का जो निरंतर विचार है, उसको बोधाभ्यास कहते हैं ॥ २ ॥ और दृश्यप्रपंच के अवभास (manifestation) का विरोधी जो योगाभ्यास है, उसको मनोनिरोधाभ्यास कहते हैं। इस विषय श्री वसिष्ठजी ऐसे कहते हैं—"अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातुर्ज्ञेयस्य वस्तुनः। युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये तेप्यत्राभ्यासिनः स्थिताः ॥" अर्थ—ज्ञाता-ज्ञेय वस्तु में जो मिथ्यात्व बुद्धि है, उसका नाम अभावसंपत्ति है, और इन दोनों की जो स्वरूप से ही अप्रतीति है उसका नाम अत्यंताभावसंपत्ति है, उस अत्यंताभावसंपत्ति के लिए जो पुरुष योग से और शास्त्रों से (अथवा शास्त्रों की युक्तियों वा उपायों से) यत्न करते हैं, वे भी इस (मनोनिरोध के) अभ्यासवाले कहलाते हैं। और दृश्यप्रपंच को असंभव समझकर जो रागद्वेषादि की क्षीणता करनी है, उसको वासनाक्षय का अभ्यास कहते हैं। और श्रीवसिष्ठजी इसको ब्रह्माभ्यास नाम से ऐसे निरूपण करते हैं—"दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे। रतिर्घनोदितायासौ ब्रह्माभ्यासः स उच्यते ॥ अर्थ—इस दृश्यप्रपंच को असंभव समझने से इन राग-द्वेषादि की क्षीणता करने में जो दृढ़ रति उत्पन्न होती है, उसे ब्रह्माभ्यास कहते हैं।

† वैराग्य—साधारण बोलचाल में सांसारिक विषयों में राग वा प्रीति

करना वा विषयों से प्रीति न रखना) है। संक्षेप से यह कि मन हठ से नहीं, किंतु क्रमपूर्वक यत्न से जीता जा सकता है ॥ ३५ ॥

न रखना अर्थात् इच्छा-विहीनता का नाम वैराग्य है, पर पातंजल सूत्र में वैराग्य का लक्षण ऐसे वर्णन हुआ है—"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥" (योगसूत्र १५. १)। अर्थ—स्त्री, अन्न-पान, मैथुन इत्यादि विषय प्रत्यक्ष होने से दृष्ट कहलाते हैं, और स्वर्ग इत्यादि विषय शास्त्रप्रमाणगम्य होने से अनुश्रविक कहलाते हैं। इन देखे हुए और परंपरा से सुने हुए विषयों में नितांत तृष्णारहित पुरुष का वैराग्य वशीकार नाम से प्रसिद्ध होता है। वैराग्य चार प्रकार का है—१. यतमान, २. व्यतिरेक, ३. एकेंद्रिय, ४. वशीकार। (१) गुरु-शास्त्र द्वारा संसार के सार-असार वस्तुओं के निश्चय करने का जो उद्योग है, उसको 'यतमान' वैराग्य कहते हैं। (२) अपने दोषों में विवेचन करना कि इतने दोष दूर हुए हैं और इतने शेष रहे हैं, इस प्रकार चिकित्सा की तरह विवेचना को 'व्यतिरेक' वैराग्य कहते हैं। (३) दृष्ट और अनुश्रविक दोनों प्रकार के विषयों की प्रवृत्ति को दुःखरूप जानकर बाह्य इंद्रियों की प्रवृत्ति उनमें न करते हुए भी तृष्णा का जो औत्सुक्यमात्र (mere yearning) मन में स्थित रहना है, उसको 'एकेंद्रिय' वैराग्य कहते हैं। (४) बाह्य इंद्रियों की (विषयों में) अप्रवृत्ति के साथ-साथ मन में भी तृष्णा के अभाव से जो (तृष्णा की विरोधी) ज्ञान प्रसादरूप चित्त की वृत्तिविशेष है, उसको 'वशीकार' वैराग्य कहते हैं। यह वशीकार नाम वैराग्य संप्रज्ञात समाधि का तो अंतरंग साधन है और असंप्रज्ञात समाधि का बहिरंग साधन होता है। और असंप्रज्ञात समाधि का अंतरंग साधन केवल 'परवैराग्य' ही होता है। 'परवैराग्य' का स्वरूप पतंजलि भगवान् ने ऐसे दर्शाया है—"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।" (१६, १) अर्थ—संप्रज्ञात समाधि की दृढ़ता से त्रिगुणात्मक प्रधान से पृथक् पुरुष का जब साक्षात्कार होता है, तब ऐसे साक्षात्कार से तीनों गुणों की (वा गुणजन्य व्यवहार की) तृष्णा जो जाती रहती है, उस

संबंध--(१) इस प्रकार मन के निग्रह करने के उपाय दर्शाकर अब भगवान् इस विषय में अपना निश्चय प्रकट करते हैं—

अथवा (२) जिसका अंतःकरण अपने वश में नहीं है, उसके विषय में भगवान् अब अपना निश्चय प्रकट करते हैं—

अथवा (३) संयतात्मा और असंयतात्मा इन दोनों के फलों में जो अंतर है, उसे भगवान् अपने निश्चय के साथ अब वर्णन करते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अ[१]-संयत[२]-* आत्मना[३], योगः[४], दुस्[५]-प्रापः[६], इति[७], मे[८], मतिः[९]	न[१] वश[२] में किये हुए चित्त[३] वाले से योग[४] दुःख[५] से प्राप्त[६] होता है, यह[७] मेरी[८] मति[९] (निश्चय) है	वश्य[३]-आत्मना[४], तु[१], यतता[२], शक्यः[७], अवाप्तुं[६], उपायतः[५]	पर[१] यत्न[२] करते हुए, वश[३] में किये हुए चित्त[४] वाले से उपाय[५] द्वारा पाना[६] संभव[७] है

अन्वयार्थ—असंयतात्मा पुरुष से योग का पाना कठिन है, यह मेरा निश्चय है। परंतु यत्न करते हुए वश्यात्मा पुरुष से उपाय द्वारा (इसका) पाना संभव है ॥ ३६ ॥

"गुण वै तृष्णा" का नाम परवैराग्य है। अर्थात् यही सर्वश्रेष्ठ फल भूतवैराग्य कहलाता है । इसी की परिपक्वता से चित्त के उपशम की परिपक्वता होकर शीघ्र ही कैवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। इसी अभिप्राय को लेकर भगवान् ने "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।' यह वचन कहा है।

* जिसके चित्त का विषयाभिमुख झुकाव शिथिल नहीं पड़ता, उसे असंयतात्मा, और जिसके चित्त का शिथिल पड़ जाता है उसको संयतात्मा वा वश्यात्मा कहते हैं।

व्याख्या—हे अर्जुन! यह मेरा निश्चय (मत) है कि जिस पुरुष ने अपने आपको अपने वश में नहीं किया है; अर्थात् अभ्यास और वैराग्यादि उपायों से जिसने अपने अंतःकरण को अपने अधीन नहीं किया है, ऐसे असंयतात्मा अर्थात् अनिरुद्ध अंतःकरण वाले पुरुष के लिए सर्व वृत्तियों के निरोधरूप योग का पाना नितांत असंभव सा अर्थात् अत्यंत कठिन वा दुष्प्राप्य है। परंतु जिसका अंतःकरण वा मन अभ्यास, और वैराग्यरूपी उपायों से उसके अपने पूर्ण वश में हो गया है, वह वश्यात्मा पुरुष यदि चित्तवृत्ति को आत्माकार अर्थात् निरोध करके तत्त्वचिंतन से आत्मसाक्षात्कार का यत्न करे, तो उक्त उपाय से (जो उपाय ऊपर श्लोक १० से १८ तक और फिर श्लोक २४ से ३२ तक वर्णन हुआ है, उससे) वह इस चित्तवृत्ति-निरोध द्वारा आत्मध्यान में युक्त होकर ब्रह्मसाक्षात्काररूप योग (या आत्मसमाधिरूप योग) को सुगमता से प्राप्त हो सकता है॥ ३६॥ *

---

* यत्न की महिमा और प्रबलता को श्रीवसिष्ठ भगवान् ने अपने उपदेश में ऐसे दर्शाया है—

"सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन ।
सम्यक्प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥ १ ॥
उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं स्मृतम् ।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥ २ ॥
शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥ ३ ॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारय ।
स्वमनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर ॥ ४ ॥
प्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम् ।
तदाभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन ॥ ५ ॥

संबंध—(१) चित्त-वृत्ति के निरोधरूप योग का पाना अति कठिन होने से योग-सिद्धि में बहुत विघ्न समझता हुआ अर्जुन संशययुक्त होकर भगवान् से अब पुनः यों प्रश्न करता है—

सन्दिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर ।
शुभाभ्यां वासनावृद्धौ तात दोषो न कश्चन ॥ ६ ॥
अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्त्वं निर्णीतं तावदाचर ॥ ७ ॥
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।
शुभोप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनाधो निरोधिना ॥ ८ ॥"

अर्थ—हे रघुनंदन ! इस लोक में पुरुष सब वस्तुओं को सम्यक् प्रकार के पुरुषार्थ से प्रयुक्त होकर प्राप्त होते हैं । (ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो पुरुष-प्रयत्न से प्राप्त नहीं होता) ॥ १ ॥ सो पुरुष-प्रयत्न (वा पुरुषार्थ) दो प्रकार का कहा जाता है, एक उत्शास्त्र अर्थात् शास्त्र-निषिद्ध प्रयत्न, और दूसरा शास्त्रित अर्थात् शास्त्र-विहित प्रयत्न ॥ २ ॥ हे रामचंद्र ! यह वासनारूप नदी शुभ-अशुभ इन दो मार्गों से बहती है, इसलिए पुरुष-प्रयत्न से तू इसको शुभ मार्ग में लगा ॥ ३ ॥ हे बलवानों में श्रेष्ठ रामचंद्र ! अशुभ मार्ग में प्रवृत्त हुए अपने मन को तू पुरुष-प्रयत्न से शुभ मार्ग में प्रवृत्त कर ॥ ४ ॥ हे शत्रुओं को नष्ट करनेवाले रामचंद्र ! पूर्वले अभ्यास के वश से जब तेरे मन में शुभ वासनाएँ उत्पन्न हों, तभी तू अभ्यास की सफलता समझ ॥ ५ ॥ जब तक वासनाओं के हटने वा न हटने में संदेह हो, तब तक तू शुभ वासनाओं को ही संपादन कर, क्योंकि शुभ वासनाओं की वृद्धि में कुछ भी दोष नहीं होता ॥ ६ ॥ और जब तक तू अव्युत्पन्न मनवाला तथा परमपद के ज्ञान से रहित है, तब तक गुरु-शास्त्र-प्रमाण से निर्णीत अर्थ का ही तू आचरण कर. अर्थात् उनके निर्णीत निश्चयों वा कर्मों को ही तू अपने आचरण में ला ॥ ७ ॥ इस प्रकार के आचरण वा उपाय से जब तेरे पापरूप कषाय निवृत्त हों, और तू आत्म-वस्तु को जान ले तथा मन का निरोध हो जाय, तब तू शुभ वासनाओं

अथवा (२) जो इस समाधियोग में जिज्ञासा और श्रद्धा तो रखता है, पर अल्प प्रयत्नवाला है, ऐसे पुरुष की मरकर जो गति होती है, उसके विषय में अर्जुन अब पूछता है—

अथवा (३) केवल तत्त्वज्ञानी (अपरम योगी) तथा जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी (परम योगी) ये दोनों तो देह छोड़ते ही कैवल्य मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं; परंतु जो अपने पूर्वकृत निष्काम कर्मों से चित्त-शुद्धि को तो पा चुका है, और इसीलिए फिर आत्मसाक्षात्कार की जिज्ञासा से पूर्ण युक्त होकर यज्ञादि कर्मों को छोड़ बैठा है, अर्थात् संन्यास लेकर गुरु के पास तत्त्वोपदेश का श्रवण-मनन करता है, परंतु यत्न की कमी के कारण वह बिना आत्मसाक्षात्कार किये के ही मर जाता है; ऐसे पुरुष की कौन गति होती है, उसके विषय अर्जुन अब प्रश्न करता है—

अथवा (४) योगाभ्यास का मार्ग स्वीकार करके जिसने इस लोक और परलोक की प्राप्ति के साधनरूप कर्मों का तो परित्याग कर दिया, पर योगसिद्धि का फलरूप मोक्षप्राप्ति का साधन पूर्ण ज्ञान जिसको मिला नहीं। ऐसे योगी की चित्तवृत्ति यदि अंतकाल में विचलित हो गई हो, तो उसकी फिर क्या गति होती है, इसके विषय अर्जुन अब पूछता है—

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलित मानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

को भी छोड़ दे। ऐसे त्याग से कोई दुःख वा दोष तुझे प्राप्त नहीं होगा ॥ ८ ॥ इत्यादि अनेक वचनों से श्रीवसिष्ठजी ने पुरुष-प्रयत्न की प्रबलता और आवश्यकता कथन की है।

अयतिः^{3}, श्रद्धया^{1}, उपेतः^{2}	श्रद्धा^{1} से युक्त^{2} अयति^{3} (यत्न न करनेवाला वा यत्न से रहित)
योगात्^{1}, चलित^{2}- मानसः^{3}	योग^{1} से चले^{2} हुए (डोले हुए) मन^{3}वाला
अ^{3}-प्राप्य^{4}, योग^{1}-संसिद्धिं^{2}	योग^{1} की सिद्धि^{2} को न^{3} पाकर^{4}
कां^{2}, गतिं^{3}, कृष्ण^{1}, गच्छति^{4}	हे कृष्ण^{1} ! किस^{2} गति^{3} को वह प्राप्त^{4} होता है

अन्वयार्थ—अर्जुन बोला—हे कृष्णजी ! अयति *, श्रद्धा † से युक्त और योग से डोले हुए मनवाला पुरुष योग की सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

व्याख्या—'मन का रोकना निःसंदेह कठिन है, और यदि उपाय

---

* यद्यपि नञ् समास में आरंभ के नञ् (अ) पद का साधारण अर्थ 'अभाव' होता है, तथापि कई बार अल्प अर्थ में भी उसका प्रयोग हुआ करता है, इसलिए 'अयति' शब्द का अर्थ केवल यत्नरहित वा असंयमी पुरुष ही नहीं किंतु 'अल्प अर्थात् अधूरा यत्न वा अधूरा संयम करनेवाला' भी हो सकता है।

† 'श्रद्धा' शब्द बहुधा अपने सहवर्ती शमदमादि का भी उपलक्षण होता है, इसलिए 'श्रद्धा' शब्द से अभिप्राय यहाँ षट् संपत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा) भी हो सकता है । और वेदांत के साधन चतुष्टय भी श्रद्धा के सहवर्ती हैं, इसलिए विवेक, वैराग्य, षट् संपत्ति और मुमुक्षुत्व ये चार साधन भी श्रद्धा शब्द से यहाँ अभिप्रेत हो सकते हैं । इस विषय श्रुति ऐसे कहती है—"शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति ।"=शांत और दान्त होकर अर्थात् मन और इंद्रियों को रोककर उपराम, तितिक्षु और श्रद्धावाला होकर अपने भीतर ही वह आत्मा को देखता है ।

से मन की विषयाभिमुखता कुछ शिथिल भी हो जाय तो भी आगे को यत्न करके सम्यक् योग की प्राप्ति करना अत्यंत ही कठिन है। प्रायः ऐसा होता है कि मनुष्य योग-समाधि वा आत्मिक जीवन में श्रद्धा तो रखते हैं और थोड़ा बहुत कामात्मा के जीतन में यत्न भी करते हैं, परंतु विषयों की खींच उन्हें आगे नहीं चलन देतीं, जिससे उनको योग प्राप्त होने नहीं पाता बल्कि कुछ काल पीछे उनका यत्न भी शिथिल पड़ जाता है, और जिसका अंत में परिणाम यह दिखाई देता है कि न योग ही मिला, और न पूर्ण विषय ही मिले'; 'न इधर का रहा न उधर का'; अर्थात् धोबी के कुत्ते के समान वह न घर का रहता है न घाट का, और 'न दुनिया ही मिलती है न राम।' इस प्रकार के संशय से युक्त हुआ अर्जुन अब भगवान् से ऐसे पूछता है कि हे श्रीकृष्ण! जिसको समाधि-योग में तथा गुरु और शास्त्र में श्रद्धा तो हो, पर जो उसके पाने में यत्न से रहित हो, अथवा जो अपने आप को वश में न किये हुए हो, अर्थात् जो योग की प्राप्ति में पूरा-पूरा यत्न तो न कर सका हो और न पूरा-पूरा आत्मवशी ही हुआ हो, पर जो योग और योगसमाधि में श्रद्धा अवश्य रखता हो; और उस थोड़े से (वा न ठीक) यत्न और आत्मवश्यता के कारण जिसका मन योग से चलायमान हो गया अर्थात् डोल गया हो, ऐसा पुरुष यदि योग की पूर्ण सिद्धि को न पाकर मर जाय, तो उसकी फिर क्या गति होती है? ॥ ३७ ॥

संबंध अपने प्रश्न के अभिप्राय को अर्जुन अब और स्पष्ट करता है—

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

कश्चित्, न, उभय- विभ्रष्टः, छिन्न-अभ्रं, इव, नश्यति	क्या दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ फटे हुए बादल के समान वह नाश नहीं हो जाता ?	अ-प्रतिष्ठः, महा-बाहो,* विमूढः, ब्रह्मणः, पथि	आश्रय-रहित हुआ और ब्रह्म के मार्ग में भूला हुआ, हे विशाल बाहु (कृष्ण) !

अन्वयार्थ—हे कृष्णजी ! वह ब्रह्म के मार्ग में भूला हुआ क्या फटे हुए बादल के समान निराश्रय होकर दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ नाश तो नहीं हो जाता ? ॥ ३८ ॥

व्याख्या—हे विशालबाहु भगवान् कृष्णचंद्रजी ! जैसे छिन्न-भिन्न बादल (वा फटा हुआ बादल का टुकड़ा) आश्रय-रहित होने के कारण, अर्थात् एक बड़े बादल समूह से फटकर और दूसरे से न मिलकर विना वर्षा किये के ही. नाश को प्राप्त होता है, वैसे ही जो उभय-भ्रष्ट † अयति पुरुष है (अथवा जो कर्मयोग और

---

* 'महाबाहो' संबोधन से ऐसा तात्पर्य अर्जुन का प्रतीत होता है कि वह भगवान् जिनकी (चारों) भुजाएँ भक्तों के सब उपद्रवों को दूर करने और उनको धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चार प्रकार के पुरुषार्थ देने के समर्थ हैं; अथवा जो अपने आचरण (बर्ताव) से अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ हैं।

† उभय-भ्रष्ट "दोनों ओर का आश्रय छूटा हुआ," अथवा "इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः", इसका अर्थ भी कर्मयोग-प्रधान ही करना चाहिए। कर्म के दो प्रकार के फल हैं; (१) काम्यबुद्धि से किंतु शास्त्र की आज्ञा के अनुसार कर्म करने पर तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है, और (२) निष्काम बुद्धि से करने पर वह बंधक न होकर मोक्षदायक हो जाता है। परंतु इस अधूरे मनुष्य को कर्म के स्वर्गादि काम्य फल नहीं मिलते, क्योंकि उसका ऐसा हेतु ही नहीं रहता; और साम्यबुद्धि पूर्ण न होने

ध्यानयोग अथवा कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग इन दोनों से भ्रष्ट हुआ या लोक-परलोक दोनों से गया-गुज़रा योगभ्रष्ट पुरुष है) वह कहीं उक्त बादल के समान ब्रह्म के मार्ग में भूलता-भटकता हुआ निराश्रय होने से नाश तो नहीं हो जाता ? अर्थात् जो कर्म-मार्ग को तो पहले ही छोड़ बैठा था और ध्यानयोग जिसका सिद्ध नहीं हुआ, जिस लिए न कर्म द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति और न ध्यानयोग द्वारा ब्रह्मसाक्षात्काररूप मोक्ष की प्राप्ति के वह योग्य हो सका, ऐसा दोनों मार्गों से फिसला हुआ योग-भ्रष्ट पुरुष कहीं ऐसी अवस्था को तो प्राप्त नहीं हो जाता कि "दोनों दीन से गये पाँडे, हलवा मिले न माँडे" ? या धोबी के कुत्ते की तरह न वह घर का रहे, न घाट का, अर्थात् न लोक का रहे, न परलोक का, बल्कि वैसे ही मूल से नाश हो जाय ? ॥ ३८ ॥

संबंध—उक्त संशय की निवृत्ति के लिए अर्जुन श्रीकृष्ण से अब ऐसे प्रार्थना करता है—

के कारण उसे मोक्ष मिल नहीं सकता, इसलिए अर्जुन के मन में यह शंका उत्पन्न हुई कि उस बेचारे को न तो स्वर्ग मिला और न मोक्ष—कहीं उसकी ऐसी स्थिति तो नहीं हो जाती कि दोनों दीन से गये पाँडे, हलवा मिले न माँडे ? यह शंका केवल पातंजल योगरूपी कर्मयोग के साधन के लिए ही नहीं की जाती । अगले अध्याय में वर्णन है कि कर्मयोग सिद्धि के लिए आवश्यक साम्य बुद्धि कभी पातंजल योग से, कभी भक्ति से, और कभी ज्ञान से प्राप्त होती है, और जिस प्रकार पातंजल योग-रूपी यह साधन एक ही जन्म में अधूरा रह सकता है, उसी प्रकार भक्ति या ज्ञानरूपी साधन भी एक ही जन्म में अपूर्ण रह सकते हैं । अतएव कहना चाहिए कि अर्जुन के उक्त प्रश्न का भगवान् ने जो उत्तर दिया है, वह कर्मयोग-मार्ग के सभी साधनों को साधारण रीति से उपयुक्त हो सकता है । (श्रीबालगंगाधर तिलक)

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

एतत्, मे, संशयं, कृष्ण, छेत्तुं, अर्हसि, अ-शेषतः	हे कृष्ण ! इस मेरे संशय को पूरा-पूरा तू काटने योग्य है	त्वत्-अन्यः, संशयस्य, अस्य, छेत्ता, न, हि, उपपद्यते	क्योंकि तेरे बिना इस संशय का काटनेवाला नहीं बन सकता (वा मिल सकता)

अन्वयार्थ—हे कृष्ण ! इस मेरे संशय को पूरा-पूरा काटने के योग्य आप (ही) हैं, क्योंकि बिना आपके इस संशय का काटनेवाला मिल नहीं सकता ॥ ३९ ॥

व्याख्या—हे भगवान् कृष्णजी ! यह संशय जो मैंने (उक्त दो श्लोकों में) सविनय प्रकट किया है, इस मेरे संशय को आप ही संपूर्ण रूप से मिटा सकते हैं। इसलिए आप ही से मेरी प्रार्थना है कि आप इस संशय को निवारण कर दीजिए। यदि आप यह कहें कि "मेरे से अतिरिक्त अन्य देवता वा ऋषि लोग भी तो हैं जो इस संशय को मिटा सकते हैं, उनसे पूछा जाय," तो हे भगवन् ! मुझे आपके अतिरिक्त ऐसा कोई भी दिखाई नहीं देता और न मिल ही सकता है कि जो मेरे इस संशय को निवारण कर सके। इसलिए आप ही कृपा करके मेरे इस समस्त संशय को निवारण कीजिए ॥ ३९ ॥

संबंध—उक्त संशय-निवारणार्थ भगवान् अब उत्तर देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

पार्थ[१], न[२], एव[३], इह[४], न[५], अमुत्र[६], विनाशः[७], तस्य[८], विद्यते[९]	हे अर्जुन[१]! न[२] ही[३] इस[४] लोक में (यहाँ) न[५] उस[६] लोक में (वहाँ वा परलोक में) उसका[८] विनाश[७] होता[९] है	न[७], हि[१], कल्याण[३]-कृत्[४], कश्चित्[२], दुर्गतिं[६], तात[५], गच्छति[८]	क्योंकि[१] कोई[२] कल्याण[३] करने[४]-वाला हे प्यारे[५]! दुर्गति[६] को नहीं[७] प्राप्त[८] होता है

अन्वयार्थ—हे अर्जुन ! न ही इस लोक में और न परलोक में उसका विनाश * होता है, क्योंकि हे प्यारे ! कोई भला करनेवाला (कभी) दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ॥ ४० ॥

व्याख्या—हे पृथा-पुत्र (अर्जुन) ! उक्त योगभ्रष्ट पुरुष अर्थात् उभय भ्रष्ट योगी न तो इस लोक अर्थात् भूलोक में नितांत नाश को प्राप्त होता है, और न उस लोक अर्थात् परलोक में। अर्थात् न इस जन्म में ही उस योगभ्रष्ट की नितांत हानि होती है, और न दूसरे जन्म में। तात्पर्य यह कि देह छोड़ने पर उसे

---

* 'वि' अक्षर से यहाँ अभिप्राय पुरुष का समुच्चय नाश वा संपूर्ण रूप से नाश नहीं किंतु उसकी अध्यात्मोन्नति की हानि वा अधोगतिरूप नाश है। यह हानिरूप नाश भी दो प्रकार का है—(१) शास्त्रानुसार न चलने से भले पुरुषों में अपना 'अपयश होना' और (२) मर कर (परलोक में) 'निकृष्ट गति का मिलना।' इस प्रकार की निकृष्ट गति के विषय श्रुति ऐसा कहती है—"अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न ते कीटाः पतङ्गा यदि दंदशूकम् ।" जो लोग न देवयान मार्ग में प्रवृत्त होते हैं, और न पितृयाण मार्ग में, बल्कि जो शास्त्रोक्त कर्म-उपासना भी नितांत नहीं करते हैं, उन्हें न देवलोक की प्राप्ति होती है और न पितृलोक की, किंतु कीट, पतंग, सर्पादि शरीरों की बारंबार प्राप्ति होती है। यह दो प्रकार का हानिरूप नाश योगभ्रष्ट पुरुष को प्राप्त नहीं होता।

इस वर्त्तमान जन्म से हीन जन्म की प्राप्ति नहीं होती। कारण यह है कि भला करनेवाला पुरुष, हे प्यारे! चाहे वह कोई ही हो, और भला कर्म भी कैसा ही क्यों न हो, उससे वास्तव में न उस (पुण्यकर्त्ता पुरुष) की दुर्गति होती है, और न उस पुण्यकर्म का बुरा परिणाम ही होता है; बल्कि पुण्यकर्त्ता पुरुष, यदि उत्तम परिणाम प्राप्त करने से पहले प्रारब्ध-वश कभी फिसल भी जाय, तो भी अंत में वह उन्नति की ओर ही झुकता वा प्राप्त होता है॥४०॥

संबंध--दुर्गति न होने से जिस गति वा परिणाम को योगभ्रष्ट प्राप्त होता है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

प्राप्य^{4}, पुण्य^{1}-कृतां^{2}, लोकान्^{3}	पुण्य^{1} करनेवालों^{2} के लोकों^{3} को प्राप्त^{4} होकर	शुचीनां^{1}, श्रीमतां^{2}, गेहे^{3}	शुद्धात्मा^{1} श्रीमानों^{2} के घर^{3} में
उषित्वा^{3}, शाश्वतीः^{1}, समाः^{2}	अगणित^{1} (बहुत) वर्षों^{2} तक रह कर^{3}	योग^{1}-भ्रष्टः^{2}, अभिजायते^{3}	योग^{1}-भ्रष्ट^{2} पुरुष उत्पन्न^{3} होता है

अन्वयार्थ---पुण्य करनेवालों के लोकों को प्राप्त होकर, वहाँ बहुत वर्षों तक रहकर योगभ्रष्ट पुरुष फिर शुद्धात्मा श्रीमानों के घर में उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

व्याख्या--हे अर्जुन! पुण्य कर्म करनेवाले पुरुष जिन उत्तम लोकों को प्राप्त होते हैं, उनको यह योगभ्रष्ट पुरुष प्राप्त होकर वहाँ अगणित वर्षों तक निरंतर निवास करता है, और "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इस श्रुति के अनुसार जब वहाँ के

भोग खूब भोग लेता है, अर्थात् जब उसके वहाँ के भोग समाप्त हो जाते हैं, तब शुद्ध अंतःकरणवाले अर्थात् पवित्रात्मा और विभूतिवाले पुरुषों के घर में वह जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

संबंध (१) इससे अतिरिक्त अन्य जिस गति को वह योगभ्रष्ट प्राप्त होता है, उसे भगवान् अब कहते हैं—

अथवा (२) अल्प काल के अभ्यासियों की गति कहकर अब भगवान् दीर्घ काल के अभ्यासियों की गति कहते हैं—

अथवा (३) श्रेष्ठ कर्मों के कारण तो योगभ्रष्ट पुरुष की गति पूर्व कही गई, अब उसकी विषय-इच्छा से रहित अवस्था के कारण दूसरी गति भगवान् कहते हैं—

अथवा (४) जो लोग परलोक की इच्छा रखकर योग में प्रवृत्त होते हैं और फिर फिसल जाते हैं, ऐसे योगभ्रष्ट पुरुषों की गति तो पूर्व कही गई, और जो लोक-परलोक की इच्छाओं से रहित हुए योग में प्रवृत्त होते फिसल जाते हैं, ऐसे योगभ्रष्टों की गति भगवान् अब कहते हैं—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

अथवा, योगिनां.एव, कुले, भवति, धीमताम्	अथवा बुद्धिमान् योगियों के कुल में ही वह उत्पन्न होता है
एतत्, हि, दुर्लभ-तरं, लोके,जन्म, यत्, ईदृशम्	ऐसा जो जन्म है, इस संसार में यह निःसंदेह अति दुर्लभ है

अन्वयार्थ—अथवा बुद्धिमान् योगियों के ही कुल में वह उत्पन्न होता है । ऐसा जो जन्म है, इस संसार में यह निःसंदेह दुर्लभतर है ॥ ४२ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन! योगभ्रष्ट पुरुष या तो पूर्व गति को प्राप्त होता है, अर्थात् पुण्य करनेवालों के लोकों को भोग कर बड़े-बड़े धनाढ्य पुरुषों वा राजा-महाराजाओं के घर में जन्म लेता है, और या केवल निर्धन परंतु बुद्धिमान् योगियों के ही कुल (घर) में सीधा उत्पन्न होता है। परंतु इस प्रकार का जन्म भी इस संसार में निःसंदेह बड़े भाग्यवान् को प्राप्त होता है, क्योंकि ऐसी उत्तम कुल में उत्पत्ति अन्य कुलों में उत्पत्ति की अपेक्षा अति कठिन, लाभदायक वा दुर्लभतर है ॥ ४२ ॥ *

संबंध—ऐसे जन्म की दुर्लभता का भगवान् अब हेतु स्पष्ट करते हैं—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

तत्र[1], तं[2], बुद्धि[5]-संयोगं[6], लभते[7], पौर्व[3]-देहिकम्[4]	वहाँ[1] उस[2] पूर्वले[3] देह[4] के बुद्धि[5]-संयोग[6] को वह पा[7] लेता है
यतते[7], च[1], ततः[4], भूयः[5], संसिद्धौ[6], कुरु[2]-नन्दन[3]	और[1] हे कुरु[2]-नंदन[3]! उससे[4] आगे[5] योग[6]-सिद्धि में वह फिर यत्न[7] करता है

अन्वयार्थ—वहाँ उस पूर्वले देह के बुद्धि-संयोग को वह पा लेता

---

* उक्त तीनों श्लोकों से भगवान् ने यह तत्त्व दर्शाया है कि जिस यत्न में हम लगें, यदि वह यत्न उत्तम है, तो हम चाहे उसमें उत्तीर्ण हों और चाहे अनुत्तीर्ण हों, पर उससे अधोगति को प्राप्त होने नहीं पाते किंतु उन्नति की ओर ही रहते हैं। और यह तत्त्व केवल योगी के विषय में ही नहीं किंतु सबके विषय में सिद्ध होता है, क्योंकि एक जन्म में किया हुआ कोई भी अधूरा काम अधूरा ही नहीं रह जाता, दूसरे जन्म में पूरा हो जाता है। इसी नियम से योगभ्रष्ट पुरुष अपना अधूरा अभ्यास पूर्ण करने के लिए दूसरे जन्म को प्राप्त होता है।

है, और उससे आगे योग-सिद्धि में हे अर्जुन ! वह (फिर अधिक) यत्न करता है ॥ ४३ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! इस प्रकार श्रीमानों और बुद्धिमान् योगियों के घर में जन्म लेकर वह योगभ्रष्ट पुरुष वहाँ (इस नये जन्म में) उस बुद्धि के संबंध (मिलाप) को पा लेता है कि जो बुद्धि (निश्चय वा विचार) उसने पूर्वले जन्म में अभ्यास से लाभ की हुई थी, या जिसे उसने पूर्व देह में अभी आरंभ ही किया था। और उस बुद्धि को पाकर, हे कुरु-कुल को प्रसन्न करनेवाले अर्जुन ! फिर वह (योगभ्रष्ट) इस योग-सिद्धि के लिए पहले से भी अधिक यत्न करता है, अथवा पूर्वले जन्म में जहाँ यत्न करना छोड़ा था, उससे आगे पुनः यत्न करता है ॥ ४३ ॥*

---

* इसी प्रकार का उत्तर श्रीवसिष्ठ भगवान् ने भी श्रीरामचंद्र के प्रति दिया है। श्रीरामचंद्र ने प्रश्न किया—"एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत। आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन्गतिः ॥"=हे भगवन् ! केवल एक भूमिका, अथवा दूसरी भूमिका या तीसरी भूमिका को प्राप्त हुए पुरुष की मरने के पीछे कैसी गति होती है ? श्रीरामचंद्र के प्रश्न का अभिप्राय यह है कि शास्त्र में जो सात भूमिकाएँ कही गई हैं, अर्थात् १. नित्य-अनित्य-वस्तु का विवेक[१], इहामुत्रफलभोग का वैराग्य[२], शम-दमादि षट् संपत्ति[३], और कर्मों की निरासक्ति वा संन्यासपूर्वक जो उत्कट मुमुक्षुत्व[४] (मुक्ति की इच्छा), इन चार साधनों से संपन्न जो अवस्था है वह 'शुभ इच्छा' नाम की पहली भूमिका है। २. इसके अनंतर ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाकर वेदांत-वाक्यों का जो श्रवण-मनन है, वह 'विचारणा' नाम की दूसरी भूमिका है। ३. इसके बाद श्रवण-मनन द्वारा सिद्ध हुआ जो तत्त्वज्ञान अर्थात् निदिध्यासन है जिसमें पुरुष संशय से रहित होता है, सो तत्त्वज्ञानरूप निदिध्यासन 'तनुमानसा' नाम की तीसरी भूमिका है। ४. ये तीनों भूमिकाएँ तत्त्वसाक्षात्कार का साधन हैं, इनसे जो तत्त्व-

संबंध—(१) पूर्व जन्म की बुद्धि इस जन्म में कैसे आ प्राप्त होती है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

साक्षात्कार अवस्था प्राप्त होती है, वह 'सत्त्वापत्ति' नाम की चौथी भूमिका है । इस भूमिकावाला योगी केवल ब्रह्मवित् कहलाता है । ५. इसके बाद की तीनों भूमिका जीवन्मुक्ति के ही अवांतर भेद हैं । सविकल्पक समाधि के अभ्यास से पूर्ण निरुद्ध मन में जो निर्विकल्पक समाधि की अवस्था है, उसका नाम असंसक्ति है, सो 'असंसक्ति' पाँचवीं भूमिका है । इस अवस्था से तो योगी पुरुष अपने आप समाधि से उठ आता है । इसलिए इस भूमिकावाला योगी ब्रह्मविद्वर नाम से कहा जाता है । ६. इस असंसक्ति की परिपक्वता से जो चिरकाल पर्यंत स्थिर हुई निर्विकल्पक समाधि की अवस्था है, उसका नाम 'पदार्थाभावनी' है, जो छठी भूमिका है । यह अवस्था गाढ़सुषुप्ति नाम से कही जाती है । इस पदार्थाभावनी छठी भूमिकावाला योगी अपने आप समाधि से नहीं उठता किंतु दूसरे के प्रयत्न से व्युत्थान को प्राप्त होता है । इसलिए यह योगी ब्रह्मविद्वरीयान् उपाधि से बोला जाता है । ७. इस पदार्थाभावनी नाम की छठी भूमिका की परिपक्वता से जब विद्वान् पुरुष सर्वदा परिपूर्ण परमानंदघन हुआ स्थित होता है, और विना प्रयत्न के, या प्रारब्ध-कर्मवश, उसके देह का व्यवहार अन्य लोगों द्वारा ही होता है, ऐसी अवस्था सातवीं भूमिका है, इसे 'तुरीया' नाम देते हैं । इस अवस्था को प्राप्त हुआ पुरुष न तो अपने आप और न दूसरे के प्रयत्न से समाधि से व्युत्थान को प्राप्त होता है । इसलिए इस भूमिकावाले योगी को ब्रह्मविद्वरिष्ठ नाम से कहते हैं । अब प्रश्न यह है कि पिछली तीन (पाँचवीं, छठी और सातवीं) भूमिका में तो पुरुष को जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों हैं, और चौथी भूमिका में मनुष्य को यद्यपि जीवन्मुक्ति नहीं तथापि मर कर विदेहमुक्ति की प्राप्ति अवश्य और निश्चित है । परंतु पहली तीन भूमिकाओं के विषय (जो तत्त्वसाक्षात्कार की साधन हैं) संशय का उठना संभव है । इसलिए श्रीरामचंद्र पूछते हैं कि इन तीन भूमिकाओं

अथवा (२) पूर्व जन्म की बुद्धि के संयोग से योगभ्रष्ट पुरुष कैसे ध्यानयोग में प्रवृत्त हो जाता है, इसे भगवान् अब दर्शाते हैं—

में से किसी में भी मरने से पुरुष की क्या गति होती है ? इस पर वसिष्ठ भगवान् ऐसे उत्तर देते हैं कि—

"योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः ।
भूमिकांशानुसारेण क्षीयते सर्वदुष्कृतम् ॥ १ ॥
ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च ।
मेरुपर्वतकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ॥ २ ॥
ततः सुकृतसम्भारे दुष्कृते च पुराकृते ।
भोगक्षयात्परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥ ३ ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् ।
जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासिताः ॥ ४ ॥
तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तं योगभूमिक्रमं बुधाः ।
दृष्ट्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकाक्रमम् ॥ ५ ॥"

अर्थ—जो पुरुष योग-भूमिका को संपादन करके मरण को प्राप्त हो गया है, उस पुरुष के पूर्वले पाप-कर्म सारे के सारे इस योगभूमिकांश के अनुसार नाश हो जाते हैं ॥ १ ॥ फिर वह पुरुष मेरु पर्वत की कुंजों तथा इंद्रादिक लोकपालों की पुरियों में देवताओं के विमानों में आरूढ़ होकर अप्सराओं के साथ रमण करता है ॥ २ ॥ तत्पश्चात् जब उसके पूर्व कृत सुकृतों का समूह भोग लेने से क्षय हो जाता है, तब शेष दुष्कृतों के भोगने के लिए वे योगभ्रष्ट पुरुष पुनः इस भूमिलोक में उत्पन्न होते हैं; अथवा जब पूर्व कृत सुकृतों और दुष्कृतों का समूह भोग लेने से क्षीण हो जाता है, तब वे योगभ्रष्ट पुरुष पुनः इस भूमिलोक में उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥ इस भूमिलोक में जो पवित्र, श्रीमान् और विद्यादि श्रेष्ठ गुणों से संपन्न होते हैं, उनके घर में वे योगभ्रष्ट पुरुष जन्म लेते हैं। और जन्म लेकर पूर्वले योग-भूमिकाओं के संस्कारों से विवश हुए वे पुनः उन योग-भूमिकाओं का ही सेवन करते हैं ॥ ४ ॥ और पूर्व जन्म में अभ्यास किया हुआ जो

अथवा (२) उक्त योगभ्रष्ट को दूसरे जन्म में उन्नति करने का अवकाश क्यों मिलता है, इसे भगवान् अब स्पष्ट करते हैं—

भूमिकाक्रम है, उस क्रम को विचार करके वे बुद्धिमान् (योगभ्रष्ट) पुरुष फिर वहाँ उस क्रम से उत्तर भूमिकाओं के क्रम को अर्थात् उच्च भूमिकाओं को प्रयत्न से संपादन करते हैं ॥ ५ ॥ लौकिक भोगवासनाओं की प्रबलता से अल्प काल में अभ्यस्त वैराग्यवासनाओं की दुर्बलता से प्राणों के निकलते समय जिस पुरुष की भोगों की इच्छा रह गई थी, उसी योगभ्रष्ट पुरुष का परिणाम वसिष्ठ भगवान् ने यहाँ वर्णन किया है । पर जिसके हृदय में वैराग्य की वासनाएँ अति प्रबल हैं, और प्राण निकलते समय ईश्वर-कृपा से उसे भोगों की किंचित् भी इच्छा नहीं रही, ऐसा तीव्र वैराग्यवान् योगी तो ब्रह्मविद्यावाले दरिद्री (निर्धन) ब्राह्मणों के कुल में उत्पन्न होकर पूर्वले संस्कारों के अनुसार विना प्रयत्न के ही योगसिद्धि को प्राप्त होता मुक्त हो जाता है, जिस लिए पूर्व योगभ्रष्ट पुरुष को जिस प्रकार मुक्ति में शंका होती है, वैसे इस दूसरे योगभ्रष्ट पुरुष को मोक्ष में किंचित्-मात्र भी शंका नहीं होती। सो इस दूसरे योगभ्रष्ट पुरुष को श्रीवसिष्ठ भगवान् ने कथन नहीं किया ; किंतु कृपालु भगवान् श्रीकृष्ण ने ही इस दूसरे योगभ्रष्ट का परिणाम वर्णन किया है ।

इस (उक्त कथन) के विषय में एक सरल दृष्टांत यह है कि—जैसे कोई हरिद्वार जानेवाला पुरुष लखनऊ से पैदल चलकर रास्ते में मुरादाबाद में सो जाता है, तो जब वह जागता है तब मुरादाबाद से आगे चलकर लुक्सर इत्यादि स्टेशनों से होता हुआ हरिद्वार पहुँचता है, जागने पर वह पुनः लखनऊ से चलना प्रारंभ नहीं करता । वैसे ही योगभ्रष्ट पुरुष जब मार्ग में ही मृत्यु को प्राप्त होता अर्थात् सो जाता है, तो वह जब जागता अर्थात् पुनः जन्म लेता है, तब उस अवस्थारूपी स्टेशन से ही आगे चलना आरंभ करता है, न कि पीछे से, अर्थात् उस अवस्था से नहीं कि जिसे वह बहुत काल से टप चुका है और जो अब अति छोटी श्रेणी की वा निकृष्ट है ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४४ ॥

पूर्व^{२}-अभ्यासेन^{३}, तेन^{१}, एव^{४}	उस^{१} पूर्वले^{२} अभ्यास^{३} से ही^{४}	जिज्ञासुः^{२}, अपि^{३}, योगस्य^{१}	योग^{१} का जिज्ञासु^{२} भी^{३}
ह्रियते^{५}, हि^{२}, अवशः^{३}, अपि^{४}, सः^{१}	वह^{१} निसंदेह^{२} विवश^{३} हुआ भी^{४} खींचा^{५} जाता है	शब्द^{१}-ब्रह्म^{२}, अतिवर्त्तते^{३}	शब्द^{१} ब्रह्म^{२} को उलाँघ^{३} (टप) जाता है

अन्वयार्थ—उस पूर्वले अभ्यास से ही विवश हुआ वह (योग-भ्रष्ट) निःसंदेह (उस ओर) खींचा जाता है। योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म * को उलाँघ जाता है ॥ ४४ ॥

---

* शब्दब्रह्म=(१) वेद, अर्थात् वेदोक्त कर्मकांड के अनुष्ठान के फल (स्वर्गादि) को उलाँघ जाता है। (श्रीशंकराचार्य)

(२) देव, मनुष्य आदि शब्द से कहने योग्य ब्रह्म अर्थात् प्रकृति, उसको उलाँघ जाता है, अर्थात् प्रकृति के संबंध से विमुक्त हुआ उस ज्ञान-आनंद-स्वरूप आत्मा को प्राप्त होता है जो देव-मनुष्यादि शब्दों से नहीं बोला जाता। (श्रीरामानुज)

(३) शब्दब्रह्म का अर्थ है "वैदिक यज्ञ-याग आदि काम्य कर्म।" क्योंकि ये (काम्य) कर्म वेद-विहित हैं और वेदों पर श्रद्धा रखकर ही किये जाते हैं; तथा वेद अर्थात् सब सृष्टि के पहले पहल का शब्द यानी शब्दब्रह्म है। प्रत्येक मनुष्य पहले पहल सभी कर्म काम्यबुद्धि से किया करता है; परंतु इस कर्म से जैसी-जैसी चित्त-शुद्धि होती जाती है, वैसे ही वैसे आगे निष्काम बुद्धि से कर्म करने की इच्छा होती है। इसीसे उपनिषदों में और महाभारत में भी (मैत्र्यु० ६, २२; अमृतबिंदु० १७; म०भा० शां० २३१, ६३; २६९, १.) यह वर्णन है कि—"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥"=

व्याख्या—हे अर्जुन ! उत्तम लोकों के भोगों को भोगकर फिर श्रीमान् राजाओं के घर में अथवा सीधा बुद्धिमान् योगियों के कुल में उत्पन्न हुआ जो योगभ्रष्ट पुरुष है, उसने जो पूर्व जन्म में योगप्राप्ति-निमित्त अभ्यास किया होता है, और जिस अभ्यास तथा ज्ञान की संस्काररूप बुद्धि का संयोग उसे इस वर्तमान जन्म में स्वतः प्राप्त हुआ होता है, उस पूर्वले योगाभ्यास के संस्कारों के बल से विवश (मजबूर) होकर, अर्थात् किसी कारण से स्वयं न चाहता हुआ भी, अथवा स्वयं प्रयत्न न करता हुआ भी पूर्व अभ्यास से विवश होकर, वह योगभ्रष्ट पुरुष उस योगप्राप्ति की ओर झुक जाता है, अर्थात् योगमार्ग में विवश हुआ प्रवृत्त होता है। संक्षेप से तात्पर्य यह है कि पूर्व जन्म का अभ्यास योगभ्रष्ट पुरुष को अवश्यमेव योगमार्ग में पुनः प्रवृत्त

"जानना चाहिए कि ब्रह्म दो प्रकार का है ; एक शब्दब्रह्म और दूसरा उससे परे का (निर्गुण) । शब्दब्रह्म में निष्णात (familiarity) हो जाने पर फिर इससे परे का (निर्गुण) ब्रह्म प्राप्त होता है ।" शब्द-ब्रह्म के काम्य कर्मों से उकताकर अंत में लोकसंग्रह के अर्थ इन्हीं कर्मों को करानेवाले कर्मयोग की इच्छा होती है, और फिर तब इस निष्काम कर्मयोग का थोड़ा-थोड़ा आचरण होने लगता है । अनंतर 'स्वल्पारम्भाः क्षेमकराः' के न्याय से यही थोड़ा सा आचरण उस मनुष्य को इस मार्ग में धीरे-धीरे खींचता जाता है, और अंत में क्रम-क्रम से पूर्ण सिद्धि करा देता है । पस, यह जो कहा है कि "कर्मयोग के जान लेने की इच्छा होने से भी वह शब्दब्रह्म के परे जाता है", उसका तात्पर्य भी यही है, क्योंकि यह जिज्ञासा कर्मयोगरूपी चरखे का मुँह है, और एक बार इस चरखे के मुँह में लग जाने पर फिर इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, कभी न कभी, पूर्ण सिद्धि मिलती है, और वह शब्दब्रह्म से परे के ब्रह्म तक पहुँचे विना नहीं रहता । (श्रीबालगंगाधर तिलक)

करा देता है। और हे अर्जुन! योगभ्रष्ट पुरुष का तो कहना ही क्या है, जो केवल योग-सिद्धि की अभी जिज्ञासा ही रखता है, अर्थात् जो पूर्व योगभ्रष्ट के समान तीसरी भूमिकावाला नहीं किंतु अभी पहली भूमिका को ही संपादन करता है, वह जिज्ञासु योगी भी शब्दब्रह्म (वेद या वेदोक्त कर्मों के फल) को उलाँघ जाता है; अथवा वह योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म (वैदिक कर्म-कांड वा काम्य कर्म) से परे वर्तता है। अभिप्राय यह है कि योगभ्रष्ट पुरुष के तो सब पाप उसके पूर्व अभ्यास के अनुसार नाश हुए होते हैं, जिससे वह तो स्वभाव ही से निष्पाप अर्थात् वैदिक कर्म (वा काम्य कर्मों) के फल से परे (अथवा निर्लिप्त) ही वर्तता होता है; परंतु जो पुरुष अभी ठीक योगभ्रष्ट नहीं किंतु योग का जिज्ञासु ही है, वह भी शब्दब्रह्म से परे रप जाता है, अर्थात् त्रैगुण्यविषयक वेद वा उनकी पुष्पित वाणियाँ तथा स्वर्ग-भोग के दिलानेवाली नाना प्रकार की क्रियाएँ (यज्ञ-याग आदि काम्य कर्म) उस योग के जिज्ञासु को भी नितांत आकर्षण नहीं करतीं, बल्कि वह भी इनके आकर्षण से परे ही वर्तता रहता है ॥ ४४ ॥ *

---

* जब योगभ्रष्ट पुरुष किसी राजा-महाराजा के घर में जन्म ले लेगा, तो यह संभावना होती है कि वह वहाँ अपने माता-पिता, स्त्री-पुत्र और धनादि के मोह में अथवा विषयों में फँस जावे, और इस मोह-माया के सामने उस (योगभ्रष्ट) का कुछ वश न चले। इस शंका के निवारणार्थ यह श्लोक है, जिसका तात्पर्य यह है कि चाहे योगभ्रष्ट पुरुष किसी धनवान् के घर में उत्पन्न होकर मोह-माया में फँस भी जावे, तो भी उसके पूर्वले जन्म का योगाभ्यास अपने संस्कारों से उसे अवश्य योगमार्ग में लगा देता है। यदि उसने कोई अधर्म काम किया होता है, तो कुछ काल के लिए योग का प्रभाव दबा रहता है, पर ज्यों ही अधर्म का नाश

संबंध—(१) पूर्वाभ्यास से विवश होकर यत्न करते हुए योगी की भगवान् अब गति वर्णन करते हैं—

अथवा (२) "तीसरी भूमिका में मरनेवाला योगभ्रष्ट तो पूर्व अभ्यास से विवश होकर शब्दब्रह्म से परे वर्तता हुआ योग-साधन में लग जाता है," ऐसा दर्शाकर अब "जो पहली वा दूसरी भूमिका में मर जाता है, अर्थात् जो योग का अभी जिज्ञासु ही है, ऐसे योगभ्रष्ट को भी प्रयत्न द्वारा तत्त्वसाक्षात्काररूप परमगति की प्राप्ति अवश्य और निश्चित है," ऐसा भगवान् अब दर्शाने लगे हैं—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

प्रयत्नात्, यतमानः, तु	और (किंतु) प्रयत्न से यत्न करता हुआ	**अनेक-जन्म-संसिद्धः**	अनेक जन्मों के अनंतर सिद्ध हुआ
योगी, संशुद्ध-किल्बिषः	धोये हुए मलों-वाला योगी	**ततः, याति, परां, गतिम्**	फिर परम गति को प्राप्त होता है

अन्वयार्थ—और (इस प्रकार) प्रयत्न से यत्न करता हुआ, धोये हुए पापों (मलों) वाला, और अनेक जन्मों के अनंतर सिद्ध हुआ योगी तब परम गति को पाता है ॥ ४५ ॥

पहली व्याख्या—हे अर्जुन ! इस प्रकार जब पूर्वाभ्यास के बल (वा संस्कारों) से विवश होकर वह योगभ्रष्ट पुरुष योगमार्ग में प्रवृत्त होता है, तब वह पहले से भी अधिक परिश्रम के साथ उस योगसिद्धि के लिए यत्न करता है । और इस यत्न से जब

हुआ, तत्काल योग के संस्कार अपना बल दर्शाने लग जाते हैं । इस प्रकार अधर्म के कारण पूर्व अभ्यास के संस्कार छिप जाते अर्थात् दबे होते हैं, परंतु उनका विनाश नहीं हुआ होता ।

उसके अंतःकरण के सब दोष (पाप वा मल) धुल जाने अर्थात् दूर हो जाते हैं, तब ऐसी अनेक जन्मों के पुण्यकर्मों वा यत्नों से प्राप्त होनेवाली योगसिद्धि को पाकर वह फिर परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है। इस प्रकार योगभ्रष्ट पुरुष अंत में मुक्ति को ही पाता है, नितांत नाश नहीं हो जाता ॥ ४५ ॥

दूसरी व्याख्या--हे अर्जुन! योगभ्रष्ट पुरुष, अर्थात् तीसरी भूमिका में मरनेवाला योगी तो पूर्वाभ्यास से विवश होकर शीघ्र योग-मार्ग में प्रवृत्त होता आत्मसाक्षात्कार कर ही लेता है। पर जो योग का अभी जिज्ञासु ही है, अर्थात् जो पहली वा दूसरी भूमिका में मरनेवाला योगी है, वह उस पूर्व जिज्ञासा के संस्कारों के बल से योग की सिद्धि में भारी प्रयत्न से यत्न करने लग जाता है, और इस प्रयत्न से जब उसके समस्त पाप धुल जाते हैं, अर्थात् जब प्रयत्न द्वारा उसका अंतःकरण नितांत शुद्ध हो जाता है, तो (इस प्रकार) अनेक जन्मों के प्रयत्न से प्राप्त होनेवाली योग-सिद्धि को वह भी पा लेता है। और उस सिद्धि के अनंतर फिर वह परमगति (कैवल्य मुक्ति) को प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥*

---

* भगवान् के इस उत्तर से यह भी सिद्ध हुआ कि पूर्व जो दूसरे अध्याय में कर्मयोग के विषय में भगवान् ने यह कहा था कि "इस योग में प्रत्यवाय नहीं होता बल्कि इसका थोड़ा सा अंश किया हुआ भी बड़े भारी भय से बचा देता है" यह सिद्धांत इस ध्यानयोग के विषय में भी वैसे ही ठीक उतरता है, अर्थात् यह सिद्धांत इस योग में भी वैसे ही युक्त है, जैसे कि कर्मयोग में।

और श्लोक ४० से ४५ तक भगवान् ने यह भी दर्शा दिया है कि मनुष्य की चाहे कुछ ही आयु क्यों न हो, चाहे उसने बहुत आयु को पापों में ही क्यों न खो दिया हो, और वह कैसा ही निर्बल क्यों न हो, पर उसे निराश कदापि न होना चाहिए, और न उसे यह समझना

संबंध—इस परमगति को प्राप्त होनेवाले योगी का भगवान् अब महत्त्व (वा स्तुति) वर्णन करते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

तपस्विभ्यः^{१}, अधिकः^{३}, योगी^{२}	तपस्वियों से^{१} योगी^{२} अधिक^{३} है	कर्मिभ्यः^{२}, च^{१}, अधिकः^{४}, योगी^{३}	और^{१} कर्मियों से^{२} योगी^{३} अधिक^{४} है
ज्ञानिभ्यः^{१}, अपि^{२}, मतः^{४}, अधिकः^{३}	ज्ञानियों से भी^{२} (योगी) अधिक^{३} माना^{४} गया है	तस्मात्^{१}, योगी^{३}, भव^{४}, अर्जुन^{२}	इसलिए^{१} हे अर्जुन^{२}! तू योगी^{३} हो^{४}

चाहिए कि "मुझसे कुछ हो ही नहीं सकता, या आयु अब कम रह गई है, इत्यादि ।" बल्कि जितना यत्न हो सके और जब हो सके, उसे अवश्य करना चाहिए । जो थोड़ा सा भी यत्न वह कर लेगा, उसका भी परिणाम अच्छा ही होगा । क्योंकि किसी का परिश्रम व्यर्थ नहीं जाता । यदि एक जन्म में सिद्धि न हुई, तो दूसरे जन्म में अवसर मिल जाता है, और उसके लिए उचित अवस्थाएँ उपस्थित हो जाती हैं ।

तीसरी बात इस श्लोक से यह स्पष्ट हो गई कि बहुधा यह योग-सिद्धि मनुष्य को केवल एक जन्म में ही प्राप्त नहीं होती, बल्कि कई एक जन्मों के पूर्वले संस्कारों तथा जन्म-जन्मांतर के यत्नों से मिलती है; अर्थात् इस सिद्धि में पूर्वले जन्म के संस्कार बड़ा भारी कारण हैं । आरंभ में देखने से यह जान पड़ता है कि पतंजलि ऋषि तथा जनक आदि को यह सिद्धि एक जन्म में ही प्राप्त हुई होगी, परंतु तात्त्विक दृष्टि से देखने पर पता लगता है कि उन्हें भी यह फल जन्म-जन्मांतर के पूर्व संस्कारों से ही मिला होगा । इस प्रकार योग का थोड़ा सा आचरण, यहाँ तक कि योग की जिज्ञासा भी, सदैव कल्याणकारक है । इसके अतिरिक्त अंत में मोक्षप्राप्ति भी निःसंदेह इसी से होती है ।

अन्वयार्थ---(उक्त ध्यान-) योगी तपस्वियों से अधिक, कर्मियों से अधिक और ज्ञानियों से भी अधिक (श्रेष्ठ) माना गया है। इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी हो * ॥ ४६ ॥

व्याख्या—हे अर्जुन ! जो लोग तपस्वी हैं, अर्थात् जो कृच्छ्र-चांद्रायणादिक तप करते हैं, पंचाग्नि तपते हैं, रात-दिन धूनी लगाये खड़े रहते हैं, और जंगल में जा उपवास-व्रतादि करके अपने देह को क्षीण कर डालते हैं, ऐसे शरीर को क्लेशदायक व्रतों और उपवासादिक से सिद्धि पाने का यत्न करनेवाले तपस्वियों की अपेक्षा उक्त ध्यानयोग द्वारा मनोनाश और वासनाक्षय अर्थात् तत्त्वसाक्षात्कार करनेवाला ध्यानयोगी बहुत बड़ा अर्थात् श्रेष्ठ है। जो ज्योतिष्टोमादि वैदिक कर्म करते हैं; अथवा जो कुएँ, तालाब, बावड़ी और धर्मशालाएँ बनवाते हैं, या जो निष्काम भाव से वेदोक्त कर्म करते रहते हैं और इसी से योगारूढ़ हो चुके हैं। ऐसे कर्मनिष्ठ (अथवा कर्मकांडी) पुरुषों से भी उक्त ध्यानयोगी बड़ा अर्थात् श्रेष्ठ वा उत्तम है। इन तपस्वियों और

---

* "तू योगी हो" इस आज्ञा से तात्पर्य तो निःसंदेह यही है कि "तू भी ध्यानयोगी हो" क्योंकि प्रसंग भी इसी ध्यानयोगी का ही यहाँ चल रहा है; परंतु इससे यह अभिप्राय नहीं कि अभी ही युद्ध छोड़ कर झट हे अर्जुन ! तू जंगल में जाकर योगाभ्यास कर। आशय यह है कि यह ध्यानयोगी अन्य सब योगियों से निःसंदेह श्रेष्ठ है, क्योंकि आत्मसाक्षात्कार का प्रत्यक्ष अनुभवी यह ध्यानयोगी ही होता है और सबको इसी ओर सिद्धि पर पहुँचने का यत्न करना होता है। पर इस का यत्न यही है कि पहले कर्मयोग किया जाय;-जब कर्मयोग करते-करते योगारूढ़ अवस्था प्राप्त हो जाय, तब एकांत स्थान में बैठकर अंतर्मुख होकर चित्त-वृत्ति-निरोध का अभ्यास किया जाय। इस क्रम से, हे अर्जुन ! तू भी उक्त ध्यानयोगी हो। (देखो यही भाव अ० १८ श्लो० ४४–५५ तक)

कर्मकांडी पुरुषों का तो भला कहना ही क्या है, ये जो केवल परोऽक्ष ज्ञानी हैं, अर्थात् जो रात-दिन केवल शास्त्रों के अर्थ-विचार में ही लगे रहते हैं, जो मिला उससे ज्ञान की लंबी-चौड़ी बातें ही छाँटते रहते हैं, और जो केवल युक्ति से तो तत्त्व को समझे बैठे हैं, पर आचरण में उस निश्चय को अभी नहीं लाये होते, इन ऐसे ज्ञानियों से भी उक्त ध्यानयोगी श्रेष्ठ * माना जाता है। हे प्यारे! क्योंकि यह (ध्यान द्वारा सिद्धि को प्राप्त हुआ) योगी तपस्वियों, कर्मियों और ज्ञानियों से भी अधिक (श्रेष्ठ) माना गया है, इसलिए तू भी ऐसा ध्यानयोगी हो ॥ ४६ ॥ †

---

* इस कथन से यह तात्पर्य नहीं कि तपस्वी, कर्मकांडी और परोऽक्ष-ज्ञानी पुरुष स्वभाव से निकृष्ट किंवा व्यर्थ वा निरुपयोगी हैं, और न इनका निषेध करना भगवान् का अभिप्राय है। भगवान् ने तो केवल इन सबकी ध्यानयोगी से तुलना की है, जिससे यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि कर्मी, तपस्वी और ज्ञानी अपने-अपने स्थान पर उत्तम और उपयोगी हैं, तथापि ध्यानयोगी इन सबसे श्रेष्ठ है। और ध्यानयोगी की उपमा के सामने इन (कर्मी इत्यादि) की उपमा मंद पड़ जाती है।

इस श्लोक से योगी का अर्थ भी यही स्पष्ट हो रहा है कि योगी केवल तपस्वी नहीं है, अर्थात् पंचाग्नि जलाकर बीच में बैठनेवाला हठयोगी योगी नहीं है, न केवल कर्मी और परोऽक्ष ज्ञानी ही योगी है, किंतु योगी यहाँ वह है कि जिसने प्रथम निष्काम कर्मयोग के उपाय द्वारा अंतःकरण की शुद्धि और चित्त की शांति लाभ कर ली है, और फिर उस शुद्धि और शम अवस्था की सहायता से चित्तवृत्ति का निरोध करके एकांत में तत्त्वचिंतन से तत्त्व-साक्षात्कार कर लिया है। अर्थात् जो समाधिस्थ तत्त्वविद् है, वही यहाँ योगी है।

† 'योगी' शब्द के अर्थ केवल कर्मयोगी लेकर श्रीयुत तिलक महाराज इस श्लोक की ऐसे व्याख्या करते हैं—(आगे फ़ुटनोट पृष्ठ ८१७ पर देखो)

संबंध--(१) उक्त ध्यानयोगियों में भी जो श्रेष्ठ योगी है, उसे भगवान् अब वर्णन करके इस प्रकरण को समाप्ति करते हैं—

“जंगल में जाकर उपवास आदि शरीर के क्लेशदायक व्रतों से अथवा हठयोग के साधनों से सिद्धि पानेवाले लोगों को इस श्लोक में तपस्वी कहा है; और सामान्य रीति से इस शब्द का यही अर्थ है। ‘ज्ञानयोगेन सांख्यानां’ (गी. ३. ३) में वर्णित, ज्ञान से अर्थात् सांख्य-मार्ग से कर्म को छोड़कर सिद्धि प्राप्त कर लेनेवाले सांख्यनिष्ठ लोगों को ज्ञानी माना है। इसी प्रकार गी. २, ४२–४४ और ९. २०, २१ में वर्णित, निरे काम्य कर्म करनेवाले स्वर्ग-परायण कर्मठ मीमांसकों को कर्मी कहा है। इन तीनों पंथों में से प्रत्येक यही कहता है कि हमारे ही मार्ग से सिद्धि मिलती है। किंतु अब गीता का यह कथन है कि तपस्वी हो, चाहे कर्मठ मीमांसक हो, या ज्ञाननिष्ठ सांख्य हो, इनमें प्रत्येक की अपेक्षा कर्मयोगी अर्थात् कर्मयोग मार्ग ही श्रेष्ठ है। और पहले यही सिद्धांत ‘अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है’ (गी. ३. ८), एवं ‘कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेष है’ (गी. ५. २) इत्यादि श्लोकों में वर्णित है। और तो क्या, तपस्वी, मीमांसक अथवा ज्ञानमार्गी इनमें से प्रत्येक की अपेक्षा कर्मयोगी श्रेष्ठ है, ‘इसी’ लिए पीछे जिस प्रकार अर्जुन को उपदेश किया है कि ‘योगस्थ होकर कर्म कर’ (गी. २, ४८) अथवा ‘योग का आश्रय करके खड़ा हो’ (गी. ४, ४२), उसी प्रकार यहाँ भी फिर स्पष्ट उपदेश किया है, कि ‘तू (कर्म-) योगी हो’।”

हमारे ख़याल में श्रीतिलक महाराज की यह व्याख्या यद्यपि अति मनोहर और कुछ युक्ति-सिद्ध दीखती है; परंतु ऐसी व्याख्या इस श्लोक को जब इस अध्याय से बाहर निकालकर की जाय तो शायद अति उत्तम, युक्त और यथार्थ हो सके; किंतु यहाँ के क्रमानुसार यह ठीक नहीं बैठती। कारण, प्रथम तो यह अध्याय ही ध्यानयोग का चल रहा है, कर्मयोग का नहीं। दूसरे, प्रसंग भी यहाँ ध्यानयोगी का है, कर्मयोगी का नहीं। तीसरे, कर्मयोगी यद्यपि अकर्मी वा कर्मसंन्यासी से श्रेष्ठ है, परंतु कर्म-

अथवा (२) पूर्वोक्त जितने प्रकार के योगी वर्णन हुए हैं, उन सब योगियों में जो श्रेष्ठ योगी है, उसे भगवान् अब दर्शाते हुए प्रकरण की समाप्ति करते हैं—

योगी से भी ऊपर (बढ़-चढ़कर) ध्यानयोगी इसी अध्याय के श्लोक ३ में भगवान् ने सूत्ररूप से दर्शाया है, और कर्मयोग को ध्यानयोग का प्रथम अंग (वा रूप) दर्शाया है। चौथे, कर्मयोगी कर्मसंन्यासी से श्रेष्ठ और सुगम होने के कारण पूर्व अध्यायों में निःसंदेह अर्जुन को भगवान् ने कर्मयोगी होने का उपदेश तो दिया है, परंतु वहीं उसे यह भी दर्शा दिया है कि कर्मयोग-अवस्था से आगे बढ़कर ध्यानयोग-अवस्था है, अर्थात् कर्मयोग अंतिमावस्था नहीं बल्कि ध्यानयोग की प्रथमावस्था है, और कर्मयोग का आचरण किये बिना ध्यानयोग सुगमता-पूर्वक हो नहीं सकता, इसलिए कर्मयोग के मार्ग को पकड़कर वहीं ठहरे रहना उचित नहीं बल्कि निरासक्त मन व समत्व बुद्धि से निष्काम कर्म करते-करते जब पुरुष योगारूढ़ अर्थात् पूर्ण कर्मयोगी की अवस्था को प्राप्त हो जाय, तो उसके उपरांत उसे बाह्य कर्म छोड़कर एकांत स्थान में बैठ आँख, कान आदि मूँद कर अपने भीतर निरोध चित्त के साथ तत्त्वचिंतन से आत्म-ध्यान में निरंतर युक्त होना चाहिए ताकि उसे आत्मसाक्षात्कार का लाभ हो और इस रीति से उसकी सर्वप्रकार की कामनाएँ और अन्य त्रुटियाँ नष्ट हों और वह फिर पूर्णतया अनंत सुख (परमानंद) को पाता हुआ परमनिर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हो। इसी लिए उक्त श्लोक ३ में कहा है कि कर्मयोगी को अपने कर्मयोग साधन से योगारूढ़ अवस्था प्राप्त कर लेने के बाद शमरूप साधन से ध्यानयोग करना उचित है। पाँचवें, अगले श्लोक ४७वें में भी उत्तम योगी वही दर्शाया गया है कि जो भगवान् को श्रद्धापूर्वक सर्वत्र भजता वा ध्याता है; न कि वह जो निष्काम कर्म करता है। इसलिए योगी के अर्थ यहाँ कर्मयोगी नहीं, किंतु ध्यानयोगी ही बैठते हैं। और यही अर्थ यहाँ के क्रमानुसार वा पूर्वापर के संबंध से युक्त हैं। (टीकाकार)

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ।

योगिनां^{2}, अपि^{3}, सर्वेषां^{1}	सब^{1} योगियों^{2} में से भी^{3}	श्रद्धावान्^{2}, भजते^{4}, यः^{1}, मां^{3}	जो^{1} श्रद्धावाला^{2} हुआ मुझे^{3} भजता^{4} है
मद्^{1}-गतेन^{3}, अन्तर्^{2}-आत्मना^{4}	मुझ^{1} में^{2} लगाये^{3} हुए (स्थित) मन^{4} से	सः^{1}, मे^{2}, युक्त^{3}-तमः^{4}, मतः^{5}	वह^{1} मेरा^{2} युक्त^{3}तम^{4} माना^{5} गया है

अन्वयार्थ——सब योगियों में भी जो श्रद्धावान् हुआ मुझमें स्थित मन से मुझको भजता है, वह मेरा युक्ततम माना गया है ॥ ४७ ॥

इसी श्लोक की विचित्र रूप से श्रीज्ञानदेव ने ऐसे व्याख्या की है—— "जिस लाभ की आशा से धैर्यरूपी भुजाओं का विश्वास रख कर्मनिष्ठ लोग सत्कर्मरूपी प्रवाह में घुसते हैं, अथवा जिस एक वस्तु के लिए ज्ञानी लोग ज्ञान का दृढ़ कवच पहनकर प्रपंच से युद्ध-भूमि पर झगड़ते हैं, अथवा जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके तपस्वी लोग निराधार फिसलाहट युक्त तपोरूपी क़िले की टूटी हुई कगार का आश्रय करते हैं, जो भजन करनेहारों का भज्य है, यज्ञ करनेहारों का याज्य है, एवं जो सर्वदा सब को पूज्य है, वही परब्रह्म जो साधकों का कारण और सिद्ध तत्त्व है, वह योगी स्वयं आप ही हो जाता है । इसलिए कर्मनिष्ठों का वह बंदनीय है, ज्ञानियों का जानने योग्य है, और तपस्वियों का मूल तपोनाथ है । जीव और परमात्मा के संगम से उसे मनोधर्म प्राप्त हुए हैं । एवं वह शरीरी है, तथापि वह उपर्युक्त महिमा पाता है । इसलिए, हे पंडुकुँवर ! मैं तुमसे सदा कहता हूँ कि तुम अंतःकरण से योगी बनो ।"

व्याख्या – हे अर्जुन ! उक्त ध्यानयोगियों (अथवा सर्वप्रकार के पूर्व वर्णित योगियों) में से भी वह योगी * मेरी समझ (विचार) में अत्यंत श्रेष्ठ है कि जो चित्त में वसु, रुद्र, आदित्य आदि देवताओं को तो नहीं ध्याता रहता बल्कि एकमात्र मुझ सच्चिदानंदस्वरूप में पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ हृदय से मेरा ही निरंतर ध्यान करता रहता है, और इस रीति से मुझ परमेश्वर में पूर्ण चित्त लगाकर मेरा भजन करता रहता है – अर्थात् संपूर्ण समाहित चित्तवाले पुरुषों (योगियों) में भी जो मुझे अनन्य रूप से ध्याने-

---

* इस सारे अध्याय में योगी शब्द तीन मुख्य भेदों से वर्णित है, प्रथम वह योगी जो अभी योग में आरूढ़ होना चाहता है, अर्थात् जो अभी योग का जिज्ञासु है । द्वितीय वह योगी जो कर्मयोग द्वारा योगारूढ़ हो चुका है । तृतीय वह (योगारूढ़) योगी कि जो ध्यानयोग (अर्थात् योगाभ्यास) द्वारा योगसिद्धि (मनोनाश और वासनाक्षय) को प्राप्त हो गया है । इन्हीं (तीन प्रकार के योगियों) को संस्कृत में युक्त मनुष्य कहते हैं । इन युक्त योगियों में भी वह योगी कि जो मनोनाश वासनाक्षय होने पर एकमात्र परम (शुद्ध सच्चिदानंद) स्वरूप भगवान् का अनुभव करता है, उसको भगवान् युक्ततम समझते हैं ; अथवा जो योगारूढ़ होने पर एकमात्र परमात्मा को अवलंबन करके चित्तवृत्ति का निरोध करता है, जैसे कि श्रुति में आया है—"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥" (कठ० अ० १. व. २।१७) अर्थ—"यह सबसे उत्तम आलंबन (सहारा) है, यह सबसे ऊँचा आलंबन है, वह जो इस आलंबन को जानता है, ब्रह्मलोक में महिमावाला होता है," ऐसा योगी भगवान् के विचार में युक्ततम है ; अथवा जो सर्वत्र भगवान् को और भगवान् में सबको देखता है, जिससे ऐसी दशा उसकी हो जाती है कि "यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ।"=जहाँ-जहाँ उसका मन जाता है, वहाँ-वहाँ ही उसकी समाधि लग जाती है ; उस ऐसे अभेददर्शी योगी को भगवान् युक्ततम मानते हैं ।

वाला है, जो एकमात्र मेरे ही परमस्वरूप (जो उसका ही अपना वास्तविक स्वरूप है) के ध्यान में निरुद्ध चित्त से नियुक्त रहता है, और जिधर भी उसकी दृष्टि जाती है वहाँ प्रत्येक पदार्थ में मुझ सच्चिदानंद को ही अनुभव करता हुआ सबसे प्रेम करता है, और इस रीति से सर्वत्र मेरी ही पूजा, सेवा और भक्ति (वा प्रीति) करता हुआ समाहित चित्त रहता है, ऐसे योगी * को मैं

---

* योगी का अर्थ कर्मयोगी करके श्रीतिलक महाराज इस श्लोक का ऐसा भाव वर्णन करते हैं— "इस श्लोक का यह भावार्थ है कि योग में भी भक्ति का प्रेम-पूरित मेल हो जाने से, वह योगी भगवान् को अत्यंत प्रिय हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है। क्योंकि आगे बारहवें अध्याय में भगवान् ने स्पष्ट कह दिया है कि ध्यान की अपेक्षा कर्मफल-त्याग श्रेष्ठ है। (गी. १२. १२)। निष्काम कर्म और भक्ति के समुच्चय को श्रेष्ठ कहना एक बात है, और सब निष्काम कर्मयोग को व्यर्थ कहकर, भक्ति ही को श्रेष्ठ बतलाना दूसरी बात है। गीता का सिद्धांत पहले ढंग का है और भागवत पुराण का दूसरे ढंग का। भागवत (१. ५, ३४) में सब प्रकार के क्रियायोग को आत्मज्ञानविघातक निश्चित कर, कहा है—

"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।"

नैष्कर्म्य अर्थात् निष्काम कर्म भी (भाग. ११. ३. ४६.) विना भगवद्भक्ति के शोभा नहीं देता, वह व्यर्थ है (भाग. १. ५. १२ और १२. १२. ५२)। इससे व्यक्त होगा कि भागवत-कार का ध्यान केवल भक्ति के ही ऊपर होने के कारण वे विशेष प्रसंग पर भगवद्गीता के भी आगे कैसी चौकड़ी भरते हैं। जिस पुराण का निरूपण इस समझ से किया गया है कि महाभारत में और इससे गीता में भी भक्ति का जैसा वर्णन होना चाहिए वैसा नहीं हुआ; उसमें यदि उक्त वचनों के समान और भी कुछ बातें मिलें तो कोई आश्चर्य नहीं। पर हमें तो देखना है गीता का तात्पर्य, न कि भागवत का कथन। दोनों का प्रयोजन और समय भी

अत्यंत युक्त वा सर्वोपरि श्रेष्ठ मानता हूँ। अथवा दूसरे शब्दों में ऐसा भी कह सकते हैं कि योगाभ्यास के समय महादेव, सूर्य आदि देवताओं का ध्यान वा भजन करनेवाले योगियों की अपेक्षा केवल अपने आपमें और संसार के प्राणिमात्र में भेद न समझनेवाला, सबको ब्रह्मस्वरूप अनुभव करनेवाला अर्थात् एकमात्र अपने परम आत्मस्वरूप का अनन्य भक्त (ध्यानयोगी) सबसे श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ४७ ॥ *

भिन्न-भिन्न है; इस कारण बात-बात में उनकी एक वाक्यता करना उचित नहीं है। कर्मयोग की साम्य-बुद्धि प्राप्त करने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है, उनमें से पातंजल योग के साधनों का इस अध्याय में निरूपण किया गया। ज्ञान और भक्ति भी अन्य साधन हैं, अगले अध्याय से इनके निरूपण का आरंभ होगा।"

* इन छे अध्यायों (प्रथम षट्क) में भगवान् ने सबसे पहले आत्मतत्त्व का बोध कराया, और उस बोधानुसार कर्म करने की विधि बता कर भगवान् ने फिर आत्मसाक्षात्कार की विधि (ध्यानयोग) इस अध्याय में सविस्तर वर्णन की। और उस विधि पर चलनेवाले पुरुषों को योगी नाम देकर उनके चार भेद सहित साधनों के दर्शाये; अर्थात् १. योग का जिज्ञासु, जो अभी योगारूढ होना चाहता है, उसके लिए आत्मानुभव का प्रथम साधन कर्मयोग, अर्थात् कर्म द्वारा मन का निग्रह बतलाया; २. योगारूढ, जो जिज्ञासा की अवस्था से ऊपर होकर योगारूढ हो चुका है, उसके लिए शम साधन अर्थात् इंद्रियों और मन का निग्रह कर एकांत में बैठ तत्त्वचिंतन से आत्मध्यान में युक्त होना कहा है; ३. युक्त, अर्थात् जो उक्त शम साधन से योगसिद्धि को प्राप्त हो गया है, उसके लिए मनोनाश वासनाक्षयरूप साधन वर्णन हुआ; और ४. युक्ततम, जिसके लिए सर्वत्र भगवत्-दर्शन अर्थात् अभेद दृष्टि साधन वर्णन हुआ है। इस समुच्चय तात्पर्य को श्रीयामुनाचार्य ऐसे श्लोकबद्ध करते हैं—

इति श्रीमद्भगवद्गीतानुवादे ध्यानयोगो * नाम षष्ठोऽध्यायः।

"योगाभ्यासविधिर्योगी चतुर्धा योगसाधनम्।
योगसिद्धिः स्वयोगस्य पारम्यं षष्ठ उच्यते॥

अर्थ—१. योगाभ्यास की विधि, २. चार प्रकार के योगी, ३. योग का साधन, ४. योगसिद्धि और ५. स्वयोग की श्रेष्ठता, ये पाँच विषय इस छठे अध्याय में वर्णन हुए हैं। जिससे पता लगता है कि कैसे और किनसे और किन-किन अवस्थाओं में योगाभ्यास किया जा सकता है, और योगसिद्धि कब होती है तथा उसका परिणाम क्या-क्या होता है।

* कई टीकाकारों ने इस अध्याय का नाम "ध्यानयोग" के शब्द से नहीं, किंतु "आत्मसंयमयोग" के शब्द से निरूपण किया है।

* * *

SPS
891.431 M 20 CH

छठे अध्याय का संक्षेप

(१) पाँचवें अध्याय के अंत में जो ध्यान की विधि संक्षेप से वर्णन की गई थी उसे अब (इस अध्याय में) भगवान् सविस्तर वर्णन करने लगे हैं। परंतु यह ध्यानयोग तो कर्मयोग व कर्मसंन्यास दोनों का लक्ष्य वा फल है जिससे दोनों अपने लक्ष्य वा फल से एक हैं, इसलिए भगवान् सबसे पहले योगी और संन्यासी की (अपने अभिप्राय से) एकता दर्शाते हैं——

(क) हे अर्जुन! यह मैंने पूर्व भी अनेक बार कहा है, और अब पुनः स्पष्ट करके कहता हूँ कि कर्म-फल का आश्रय न लेकर करने योग्य अर्थात् कर्त्तव्य कर्म को जो पुरुष करता है, वही (मेरे विचार में) संन्यासी है और वही योगी है, न कि अग्निहीन और क्रियाहीन पुरुष।

(ख) इसलिए जिसको लोग संन्यास कहते हैं, उसको ही तू योग जान, क्योंकि विना संकल्प त्यागे के कोई पुरुष वास्तव में योगी नहीं हो सकता।

(ग) हाँ, इतना ज़रूर है कि जो पुरुष अभी योगारूढ़ की अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ, बल्कि जो उस अवस्था को प्राप्त होना चाहता है, उसके लिए (उस अवस्था की प्राप्ति का) साधन वा उपाय कर्म कहलाता है। और जो योगारूढ़ की अवस्था को प्राप्त हो चुका है, उसके लिए बाह्य कर्मों को छोड़कर एकांत में बैठ निरुद्ध मन से तत्त्वचिंतन द्वारा आत्मध्यान में निरंतर युक्त होते रहना अर्थात् शम ही साधन वा उपाय कहलाता है। इस प्रकार

योगी दो प्रकार के होते हैं, एक तो योग के जिज्ञासु अर्थात् कर्मयोगी, और दूसरे योगारूढ़ अर्थात् संन्यासी जो वास्तवमें कर्मयोग का ही परिणाम है।

(२) इतना दर्शाने के बाद भगवान् अब योगारूढ़ पुरुष के लक्षण स्पष्ट करते हैं—

"जब पुरुष नितांत न इंद्रियों के अर्थों (विषयों) में और न कर्मों में अनुषंगता (lingering attachment) रखता है, और इस रीति से सारे संकल्पों का जब पूर्ण त्यागी हुआ होता है, तब वह योगारूढ़ कहलाता है।

(३) उक्त योगारूढ़ अवस्था के प्राप्त होने पर फिर योगारूढ़ पुरुष को आगे जो कुछ करना उचित है, उसे भगवान् अब सविस्तर वर्णन करते हैं—

(क) योगारूढ़ अवस्था के प्राप्त होने पर फिर योगारूढ़ पुरुष को उचित है कि वह अपने आपका अपने आपसे अर्थात् अपने आत्मिक बल से उद्धार करे, और अपने आपको नीचे न गिरने दे, अर्थात् संसार-समुद्र में पुनः अपने आपको डूबने वा आसक्त होने न दे; क्योंकि पुरुष का अपना आप ही अपना बंधु है, और अपना आप ही अपना शत्रु है।

(ख) और यह याद रहे कि जिसने अपने आपको अपने वश में कर रक्खा है, उसका अपना आप उसका मित्र है, और जिसने नहीं कर रक्खा, उसका अपना आप उसका शत्रु है।

(४) ऐसे जितात्मा योगारूढ़ पुरुष के लक्षण वा फल भगवान् अब वर्णन करते हैं—

(क) अपने आपको अपने पूर्ण वश में किये हुए (जितात्मा) और प्रशांत चित्त (योगारूढ़) पुरुष का अपना आप (अंतःकरण) शीतोष्ण, सुख-दुःख और मानापमान आदि द्वंद्वों में नित्य समाहित (शांत, स्थिर वा युक्त) रहता है।

(ख) और इसीलिए ज्ञानविज्ञान से तृप्तात्मा, कूटस्थ (निर्विकार), इंद्रिय-जित और ढेला-पत्थर तथा सोना को एक समान समझता हुआ योगारूढ़ पुरुष पूर्ण युक्त कहलाता है।

(ग) और मिट्टी के ढेले इत्यादि जड़ पदार्थों को एक समान समझना इतना कठिन नहीं जितना कि चेतन पदार्थों में सम भाव रखना कठिन है, इसलिए सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बंधुओं और पापियों में भी समबुद्धि रखनेवाला योगारूढ़ पुरुष विशेष करके युक्त वा श्रेष्ठ होता है।

(५) योगारूढ़ पुरुष की इस प्रकार युक्त और युक्ततम अवस्था को दर्शाकर अब भगवान् इस अवस्था की प्राप्ति का साधन सहित अंगों के सविस्तर वर्णन करते हैं—

(क) योगी अर्थात् योगारूढ़ पुरुष को चाहिए कि आशापरिग्रह से रहित तथा यतचित्तात्मा होकर अकेले एकांतस्थान में बैठकर वह अपने आपको निरंतर आत्मध्यान में युक्त करे।

(ख) शुद्ध पवित्र स्थान न अति ऊँचा और न अति नीचा हो, वहाँ पर न हिलने-जुलनेवाला आसन जमाकर उस पर कुशा, चर्म और वस्त्र बिछाये।

फिर उस आसन पर बैठकर चित्त और इंद्रियों की क्रियाओं को स्वाधीन करता हुआ मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि-निमित्त ध्यानयोग में युक्त होवे, अर्थात् योगाभ्यास करे।

(ग) और अभ्यास के समय धड़, सिर, गर्दन को सीधा अडोल धारण करे, और वैसे ही दृढ़ स्थिर होकर केवल अपनी नासिका के अग्रभाग को देखे, इसके अतिरिक्त किसी अन्य ओर न देखे। फिर प्रशांतात्मा, भयरहित, ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित हुआ मन को रोके, और मुझमें चित्त लगाये हुए मेरे परायण युक्त होकर अर्थात् निजात्मध्यान में चित्त लगाकर (वा समाधिस्थ होकर) बैठे।

(घ) इस प्रकार रोके हुए मनवाला योगी नित्य योगाभ्यास करता हुआ उस शांति को पाता है जिसका अंत निर्वाण है, और जो मुझ सबके आत्मस्वरूप में ही स्थित है, अर्थात् जो मेरी ही वास्तविक स्थिति वा स्वरूप है।

(६) अब योगाभ्यासी के लिए भगवान् आहार आदि का नियम कहते हैं—

(क) हे अर्जुन ! यह ध्यान रहे कि बहुत खानेवाले, नितांत न खानेवाले, ऐसे ही अति सोनेवाले और अति जागनेवाले को योग सिद्ध नहीं होता।

(ख) बल्कि जिसका खाना-पीना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, और सोना-जागना, अर्थात् आहार-विहार, व्यवहार और आचार, सब युक्त (नियमित

(क) अपने आपको अपने पूर्ण वश में किये हुए (जितात्मा) और प्रशांत चित्त (योगारूढ़) पुरुष का अपना आप (अंतःकरण) शीतोष्ण, सुख-दुःख और मानापमान आदि द्वंद्वों में नित्य समाहित (शांत, स्थिर वा युक्त) रहता है।

(ख) और इसीलिए ज्ञानविज्ञान से तृप्तात्मा, कूटस्थ (निर्विकार), इंद्रिय-जित और ढेला-पत्थर तथा सोना को एक समान समझता हुआ योगारूढ़ पुरुष पूर्ण युक्त कहलाता है।

(ग) और मिट्टी के ढेले इत्यादि जड़ पदार्थों को एक समान समझना इतना कठिन नहीं जितना कि चेतन पदार्थों में सम भाव रखना कठिन है, इसलिए सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बंधुओं और पापियों में भी समबुद्धि रखनेवाला योगारूढ़ पुरुष विशेष करके युक्त वा श्रेष्ठ होता है।

(५) योगारूढ़ पुरुष की इस प्रकार युक्त और युक्ततम अवस्था को दर्शाकर अब भगवान् इस अवस्था की प्राप्ति का साधन सहित अंगों के सविस्तर वर्णन करते हैं—

(क) योगी अर्थात् योगारूढ़ पुरुष को चाहिए कि आशापरिग्रह से रहित तथा यतचित्तात्मा होकर अकेले एकांतस्थान में बैठकर वह अपने आपको निरंतर आत्मध्यान में युक्त करे।

(ख) शुद्ध पवित्र स्थान न अति ऊँचा और न अति नीचा हो, वहाँ पर न हिलने-जुलनेवाला आसन जमाकर उस पर कुशा, चर्म और वस्त्र बिछाये।

फिर उस आसन पर बैठकर चित्त और इंद्रियों की क्रियाओं को स्वाधीन करता हुआ मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि-निमित्त ध्यानयोग में युक्त होवे, अर्थात् योगाभ्यास करे।

(ग) और अभ्यास के समय धड़, सिर, गर्दन को सीधा अडोल धारण करे, और वैसे ही दृढ़ स्थिर होकर केवल अपनी नासिका के अग्रभाग को देखे, इसके अतिरिक्त किसी अन्य ओर न देखे। फिर प्रशांतात्मा, भयरहित, ब्रह्मचारी के व्रत में स्थित हुआ मन को रोके, और मुझमें चित्त लगाये हुए मेरे परायण युक्त होकर अर्थात् निजात्मध्यान में चित्त लगाकर (वा समाधिस्थ होकर) बैठे।

(घ) इस प्रकार रोके हुए मनवाला योगी नित्य योगाभ्यास करता हुआ उस शांति को पाता है जिसका अंत निर्वाण है, और जो मुझ सबके आत्मस्वरूप में ही स्थित है, अर्थात् जो मेरी ही वास्तविक स्थिति वा स्वरूप है।

(६) अब योगाभ्यासी के लिए भगवान् आहार आदि का नियम कहते हैं—

(क) हे अर्जुन ! यह ध्यान रहे कि बहुत खानेवाले, नितांत न खानेवाले, ऐसे ही अति सोनेवाले और अति जागनेवाले को योग सिद्ध नहीं होता।

(ख) बल्कि जिसका खाना-पीना, चलना-फिरना, उठना-बैठना, और सोना-जागना, अर्थात् आहार-विहार, व्यवहार और आचार, सब युक्त(नियमित

वा ठीक) होते हैं, उसी को दुःखों का नाशक योग प्राप्त होता है, अथवा उसी का योग दुःखों का नाश करनेवाला सिद्ध होता है, अन्य का नहीं।

(७) कब उक्त योग सिद्ध होता है, इस आकांक्षा पर भगवान् अब उस सिद्ध अवस्था का लक्षण कहते हैं —

(क) जब पूर्ण रुका हुआ चित्त आत्मा में (वा अपने आपमें) ही ठहरता है, तब सारी कामनाओं से निःस्पृह हुआ योगारूढ़ युक्त कहलाता है।

(ख) जिस (योगारूढ़) का चित्त ठीक निरुद्ध है, और जो आत्मा के ध्यान में पूर्ण युक्त है, उस (चित्त) की उपमा उस दीपक के समान समझी जाती है कि जो वायुरहित स्थान में पूर्ण अडोल स्थित होता है।

(ग) जिस काल में योगाभ्यास से निरुद्ध चित्त उपशम को प्राप्त होता है; जिस समय आत्मा से आत्मा को देखता हुआ वह आत्मा में ही संतुष्ट (मग्न) होता है; जब इंद्रियों से परे और बुद्धिगम्य अत्यंत सुख को वह जानता (वा अनुभव करता) है; और जिस सुख में स्थित हुआ वह तत्त्व से नहीं हिलता (वा डोलता) है; जिस सुख को पाकर वह उसकी अपेक्षा और किसी लाभ को उससे अधिक नहीं मानता; और जिसमें स्थित हुआ वह भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता; उस दुःख के संबंध के वियोग को योग समझना चाहिए। और

(घ) इस योग का आचरण न उकताये मन से अर्थात् पूर्ण साहस के साथ निश्चयपूर्वक करना चाहिए।

(८) इस योग के आचरण की विधि को भगवान् अब सविस्तर सहित फल के कहते हैं—

(क) संकल्प-जन्य सारी की सारी कामनाओं को संपूर्ण त्यागकर, मन से ही इंद्रियों के समूह को सब ओर से रोककर, धैर्ययुक्त बुद्धि से योगी धीरे-धीरे उपशम को प्राप्त होवे। इस प्रकार उपशमरूप निरोध को प्राप्त होकर फिर मन को आत्मा में स्थित करके कुछ भी चिंतन न करे।

(ख) जहाँ-जहाँ (या जिधर-जिधर) यह चंचल और अस्थिर मन बाहर जाय, वहाँ-वहाँ से इसे रोककर आत्मा के ही स्वाधीन (ध्यान में युक्त) करे।

(ग) इस प्रकार शांत मन, शांत रजोगुण स्वभाव, निष्पाप और ब्रह्मभूत होने पर योगी को निःसंदेह उत्तम सुख मिलता है।

(घ) इस रीति से निरंतर योगाभ्यास करनेवाला योगी निष्पाप हुआ ब्रह्म से स्पर्श करनेवाल (अथवा ब्रह्म-संयोग अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार से प्राप्त होनेवाले) अत्यंत सुख को आनंद से भोगता है।

(ङ) ऐसा योगयुक्त पुरुष सर्वत्र समदृष्टि हुआ सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को स्थित देखता है।

(च) इस प्रकार जो मुझ सच्चिदानंद को सर्वत्र, और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता (वा गुम होता), और न वह मुझसे ही कभी बिछुड़ता (वा दूर होता) है।

(छ) इस प्रकार एकता में स्थित होकर, अर्थात् सर्व-

भूतात्मैक्य-बुद्धि को मन में रखकर, जो योगी मुझ सब भूतों में स्थित को भजता (सेवा वा प्रीति करता) है, वह सर्वप्रकार से वर्तता हुआ भी वास्तव में मुझमें ही वर्तता (रहता-सहता वा बूदोबाश करता) होता है।

(ज) इस प्रकार एकता में स्थित होकर सर्वथा मुझमें वर्तते रहने से जो सबके सुख वा दुःख को ठीक अपना ही सुख-दुःख करके समझता है, अर्थात् जिसे औरों का सुख-दुःख ठीक अपना ही करके भान होता है, वह परम (पूरा-पूरा, उत्कृष्ट, वा सर्वोपरि श्रेष्ठ) योगी माना गया है।

(९) उक्त योगाभ्यास-विधि तथा फल को अति दुष्कर वा दुष्प्राप्य समझकर अर्जुन अब भगवान् से ऐसे पूछता है—

(क) हे भगवन् ! यह जो आपने उक्त साम्य रूप से अर्थात् साम्य बुद्धि से प्राप्त होनेवाला योग वर्णन किया है। मैं नहीं देखता हूँ कि मन की चंचलता के कारण इसकी चिरकाल तक स्थिति रह सके।

(ख) हे कृष्णजी ! मन चूँकि चंचल, प्रमाथी, बलवान् और दृढ़ है, इसलिए मैं इसका रोकना वायु के समान अर्थात् वायु के रोकने के समान अथवा वायु की गठरी बाँधने के समान, अति कठिन देखता हूँ।

(१०) अर्जुन के इस प्रश्न पर भगवान् अब उत्तर देते हैं—

(क) हे अर्जुन ! मन निःसंदेह चंचल और दुर्निग्रह (दुःख से रुकनेवाला) है, परंतु अभ्यास और वैराग्य से रोका जा सकता है।

(ख) जिसका अंतःकरण वश में नहीं है, मेरे ख़्याल में

तो ऐसे पुरुष को उक्त साम्य-बुद्धिरूप योग की प्राप्ति अति कठिन वा असंभव सी है। पर हाँ, जिसका अंतःकरण अपने वश में है, उसके लिए प्रयत्न करते रहने पर उपाय से (इस योग का) पा लेना संभव है।

(११) भगवान् के इस उत्तर पर अर्जुन पुनः प्रश्न करता है——

(क) हे भगवन्! श्रद्धावान् तो हो, पर पूरा प्रयत्न वा संयम के न होने के कारण जिसका मन इस समता रूप योग से विचलित हो गया (या डुल गया) हो, तो ऐसा पुरुष योगसिद्धि को न पाकर, फिर किस गति को प्राप्त होता है?

(ख) हे भगवन्! वह ब्रह्म के मार्ग में भूला हुआ वा मोहग्रस्त पुरुष क्या छिन्न-भिन्न बादल के समान निराश्रय हुआ उभय भ्रष्ट होकर नितांत नाश को तो प्राप्त नहीं हो जाता?

(१२) अर्जुन के इस संशय का भगवान् अब उत्तर देते हैं——

(क) हे अर्जुन! न तो इस लोक में और न परलोक में ऐसे योगभ्रष्ट पुरुष का नाश होता है। हे प्यारे! भला करनेवाला कोई भी पुरुष कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

(ख) पुण्य करनेवालों के लोकों को प्राप्त होकर वहाँ बहुत वर्षों तक रहकर वह योगभ्रष्ट पुरुष फिर शुद्धात्मा श्रीमानों के घर जन्म लेता है।

(ग) अथवा वह सीधा बुद्धिमान् योगियों के घर जन्म लेता है। ऐसा जन्म भी संसार में अति दुर्लभ है।

(घ) वहाँ जन्म लेकर फिर वह पूर्व जन्म में अभ्यास की हुई बुद्धि (विचार वा संस्कार) को पाता है, और उसे पाकर फिर वह उससे प्रेरित होकर पहले से भी अधिक यत्न योगसिद्धि के लिए करता है।

(ङ) पूर्व अभ्यास से विवश होकर वह योग-मार्ग में लगता है। इसलिए योगभ्रष्ट का तो क्या ही कहना है बल्कि योग का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म (वेद या वैदिक कर्मकांड) को टप जाता अर्थात् उससे परे वर्तता है।

(च) इस प्रकार जन्म-जन्मांतर के पूर्वाभ्यास से विवश होकर जब योगभ्रष्ट पुरुष पहले से भी अधिक प्रयत्न करता है, तो वह पापों से शुद्ध होकर सिद्धि को प्राप्त होता परमगति को पाता है।

(१२) इस परमगति को प्राप्त होनेवाले सिद्ध योगी का भगवान अब महत्त्व वर्णन करते हैं—

(क) हे अर्जुन! ऐसा परमगति को प्राप्त होनेवाला योगी तपस्वियों, कर्मियों और ज्ञानियों से भी अधिक श्रेष्ठ माना जाता है। इसलिए तू उक्त योगी हो।

(ख) उक्त सब योगियों में भी मैं उसको सर्वोपरि युक्ततम मानता हूँ कि जो श्रद्धावान् होकर मुझ सच्चिदानंद-स्वरूप में स्थित मन से मुझे भजता अर्थात् ध्याता, सेवता वा प्रीति करता वा सर्वत्र अनुभव करता है।

इस प्रकार श्रीभगवान् के गाये हुए अर्थात् कहे हुए उपनिषद् में ब्रह्मविद्यांतर्गत योगशास्त्रविषयक, श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में, ध्यानयोग-नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

* * *